प्रेम-योग

3·5

वियोगी हरि

ॐ

प्रेम-योग

[मोहन-निवासकी प्रथम स्मृति]



वियोगी हरि

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९८६ से १९९१ तक ८,०००
सं० १९९३ तृतीय संस्करण ३,०००
सं० २००७ चतुर्थ संस्करण १०,०००
कुल २१,०००

मूल्य १॥) डेढ़ रुपया मात्र

पता–गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

विषय-सूची

पहला खण्ड

दूसरा खण्ड

श्रीहरिः

प्रेम-प्रस्तावना

मेरे प्यारे राम ! तेरी यह भी एक मरज़ी थी। तूने मुझे राज़ी करा ही लिया। जैसा जो कुछ बना, तेरी आज्ञाका पालन किया और करूँगा। यन्त्रके सारे पुर्ज़े यन्त्रीके हाथमें हैं ही। फिर यह कैसे हो सकता था कि मैं तेरी रज़ामें राज़ी न होता? पर कृपानिधान ! अब कभी ऐसी आज्ञा न देना, अनधिकार कार्य इन हाथोंसे न कराना। भला, प्रेमका तत्त्व मैं क्या समझूँ ? तेरे इश्क़के कूचेमें जिसने कभी भूलकर भी पैर नहीं रखा, जिसके हृदयमें आजतक तेरी चुभीली लगनकी हूक नहीं उठी, उसे तू आज्ञा देता है कि ला, प्रेमकी पीरकी एक तसबीर खींचकर दिखा ! तेरी आज्ञा, प्यारे, कैसे टालता ? लो, खींच दी है इश्क़की कसक-कहानी-की एक टेढ़ी-मेढ़ी तसबीर ! इधर-उधरसे कच्चे-पक्के रंग जुटाकर कुछ अण्ट-सण्ट लकीरें-सी खींच दी हैं। मेरे हृदयरमण राम ! तू भले ही मेरी इस भोंड़ी चित्रकारीपर रीझ जाय, पर कोई और चित्र-रसिक मुझे इसपर कभी दाद न देगा।

किसी भी बहाने सही, तेरी प्यारी याद तो आ गयी। इतना समय तो सफल हो गया, क्योंकि मैं समझता हूँ, कि—

शब वही शब है, दिन वही दिन है ;
जो तेरी यादमें गुज़र जाये।

मुश्किल है, प्यारे, तेरी अनोखी यादमें ज़िन्दगीका गुज़र जाना। और भी कठिन है तेरे प्रेमकी पीरमें तड़प-तड़पकर अपनेको क़ैदेहस्तीसे छुड़ा लेना। दुर्लभ है, प्रेम दुर्लभ है। लेन-देनके बाज़ारमें प्रेम मिलेगा कहाँ ! नाथ ! ये लोभी सौदागर प्रेमके नामपर न जाने आज यह क्या बेच रहे हैं ! यह क्या कमीना रोज़गार फैला रखा है इन लोगोंने ! यह सब अब देखा नहीं जाता। जी-रह-रहकर घबरा उठता है। कहाँ जाऊँ, कहाँ रहूँ, क्या करूँ ? हा !

मैं कहाँ रहूँ, मैं कहाँ बसूँ,
न यह मुझसे ख़ुश, न वो मुझसे ख़ुश।
मैं ज़मींको पीठका बोझ हूँ,
मैं फ़लकके दिलका ग़ुबार हूँ।

इसीलिये मैं आज ज़मीनकी पीठपरका भार हो रहा हूँ, कि मुझसे, मेरे प्यारे, तेरे पवित्र प्रेमकी विडम्बना अब देखी नहीं जाती। इन दूकानदारोंने विज्ञापन तो चिपका दिया है तेरे चोखे प्रेमका और बेच रहे हैं काम-वासनाका पालिश किया हुआ खोटा मोह! इस मोहिनी हाटमें, नाथ, तेरे सच्चे प्रेमकी आज खिल्लियाँ उड़ायी जा रही हैं! सच कहता हूँ, तेरी आज्ञासे जो मैंने यह चित्र खींचा है इसे इस बाज़ारमें कोई पूछेगा भी नहीं। तुझसे छिपा ही क्या है, तू देख तो रहा है, तेरे इस गुलाम चितेरेकी आज क्या हालत हो रही है। हाँ, सच तो है, प्यारे!

मेरा हाल क़ाबिलेदीद है
कि न आस है न उमीद है;
मेरी घुटके हसरतें मर गयीं,
मैं उन हसरतोंका मज़ार हूँ।

पर यह कुछ बुरा नहीं हुआ, अच्छा ही हुआ। क्या करता उन मनचली हसरतोंको लेकर। बला टली, जो वे घुट-घुटकर यों ही ख़त्म हो गयीं। अब सब ठीक है। न कोई अब मेरी ओर देखता ही है और न पूछता ही है। बस, अब एक ही हसरत बाकी रह गयी है—वह तुझे जीभर देखनेकी। तू मिल गया तो जग मिल गया।

मेरे प्यारे राम! मेरे दुलारे कृष्ण! दिखा दे न अपने प्रेमका वह अखण्ड नूर, जिससे हृदयकी कमल-कलियाँ खिल उठें। ये अधीर आँखें तेरे प्रेम-स्वरूपको, बस, उस प्रकाशमें एकटक देखती ही रह जायँ। रग-रगमें प्रीतिकी विद्युत्-धारा बहने लगे। काम-वासनाओंका आत्यन्तिक ध्वंस हो जाय। और, अनन्त मधुमय आकाशमें मेरे ये प्राणपक्षी विहार

करने लग जायँ। कैसा होगा तेरा वह परम प्रेम! कैसी होगी, प्यारे, तेरी वह मधुरा रति! यदि उस अनुपम रसास्वादनका तू मुझे तनिक भी अनुभव करा दे, तो फिर मेरा यह 'क़ाबिलेदीद हाल' न जाने क्या हो जाय! अरे, यह सब मैंने क्या बक डाला! यह प्रस्तावना चित्रकी हुई या चित्रकारकी? क्षमा करें मेरे सहृदय प्रिय पाठकगण। उस हृदयके हठीले रामसे, उस दिलके खेलाड़ी कृष्णसे जरा झगड़ना था, इसलिये कुछ बक-झक करनी पड़ी। क्या करूँ, भाई, आदतसे लाचार हूँ। मन स्थिर नहीं है। चित्त बड़ा चुलबुला है। कुछ करना चाहता हूँ, कुछ हो जाता है। इसीसे तो मैं प्रेम-जैसे विमल विषयपर कुछ कहनेका अधिकारी नहीं हूँ। यह तो एक बेगार-का काम किया है। उस लाड़ले खेलाड़ीकी मरजी! जो कराना चाहता है, वह जबरदस्ती बेगारमें करा लेता है। सनकी है न वह हठीला राम। मेरे हाथों प्रेमकी दुर्गति करा डाली। लो, इसीमें उस प्यारे खेलाड़ीको मज़ा आ गया।

हाँ, प्रेमकी यह दुर्गति नहीं है तो क्या है? कुछ भी हो, अनधिकार चेष्टाके महान् अपराधसे मैं अपनेको बरी समझता हूँ। मान लो, कि मैं कभी अपराधी ही ठहराया गया, तब भी मेरा कुछ बिगड़ता नहीं, क्योंकि मेरे इस अपराधका उत्तरदायी वही प्यारा न्यायाधीश है। अपने इस प्रेम-योग-को वह हज़रत ज़ब्त तो करेंगे नहीं। यदि ऐसा किया तो फिर वह ख़ुद ही फँसे! जो हो, मैं तो कर गुज़रा। 'प्रेम-योग' की यह एक अजीब-सी तसवीर खींचकर दुनियाके आगे आज रख दी है। अब जिस किसीसे उलझना या सुलझना होगा, प्रेमीजन उलझ-सुलझ लेंगे।

मेरे प्यारे कृष्ण! मेरा नाता तो एक तुझसे है। जगत्की आलोचना-प्रत्यालोचनासे मेरा कोई प्रयोजन नहीं। मेरा तो बस एक तू है—

है ख़ौफ़ अगर जीमें तो है तेरे ग़ज़बका;
औ, दिलमें भरोसा है तो है तेरे करमका।

बस, अब और क्या कहूँ!

मोहन-निवास,
पन्ना
पौष, सं० १९८६

वियोगी हरि

पहला खण्ड

प्यारे भाइयो,

तुम्हारे हाथोंमें अपने इस प्यारे प्रेम-योगको
मैं इसीलिये सौंप रहा हूँ कि,
'प्रेम ही परमात्मा है'
इस महान् सत्यका साक्षात्कार करते समय
तुम्हें यह कुछ योग दे सके।

सप्रेम
वियोगी हरि



अनन्त प्रेमार्णव

श्रीहरिः

प्रेम-योग

प्रेम

जाकों लहि कछु लहनकी चाह न हियमें होय।
जयति जगत-पावन-करन 'प्रेम' बरन यह दोय॥

—हरिश्चन्द्र

जय हो इन दो दिव्य वर्णोंकी ! जय हो इस अनिर्वचनीय प्रेमकी। जिसे पाकर सचमुच फिर किसी अन्य वस्तुके पानेकी लालसा इस अतृप्त हृदयमें नहीं रह जाती, जिस चाहसे इस लालची दिलकी सारी चाह सदाके लिये चली जाती है, उस जगत्पावन प्रेमकी जय हो, जय हो !

मेरी यह ढिठाई! मेरी ये अनाड़ी उँगलियाँ आज उस अव्यक्त प्रेमकी मधुर स्मृतिका एक सर्वाङ्गसुन्दर चित्र खींचनेको अधीर हो रही हैं! उसकी तसबीर ये कैसे उतार सकेंगी। किस चतुर चितेरेकी कलाने उस चित्रके खींचनेमें सफलता पायी है ?

लिखन बैठ जाकी सबी, गहि-गहि गरब गरूर।
भये न केते जगतके, चतुर चितेरे कूर॥

—बिहारी

या किस कविके शब्दोंने उसपर अपनी प्रतिभाका प्रकाश

बिखेरकर उसे रस-विभोर किया है ? प्रेमकी रचना कौन रचेगा और उसे कौन पढ़ेगा ! यह सब जानते हुए भी जी नहीं मानता, कुछ-न-कुछ कहनेको व्याकुल हो रहा है । यह निरा पागलपन नहीं तो फिर क्या है ?

प्रेमकी परिभाषा क्या है ? परिभाषा-परिभाषाएँ एक नहीं, अनेक हैं, पर वे सब हैं अधूरी ही । पूरी परिभाषा तो अबतक कहीं मिली नहीं—

उलटा-पलटी करहु निखिल जगकी सब भाषा ।
मिलहि न पै कहुँ एक प्रेम-पूरी-परिभाषा ॥

—सत्यनारायण

पूरी परिभाषा मिल ही कहाँ सकती है । वाणी या भाषाका विषय तो प्रेम है नहीं । वह तो एक अनुभवगम्य वस्तु है । सहृदय सत्यनारायणने कहा है कि प्रेम-स्वाद अवर्णनीय है, गूँगेका-सा गुड़ है—

जानत सब कछु प्रेम-स्वादु सुख बरनि न आवतु ।
जदपि परम बाचाल मूक बनि भाव बतावतु ॥
विद्या-बस तत्त्वनिके भेद-प्रभेद बताये ।
गूँगेकौ गुर खाय जगत बैठ्यौ सिर नाये ॥

ब्रह्म भी मन-वाणीसे परे है और प्रेम भी अनिर्वाच्य है । परमभागवत नारदने अपने 'भक्ति-सूत्र' में प्रेमकी अनिर्वचनीयताका समर्थन किया है । लिखा है—

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ।

तथैव—

मूकास्वादनवत् ।

तो फिर ब्रह्म और प्रेममें अन्तर ही क्या रहा ? कौन कहता

है कि इनमें अन्तर है ? अन्तरका लेश भी नहीं है, एक ही वस्तुके दो नाम हैं। रसिकवर रसखानिका प्रमाण लीजिये—

प्रेम हरी कौ रूप है, त्यौं हरि प्रेम-स्वरूप।
एक होय द्वै यों लसैं, ज्यों सूरज अरु धूप॥

इसपर सहृदय सत्यनारायणका समर्थन—

निरत बिचारन-जोग रुचत उपदेस यही उर।
परमेसुरमय प्रेम, प्रेममय नित परमेसुर॥

मीरसाहब भी यही बात कह रहे हैं—

तू न होवे तो नज़्म कुल उठ जाय।
सच्चे हैं शायराँ, ख़ुदा है इश्क़॥

इश्क़ ही ख़ुदा है। प्रेम ही परमात्मा है। इसमें सन्देह नहीं कि—

Love is God and God is Love.

प्रेम ही ईश्वर है और ईश्वर ही प्रेम है।

× × × ×

तदपि कहे बिन रहा न कोई।

फिर भी प्रेमियोंने प्रेमकी परिभाषाएँ—अधूरी ही सही—किसी-न-किसी रूपमें व्यक्त की हैं। कुछ-न-कुछ तारीफ़ तो इश्क़-की होनी ही चाहिये। प्रेमोन्मत्त नारदने प्रेमकी कुछ ऐसी परिभाषा भक्ति-सूत्रमें की है—

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्द्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्।

अर्थात्, प्रेमका रूप गुणोंसे रहित है, कामनाओंसे रहित है, प्रतिक्षण बढ़नेवाला है, एकरस है, अत्यन्त सूक्ष्म है और केवल अनुभवगम्य है।

बिल्कुल यही बात रसिकवर रसखानिने कही है—

बिनु गुन जोबन रूप धन, बिनु स्वारथ हित जानि ।
सुद्ध कामनातें रहित प्रेम सकल-रसखानि ॥
अति सूच्छम, कोमल अतिहि, अति पतरो अति दूर ।
प्रेम कठिन सबतें सदा, नित इकरस भरपूर ॥

अकारण, एकाङ्गी और एकरस अनुराग ही प्रामाणिक प्रेम है। ऐसा प्रेम स्वाभाविक, स्वार्थ-विरहित, निश्चल, रसपूर्ण और विशुद्ध होता है—

इक अंगी, बिनु कारनहिं, इकरस सदा समान ।
गनै प्रियहिं सर्वस्व जो सोई प्रेम प्रमान ॥
रसमय, स्वाभाविक, बिना स्वारथ, अचल, महान ।
सदा एकरस, सुद्ध सोइ, प्रेम अहै रसखान ॥

प्रेमको हम किस रसमें लें, किस भावमें गिनें? जैसे समुद्रमें लहरें उठती और उसीमें लय हो जाती हैं, वैसे ही प्रेममें सर्व रस तथा सर्व भाव तरङ्गित होते रहते हैं—

सर्वे रसाश्च भावाश्च तरङ्गा एव वारिधौ ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति यत्र स प्रेमसंज्ञकः ॥

कुछ समझमें नहीं आता कि इस अव्यक्त रस-भाव-कल्लोलको क्या नाम दिया जाय। प्रेमका समुद्र कैसा अगाध, कैसा असीम और कैसा अनुपमेय है!

प्रेम अगम, अनुपम, अमित, सागर सरिस बखान ।
जो आवत यहि ढिग बहुरि जात नहीं रसखान ॥

प्रेम-पयोधिसे लौटना कैसा! यहाँके डूबे हुए यहीं उछल-कूद करते रहेंगे—जायँगे कहाँ? वह 'इन्द्रावती'-प्रणेता प्रेमी नूरमुहम्मद क्या अच्छा कह गया है—

प्रेम-समुद्र अथाह है, बूड़े मिलै न अन्त।
तेहि समुद्रमें हौं परा, तीर न मिलत तुरन्त॥

× × × ×

करुणरसाचार्य महाकवि भवभूतिने प्रेमका चित्राङ्कन इस प्रकार किया है—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरया यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते॥

कविरत्न सत्यनारायणका भाषा-पद्यानुवाद—

सुख-दुखमें नित एक, हृदयकौ प्रिय बिराम-थल।
सब बिधिसों अनुकूल, बिसद लच्छनमय अबिचल॥
जासु सरसता सकै न हरि कबहूँ जरठाई।
ज्यों-ज्यों बाढ़त सघन सघन सुन्दर सुखदाई॥
जो अवसरपर संकोच तजि परवत-दृढ़, अनुराग-सत।
जग-दुर्लभ सज्जन-प्रेम अस बड़भागी कोऊ लहत॥

वास्तवमें, इस पराभूत परिश्रान्त हृदयका विश्रान्ति-स्थल एक प्रेम ही है। आत्माके अनुकूल केवल एक प्रेम ही है। आत्मा स्वतः प्रेमस्वरूप है। संसारमें अत्यन्त उज्ज्वल और अतिशय पवित्र प्रेम ही है। और सब अनित्य है, प्रेम ही नित्य है। ध्रुवके समान अचल है। उसे हम अजर-अमर क्यों न कहें। जो रसरूप है, आनन्दघन है, वही प्रेम परमात्मस्वरूप है। पर ऐसा विशुद्ध प्रेम यहाँ दुर्लभ है। कहाँ हैं उसके अनन्य अधिकारी यहाँ!

भवभूतिकी यह प्रेम-परिभाषा बड़ी सुन्दर है। कविने

प्रेमानुभव समझानेकी अच्छी चेष्टा की है और उसे इसमें सफलता भी मिली है। खासी विस्तृत परिभाषा है। पर इश्ककी दुनियामें कुछ ऐसे भी मस्त हो गये हैं, जो अपना प्रेमानुभव कहनेको जैसे-तैसे खड़े तो हुए, पर ठीक-ठीक कुछ कह न सके, यों ही कुछ कहकर रह गये। ग़ालिबको ही लीजिये। कहते हैं—

शायद इसीका नाम मुहब्बत है शेफ़ता,
एक आग-सी है दिलमें हमारे लगी हुई।

मालूम नहीं, यह क्या है। दिलमें आग-सी लगी हुई है। क्या इसी 'आग-सी लगने' का नाम ही लगन है? मुहब्बत शायद इसीको कहते होंगे। हम यह नहीं कहते कि दिलमें आग लगी है। आग तो नहीं है, पर कुछ आग-सी लगी है। न जाने, यह क्या बला है।

आनन्दघन भी कुछ ऐसी ही बात कह रहे हैं—

जबतें निहारे घनआनँद सुजान प्यारे,
तबतें अनोखी आगि लागि रही चाहकी।

उर्दू शायरीके उस्ताद मीर भी ग़ालिबकी ही तरह इश्क़से नावाक़िफ़ हैं? उन्होंने इश्ककी तारीफ़ यों की है—

हम तौरे इश्क़से तो वाक़िफ़ नहीं हैं, लेकिन
सीनेमें कोई जैसे दिलको मला करै है।

भोला-भाला मीर प्रेमका लक्षण भला क्या जाने। वह तो सिर्फ इतना ही जानता है, जैसे कोई अपने दिलको उसके सीनेमें मल रहा हो। क्या इसीको प्रेम कहते हैं?

ऐसा ही कुछ और—

इश्क़ो मुहब्बत क्या जानूँ, लेकिन इतना मैं जानूँ हूँ,
अन्दर-ही-अन्दर सीनेमें मेरे दिलको कोई खाता है।

शायद इस मधुमयी वेदनाका ही नाम प्रेम हो। कौन जाने क्या है। सब कुछ जान लेनेपर भी ये भोले-भाले ग़ालिब और मीर प्रेमके नामसे अपरिचित ही बने रहे। प्रेम है भी ऐसी चीज़।

× × × ×

भक्तिरसामृत-सिन्धुमें लिखा है—

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥

जिससे हृदय अतिशय कोमल हो जाता है, जिससे अत्यन्त ममता उत्पन्न होती है, उसी भावको बुद्धिमान् जन परम प्रेम कहते हैं। परमानुराग ही प्रेम है।

हृदय कोमल कैसे हो जाता है? प्रेमके लिये क्या कठिन है। अरे, वह तो पत्थरको भी पिघलाकर पानी कर देता है—

इश्क़ वह शै है, कि पत्थरको दममें आब करै।

पर हो वह प्रेम चाहसे लबालब भरा हुआ। वह प्रेम निरन्तर हो, नित्य-नूतन हो—

छिनहिं चढ़ै छिन उतरै, सो तो प्रेम न होय।
अघट प्रेम पिञ्जर बसै, प्रेम कहावै सोय॥

—कबीर

यही प्रेम पत्थरको मोम या पानी कर सकता है। इसीकी बदौलत बड़े-बड़े संगदिल मोमदिल होते देखे गये हैं। यही पहाड़ोंकी छातियोंसे झरने झरा रहा है और यही चन्द्रकान्त-मणियोंको द्रवित कर रहा है। अखिल विश्वमें प्रेमका ही अखण्ड साम्राज्य है। प्रेम 'अस्तित्व' है और उसका अभाव 'नास्तित्व'। प्रेमका साधक उसमान अपनी 'चित्रावली' में लिखता है—

अस्ति प्रेम उपजेउ चित आई, नास्ति सबै अब गई हेराई ॥

कहता है—विधाताने सर्वप्रथम अपनी सृष्टिमें प्रेम ही उत्पन्न किया और फिर उस प्रेमके ही निमित्त उस कलाकारने इस समस्त संसारकी रचना की। उस सिरजनहारने जब इस प्रेममय विश्व-दर्पणमें अपने 'प्रेमरूप' को देखा, तब उसे अपने आनन्दका अन्त न मिला। प्रेम-रस-ही-प्रेम-रस वहाँ लहरा रहा था—

आदि प्रेम विधिनै उपराजा। प्रेमहि लागि जगत सब साजा ॥
आपन रूप देखि सुख पावा। अपने हियें प्रेम उपजावा ॥

प्रेमयोगी मलिक मुहम्मद जायसीने भी विश्वमात्रमें प्रेमकी ही सर्वव्यापकता देखी है, अथवा विश्वकी व्यापकताको प्रेमकी संज्ञा दी है। कहता है—

तीन लोक चौदह खँड, सबै परैं मोहिं सूझि।
प्रेम छाड़ि नहिं लीन किछु, जौ देखा मन बूझि ॥

× × × ×

एक और परिभाषा मिली है। सुनिये—

दर्शने स्पर्शने वापि श्रवणे भाषणेऽपि वा।
यत्र द्रवत्यन्तरङ्गं स स्नेह इति कथ्यते ॥

देखने, छूने, सुनने या बोलनेमें जहाँ अन्तःकरण द्रवीभूत हो जाय, हृदय पसीज उठे, वहाँ समझ लो स्नेहका आविर्भाव हो गया। उस दर्शन-स्पर्शनमें, उस श्रवण-भाषणमें असीम, अनन्त अतृप्ति रहती है। या यों कहना चाहिये कि उस अनन्त अतृप्तिमें ही एक अनन्त तृप्ति भरी रहती है। कवि-कोकिल विद्यापतिका यह पद कितना भावपूर्ण और मधुर है—

जनम अवधि हम रूप निहारनु,
नयन ना तिरपित भैल ।
लाख-लाख युग हियाय राखनु,
तवू हिया जुड़न ना गैल ॥
बचन-अमिय अनुछन सुनलू,
श्रुति-पथ परश ना भैल।
कत मधुयामिनि रभसे गोड़ाइनु
ना बूझनु कै छन कैल ॥

जीवनभर उसका रूप देखा, पर नेत्र तृप्त न हुए—

हविसे दीद मिटी है न मिटेगी 'हसरत' ।
देखनेके लिए चाहे उन्हें जितना देखो ॥

लाखों युगोंतक उसे हृदयसे लगाये रहे, तो भी हृदय शीतल न हुआ। पल-पलपर उसका वचनामृत पीते रहे, पर ऐसा जान पड़ता है कि इन कानोंको उस सुधाका अभी स्पर्श भी नहीं हुआ। अरे, उस प्रेम-रसमें मैंने कितनी रातें बिता दीं पर आज-तक यह पता न चला कि कितने क्षण वह मधुमयी लीला होती रही। प्रेमकी यही तो रसमयी नित्य-नवीनता है—

सोइ पिरीति अनुराग बखानिबे,
तिल-तिल नूतन होय ।

—विद्यापति

× × × ×

किसीने प्रेमको पीयूष कहा है, तो किसीने हालाहल! कैसी विरोधभरी उपमाएँ हैं। एक कवि कहता है—

यह वह मिश्रीकी डली है,कि न इससे, बात करे,
संखिया खाकर मरे, पर इश्क़ ज़बाँपर न धरे ।

इस शेरमें इश्क़को संखियेसे भी ज़्यादा ज़हरीला बतलाया

है। माल्लम नहीं, कविका मतलब इश्क़ हक़ीक़ीसे है या इश्क़ मजाज़ीसे। प्रेम विष-तुल्य भले ही हो, पर वह मारक नहीं है। यदि मारक है तो मृत्युका मारक है। प्रेम-हालाहल आनन्दमय और मुक्तिप्रद है। उस विषपर न जाने कितनी सुधाएँ न्योछावर होनेको छटपटा रही हैं। वह अद्भुत अमृत है, विलक्षण विष है। प्रेमास्वादन गरम-गरम गन्ना चूसनेके समान है। मुँह तो जल रहा है, पर छोड़नेको मन नहीं करता। इस गरम गन्नाके चूसनेके भावमें, और *'संखिया खाकर मरे पर इश्क़ ज़बाँपर न धरे'* के बीचमें कितना महान् अन्तर है इसे प्रेमी ही समझ सकेंगे। देखा, प्रेम-प्रान्तमें विषवती और सुधावतीका कैसा सुन्दर सङ्गम हुआ है। इस स्वर्गीय सङ्गममें किसका मन अवगाहन करनेको अधीर न होता होगा?

नीचेकी पंक्तियोंमें इस प्रेम-हालाहलका भेद रहस्यवादी सहृदयवर जयशंकर 'प्रसाद' ने खूब खोला है--

तेरा प्रेम-हलाहल प्यारे, अब तो सुखसे पीते हैं।
विरह-सुधासे बचे हुए हैं, मरने को हम जीते हैं॥

हाँ, सच तो है--प्रेम-हालाहल संखियेकी तरह मारक नहीं है। पर वह मरणका मारक निःसन्देह है। सती-शिरोमणि सावित्रीके प्रेमने ही तो भगवान् यमको परास्त किया था। प्रेमका सामना मृत्यु नहीं कर सकती, कारण कि वह एक अनन्त जीवनका रूप है। जो जीवन है वही तो प्रेम है। प्रेम और जीवन वस्तुतः एक ही वस्तुके दो नाम हैं।

हाँ, 'अहन्ता' का हन्ता वह अवश्य है। उसे हम 'देहात्मवाद' का नाशक कह सकते हैं। जागते हुए अहंकारको सुलाने-

वाला और सोती हुई आत्माको जगानेवाला एक प्रेम ही है।

× × × ×

प्रेम ! केवल एक शब्दका यह कैसा बृहत् ग्रन्थ है। एक ही आँसूका कितना विशाल सागर है ! ओह ! एक हां दृष्टिमें सातवाँ स्वर्ग दिखायी दे रहा है ! एक ही आहने कैसा बवण्डर उठा दिया है ! एक ही स्पर्शमें यह विद्युत् ! एक क्षणमें ये लाखों युग ! इस महान् प्रेमको आशीर्वादात्मक कहें या सर्वनाशात्मक ? अहा ! इसीमें तो आनन्द और वेदनाका केन्द्रीकरण हुआ है। स्वयं कविके शब्दोंमें—

Love ! what a volume in a word !
An ocean in a tear !
A seventh heaven in a glance !
A whirlwind in a sigh !
The lightning in a touch
A millennium in a moment !
What concentrated joy or woe
In blessed or blighted Love !
—Tappei.

कैसा अद्भुत रहस्यवाद है ! प्रेमकी कैसी अनोखी परिभाषा है। एक-एक चित्र हृदयकी आँखोंमें खिंचता चला आ रहा है। यह बृहद् ग्रन्थ, यह विशाल वारिधि, यह सत्य-लोक, यह बवण्डर, यह विद्युत् और यह ब्रह्मयुग ! कैसा सुन्दर सामञ्जस्य हुआ है प्रेमके क्षितिजपर ! यह आनन्द और यह वेदना ! बलिहारी ! प्रेम कैसा महान् रहस्य है !

प्रेम-रत्नके प्रवीण पारखी कविवर देवने भी प्रेमको अपनी खास कसौटीपर कसा है। नीचेके पद्यमें उनकी प्रेम-परख देखिये—

जाके मद मात्यौ उमात्यौ न कहुँ कोई जहाँ,
बूड्यौ उछर्यौ न तर्‍यौ सोभा-सिन्धु सामुहै ;
पीवत ही जाहि कोई मर्‍यो सो अमर भयौ,
बौरान्यो जगत जान्यौ मान्यौ सुख-धामु है।
चखके चखक भरि चाखत हीं जाहि फिरि,
चाख्यौ न पियूख कछु ऐसो अभिरामु है ;
दम्पति-सरूप व्रज औतर्‍यौ अनूप सोई,
'देव' कियौ देखि प्रेम-रस प्रेम नामु है॥

आपने व्रज-राज और व्रज-रानीके नित्य-विहारको प्रेमका नाम दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि महाकवि देवकी यह प्रेम-परिभाषा अनूठी और अपूर्व है। अहा !

जाके मद मात्यौ उमात्यौ न कहुँ कोई जहाँ,
बूड्यौ उछर्यौ न तर्‍यौ सोभा-सिन्धु सामुहै।

प्रेमके सौन्दर्य-सिन्धुमें डूबा सो डूबा; अब उछलना कैसा !

डूबा प्रेम-सिन्धुका कोई हमने नहीं उछलते देखा।
—ललितकिशोरी

× × × ×

प्रेमकी पूर्ण परिभाषा लाख उपाय करो कहीं ढूँढ़े मिलेगी नहीं। बात यह है न कि प्रेमपुरीका सब कुछ अनोखा-ही-अनोखा है। वहाँ देखते ही बनता है, कहते नहीं बनता—

प्रेम-बात कछु कही न जाई। उलटी चाल तहाँ सब भाई॥
प्रेम-बात सुनि बौरा होई। तहाँ सयान रहै नहिं कोई॥
तन मन प्रान तिही छिन हारै। भली-बुरी कछुवै न विचारै॥
ऐसो प्रेम उपजिहै जबहीं। 'हित ध्रुव'बात बनैगी तबहीं॥
प्रेम कि छटा बहुत बिधि आही। समुझि लई जिन जैसी चाही॥
—ध्रुवदास

असल बात यह है, प्रेमके शर्करा-गिरिसे जिस रसज्ञ चींटी-को जितने कण मिलें, उसे उतने ही बहुत हैं। प्रेमियोंको अपूर्णतामें ही पूर्णताका आनन्द आ जाता है। प्रेम अपूर्ण होते हुए भी पूर्ण ही है।

अन्तमें, प्रेमकी अपूर्ण व्याख्यापर इस प्रेम-शून्य हृदयका भी यह एक अधूरा प्रलाप है—

पियारे, धन्य तिहारो प्रेम !
साँचेहुँ बिना प्रेम बसुधा पै झूठे नीरस नेम ॥
भर्यौ अगम सागर कहूँ, तहँ खेलति उमँगि हिलोर।
ता सँग झूलति झूलना कोइ नैन-रँगीली-कोर ॥
मानस मधि झरना झरत इक रस-रस रसिक रसाल।
मधु-समीर-आँगुरिन पै कोइ बिहरत मत्त मराल ॥
बिरह-कमल फूल्यौ कहूँ, चहुँ छायौ दरस-पराग।
बँध्यौ बावरो अलि अधर तहँ लहत सनेह-सुहाग ॥
धरी कहूँ इक आरसी अति अद्भुत अलख अनूप।
उझकि-उझकि झाँकत कोई तहँ धूपछाहँ कौ रूप ॥
अरी प्रेमकी पीर ! तूँ मचलति सहज सुभाय।
करि चख-पूतरि तोय को तब लाड़ लड़ावतु आय ॥
उठी उमँगि घन-घटा कहुँ, पै रही हियें घुमराय।
परति फुही अँखियानमें यह कैसी प्रेम-बलाय ॥
कहा करौं वा नगरकी कछु रीति कही नहिं जाय।
हेरत हिय-हीरा गयो यह हेरनि हाय हिराय ॥
इक मरजीवा मरमी बिना 'हरि' मरमु न समुझै कोय।
हिलग-तीरकी पीर बिनु कोइ कैसे मरमी होय ॥



मोह और प्रेम

प्रेम कैसा कलङ्कित हो गया है आज ! ग़रीब इश्क़पर कितनी बदनामी लाद दी गयी है ! एक महाशय कहते हैं—

Love is a blind guide, and those that follow him, too often lose their way.

अर्थात्, प्रेम एक अन्धा पथ-प्रदर्शक है। जो उसके पीछे-पीछे चलते हैं, वे प्रायः अपना निर्दिष्ट मार्ग भूल जाते हैं । आपने बेचारे प्रेमको गुमराह कर देनेवाला बताया है। एक साहब फरमाते हैं—

बुरी है, ऐ दाग़, राहे उलफ़त, ख़ुदा न ले जाये ऐसे रस्ते ।

ख़ुदा बचाये इस बरबादीके रास्तेसे। प्रेमका मार्ग बड़ा बुरा है। देखो न, मीरसाहब प्रेमकी आगमें जल-जलकर अन्तमें खाक ही तो हो गये हैं । कहते हैं—

आग थे इब्तिदाये इश्क़में हम,
अब जो हैं ख़ाक इन्तिहा है यह।

प्रेमके आरम्भमें हम आगकी भाँति जलते थे, पर अब क्या है, ख़ाक ! आज वह जोश नहीं है। प्रेममें शिथिलता आ गयी है। जान पड़ता है, यह प्रेमका अन्त है। जो बात तब थी, वह अब नहीं है।

क्या सचमुच ही प्रेम ऐसा है ? यदि हाँ, तो फिर कौन समझदार प्रेमी बनकर पथभ्रष्ट होना चाहेगा, आशिक होकर जलते-जलते ख़ाक बनना चाहेगा ? नहीं, प्रेम ऐसा नहीं है। प्रेम तो वह 'गाइड' है, जिसे लेकर भूले-भटके यात्री भी अपने इष्ट-स्थानपर पहुँच जाते

हैं। इश्क़ वह चीज़ है, जो निकम्मे-से-निकम्मेको भी संसारके काम-का बना देता है। प्रेमी ही सच्चा कर्मयोगी होता है। प्रेमकी आग आदि-में और अन्तमें एक-सी ही रहती है। न तो वह लगानेसे लगती है और न बुझानेसे बुझाते बनती है। सदा सुलगती ही रहती है। उस आगमें ख़ाक होना कैसा? प्रेम नहीं है, साहब, वह मोह है। वह सर्वनाशका स्वप्न देखनेवाला कामान्ध मोही है, प्रेमी नहीं। कहा है—

Go, go, you nothing love......a lover ! No,
The semblance you, and shadow of a lover.

अर्थात्, जाओ, जाओ, तुम प्रेम करना क्या जानो ! प्रेमी बनने चले हो! तुम प्रेमी नहीं हो सकते। प्रेमीकी सिर्फ़ एक नक़ल हो, एक छायामात्र हो !

× × × ×

मोह और प्रेमके लक्ष्यमें सामान्य और विशेषका अन्तर माना गया है। किसीके सुन्दर रूपपर चटसे मोहित होकर उसकी ओर व्याकुल हो दौड़ पड़ना मोह या लोभ है। किसी विशेष व्यक्ति या वस्तुको—दूसरोंकी दृष्टिमें चाहे वह बुरी ही हो—देखकर उसमें अनन्य भावसे आसक्त हो जाना या रम जाना प्रेम है। मोहमें बुद्धि व्यभिचारिणी रहती है और प्रेममें अव्यभिचारिणी। अतएव मोह दुःखरूप है और प्रेम आनन्दरूप। मोह अनित्य है और प्रेम नित्य।

प्रेममूर्ति अश्विनीकुमार दत्तने प्रेम और मोहके अन्तरपर नीचे कैसे विशद विचार व्यक्त किये हैं—

"जो प्रेम शरीरके साथ क्रीड़ा करता है वह प्रेम नहीं, मोह है। अस्थि, चर्म, मांस, रुधिर लेकर जहाँ कार-बार है वहाँ प्रेम

कहाँ ? × × × × × × सोच देखो, तुम अपने प्रेमास्पदके विषयमें विचारनेपर उसकी नाक, मुख, आँख आदिकी चिन्ता करते हो, या उसके आध्यात्मिक सौन्दर्य और नैतिक शक्ति एवं सामर्थ्यके विषयमें चिन्ता करते हो ? तुम देखो कि आज यदि वह प्यारा जगत्के मङ्गलके अर्थ, चिरदिनोंके लिये, तुमसे बिछुड़ जाय—वह तुम्हें अच्छा मालूम होगा, या जगत्के मङ्गलकी ओरसे मन हटाकर तुम्हारे वक्षःस्थलपर सिर रखकर सर्वदा तुम्हारे साथ प्रेम-कथा कहता रहे, यह अच्छा लगेगा ? यदि उसके शरीरको वक्षःस्थलपर रखनेकी ओर ही झुकाव अधिक है, तो समझो, 'प्रेम' नाम देकर तुमने मोहका आवाहन किया है, सुधा समझकर विष-पान किया है* ।"

मौलाना रूमने भी किसीकी सूरत और रंगपर मरनेको प्रेमका नाम नहीं दिया है । बकौले मौलाना, शकल-सूरतके बदलते ही कुछ ही दिनोंमें वह प्रेम नंगा साबित हो जायगा । जो कभी आग था वह खाक हो जायगा ।

कृष्ण-वियोगिनी राधा कहती हैं—

प्यारे आवें, मृदु वयन कहें, प्यारसे अंक लेवें;
ठंडे होवें नयन, दुख हो दूर, मैं मोद पाऊँ ।
ये भी हैं भाव हियतलके, और ये भाव भी हैं—
प्यारे जीवें, जगत-हित करें, गेह चाहे न आवें ।

—हरिऔध

पहले भावोंमें मोहका एक हलका-सा उन्माद है, पर दूसरे भावोंमें तो परम प्रेमका उज्ज्वलतम आदर्श आलोकित हो रहा है ।

---

* 'प्रेम'

कहीं भी रहें, प्यारे कृष्ण चिरंजीवी रहें। घर चाहे न आयें, जगत्का उपकार करते रहें। प्रेमकी कैसी पवित्र भावना है!

प्यारे जीवें, जगत-हित करें, गेह चाहे न आवें।

सच्चा प्रेमी तो अपने प्रेम-पात्रके पत्रमें यह लिखेगा कि—

तुम यहाँ सुध लो कि न लो कभी,
उचित उत्तर दो कि न दो कभी।
पर यही कहते हम हैं अहो!
तुम सदैव सहर्ष सुखी रहो।

—मैथिलीशरण गुप्त

हमारा प्रेम-पात्र भी हमपर प्रेम करे, हमें छोड़ वह और किसीपर प्रेम न करे आदि क्षुद्र भावनाएँ कल्याणकारी प्रेमकी नहीं, नाशकारी मोहकी हैं। भला यह भी कोई प्रेम है!

उन्हें भी जोशे उल्फ़त हो तो लुत्फ़ उट्ठे मुहब्बतका,
हमीं दिन-रात अगर तड़पे तो फिर इसमें मज़ा क्या है?

उसके प्रेम न करनेपर यदि हमारे प्रेममें कुछ कमी आ जाती है, यदि हम व्याकुल हो जाते हैं तो न हम प्रेमी हैं और न हमारा वह प्रेम, प्रेम है। यदि हमारा यह भाव है कि—

ग़ैर लें महफ़िलमें बोसे जामके,
हम रहें यूँ तिश्ना लब पैग़ामके।

यानी, तुम्हारी महफ़िलमें दूसरे लोग तो मजेसे शराबके प्याले ढालें और हम बात करनेके लिये भी प्यासे ही बने रहें, तो हमें समझ लेना चाहिये कि हम प्रेमसे अभी कोसों दूर हैं, प्रेम-पयोधिके

हम मीन नहीं—मोह-कूपके मूढ़ मण्डूक हैं। यदि हम भी ग़ालिबके साथ अपने प्रेमास्पदसे यह कहा करते हैं कि—

क़हर हो या बला हो, या जो कुछ हो—
काश कि तुम मेरे लिये होते।

तो हम प्रेमी होनेका दावा शायद मरतेदम भी न कर सकेंगे। 'मगर तुम होते सिर्फ मेरे लिये ही, दूसरोंके न होते, मेरे ही सब कुछ होते'—इस लोभ-लालसाके और *'प्यारे जीवें, जगत-हित करें, गेह चाहे न आवें'*—इस स्वर्गीय भावनाके बीचमें कितना बड़ा अन्तर है! फिर भी हम मोहको प्रेमके स्थानपर बिठाना चाहते हैं! *किमाश्चर्यमतः परम्!*

भला, देखो तो भाई, प्रेमी कभी ऐसी शिकायत करेगा—

हमको उनसे वफ़ाकी है उम्मेद,
जो नहीं जानते वफ़ा क्या है!

अरे, क्यों प्रेम-मणिके मोलपर मोहके काँचको बेच रहे हो? प्रेमियोंके हृदयमें यह क्षुद्र भावना नहीं हुआ करती कि हम उनसे प्रेम चाहते हैं, जो नहीं जानते कि प्रेम क्या है?

अथवा, सच्चे प्रेमीकी यह शिकायत नहीं हुआ करती कि—

गिला मैं जिससे करूँ तेरी बेवफ़ाईका,
जहाँमें नाम न ले फिर वह आशनाईका।

—मीर

प्रेमीकी भव्य भावना तो भाई, यह है—

मेरी प्रीति होय नन्द-नन्दन सों आठों याम,
मोसों जनि प्रीति होय नन्दके किसोरकी।

कहाँ तो यह और कहाँ वह कि—'*जो नहीं जानते वफ़ा क्या है !*' कौड़ी-मोहरका फ़र्क है या नहीं ? फिर क्यों न अपने प्रेम-पात्रसे वफ़ाकी उम्मेद रखनेवाले नक़ली प्रेमी बरबादीकी आगमें जल-कर ख़ाक हो जायँ।

× × × ×

मीरसाहबने एक शेरमें वहाँकी कुछ बातें बयान की हैं, जहाँ वे स्वरचित प्रेम-संसारका मधुर स्वप्न देख रहे हैं। कहते हैं—

एक सिसकता है, एक मरता है;
हर तरफ़ ज़ुल्म हो रहा है यहाँ।

इसी तरह आपको अपने शहरेइश्क़के भी आस-पास क़ब्र-ही-क़ब्र देख पड़ती है—

सुना जाता है शहरेइश्क़के गिर्द,
मज़ारें-ही-मज़ारें हो गयी हैं।

जहाँ '*अब जो हैं ख़ाक इन्तिहा है यह*' की बात है, वहाँ और क्या देखेंगे, मज़ारें ही देख पड़ेंगी। जनाव मीरसाहब, ख़ता माफ़ हो, जिसे आप इश्क़की दुनिया कहते हैं और जहाँ सिसकना, मरना या हर तरफ़से ज़ुल्मका होना बयान कर रहे हैं, वहाँ प्रेम-संसार नहीं है, मोह-संसार है। प्रेमके नगरमें क़ब्रें कहाँ देखनेको मिलेंगी। जिसका हृदय प्रेममें विभोर हो गया, वह कभी मरनेवाला नहीं—

जाना जेहिक प्रेममहँ हीया। मरै न कबहूँ सो मरजीया॥

प्रेममें मरण कैसा ? प्रेम तो अनन्त जीवनका नाम है—

Love and life are words with a similar meaning.

अर्थात्, प्रेम और जीवन एक ही अर्थके द्योतक शब्द हैं। प्रेम-नगरका क्या पूछते हो ! धन्य वह देश !

हम वासी वा देशके, जहँ बारह मास बिलास।
प्रेम झिरै, बिगसै कमल तेज-पुञ्ज परकास॥

परम प्रकाशरूप है वह देश। वहाँ जीवन-ही-जीवन है—

प्रेमकी झिलमिल है नगरी !

अखिल अण्ड ब्रह्माण्ड परे, सब लोकनतें अगरी॥
अतिसै चित्र-विचित्र अलौकिक, सोभा चहुँ बगरी।
नहिं तहँ चन्द न सूरज, तौहूँ जागति जगमगरी॥
रसकी भूमि, नीरहू रसकौ, रसमय है सिगरी।
भर्यौ रहतु रस सदा एकरस, पिय-रसकी गगरी॥

कौन अक्लका दुश्मन उसे मुर्दोंका शहर कहेगा ?

× × × ×

प्रेम-सरोवरमें विहार क्यों नहीं करते, प्यारे पथिको ! क्यों व्यर्थ मोहके कीचड़में लथपथ हो रहे हो ? क्यों एक भिक्षुककी भाँति अपने प्रेमास्पदसे निरन्तर कुछ-न-कुछ माँगते रहते हो ? प्रेमियो ! तुम राजाधिराजकी भाँति रहो, भिखारीकी तरह नहीं। तुम तो देनेमें ही मस्त रहो, लेनेके पीछे मत पड़ो। अपने प्रियके हृदय-पात्रमें अपनी आत्मीयताका दान करते जाओ। तुम्हारे उदात्त आत्म-दानसे उसके सौन्दर्यमें वृद्धि होगी, उसकी अनुरक्तिपर प्रकाश पड़ेगा और उसके प्रेमपूर्ण मानसमें आनन्द-लहरी लहराने लगेगी। पर मित्रो ! तुम

तो वासनाको ही उपासना समझ बैठे हो ! याद रखो, यह नाशकारी मोह है, कल्याणकारी प्रेम नहीं । महामना हेनरी वान डाइकने क्या अच्छा लिखा है—

Love is not getting, but giving; not a wild dream of pleasure and a madness of desire—oh, no, love is not that. It is goodness and peace and pure living; yes, love is that; and it is the best thing in the world and the thing that lives longest.

अर्थात्, प्रेम आदान नहीं, किन्तु प्रदान है । वह न तो भोग-विलासका सम्मोहक स्वप्न है और न वासनाओंका उन्माद । यह सब प्रेम नहीं हो सकता । भलाई, शान्ति और सदाचारिताको प्रेम कहते हैं । इन सद्‌गुणोंमें प्रेम ही निवास करता है । संसारमें इस प्रकारका प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ और चिरस्थायी वस्तु है ।

सारांश, मोह वासना-प्रधान होता है और प्रेम त्याग-प्रधान । मोह क्षणिक होता है और प्रेम चिरस्थायी । मोह पुराना पड़ जाता है, पर प्रेम नित्य-नवीन ही बना रहता है । जिस प्रेमसे हम ऊँचे नहीं उठ सकते वह प्रेम, प्रेम नहीं, उन्मादकारी मोह है ।

× × × ×

अपने प्रेम-पात्रको केवल अपने ही सुख और हितका साधन बना बैठोगे तो प्रेमका आनन्द तुम कदापि न पा सकोगे । अपने प्रेम-पात्रके द्वारा लोक-हित होने दो । उसे अपनी आँखोंकी ओट करते हुए तुम्हें कष्ट अवश्य होगा, तुम यह कभी न चाहोगे कि तुम्हारा वह अभिन्नहृदय प्रिय मित्र क्षणमात्रको भी तुमसे अलग

हो जाय, पर तुम्हें पवित्र प्रेमकी साधना करते हुए मोहका कठिन पाश काटना ही होगा। नीचेके प्रसङ्ग मोह और प्रेमको अधिक स्पष्ट कर देंगे। रणाङ्गणको जाते हुए चित्तौरवीर कुमार बादलकी माता उससे कहती हैं—

जबही आइ चढ़ै दल ठटा। दीखत जैसि गगन घन-घटा॥
चमकहिं खडग जो बीजु समाना। घुमरहिं गल गाजहिं नीसाना॥
बरसहिं सेल बान घनघोरा। धीरज धीर न बाँधिहि तोरा॥
जहाँ दल-पती दलि मरहिं, तहाँ तोर का काज?
आजु गवन तोर आवै, बैठि मानु सुख राज॥

—जायसी

माताके वात्सल्य-भाव-प्लुत हृदयको देखते हुए यद्यपि ऊपरकी पङ्क्तियाँ एक प्रकारसे मोहके अन्तर्गत आती नहीं हैं तथापि मोहकी एक अस्पष्ट छाया उनपर पड़ती अवश्य है। उस मोह-ममताका कारण ही रणोद्यत बादलको माताकी आज्ञा प्राप्त नहीं करा सकता।

ऐसा ही अवसर एक दिन राम-चरणानुगामी लक्ष्मणके सामने आया था। पर उनकी माता साध्वी सुमित्राने जिन प्रेमपूर्ण शब्दोंसे अपने हृदयाधार वत्सको वन जानेकी आज्ञा दे दी, वे आज भी भावुकों-के हृदयपर ज्यों-के-त्यों अङ्कित बने हुए हैं। अपने प्राणप्रिय लालसे आप कहती हैं—

अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू॥
जो पै सीय रामु बन जाहीं। अवध तुम्हार काज कछु नाहीं॥
तुम्ह कहँ बन सब भाँति सुपासू। सँग पितु मातु राम सिय जासू॥

—तुलसी

क्या बादलकी माताकी अपेक्षा लक्ष्मणकी माता कुछ कम स्नेहमयी थीं? वात्सल्य-रस-धाराका वेग सुमित्राके हृदयमें क्या अपेक्षाकृत कुछ मन्द था? नहीं, कदापि नहीं। ऐसी कौन पाषाण-हृदया माता होगी, जो अपने लालको अपनी आँखोंकी ओट करना चाहेगी? बात यह है कि सुमित्रा अपने मोहमूलक ममत्वको कर्तव्य-पूर्ण प्रेमकी बलि-वेदीपर चढ़ा चुकी थीं। इसीसे वह अपने स्नेह-भाजनसे, 'बैठि मातु सुख राज' न कहकर यह कहती हैं—

तुम्ह कहँ बन सब भाँति सुपासू। सँग पितु मातु रामसिय जासू॥

एक अभी कलकी बात है। उस दिनका वह स्वर्गीय दृश्य था। जेलमें बन्दी पुत्रसे माताकी अन्तिम भेंट थी। उसे देखकर जेलके कर्मचारी भी दंग रह गये थे। पुत्र माँके पैरोंपर सिर रखकर रो रहा था। पर जननीने अपने हृदयको पत्थरसे दबाकर जो उत्तर दिया वह भुलाया नहीं जा सकता। बोली—'मैं तो समझती थी, तुमने अपनेपर विजय पायी है; किन्तु यहाँ तो तुम्हारी कुछ और ही दशा है। जीवनपर्यन्त देशके लिये आँसू बहाकर अब अन्तिम समय तुम मेरे लिये रोने बैठे हो। इस कायरतासे अब क्या होगा? तुम्हें वीरकी भाँति हँसते हुए प्राण देते देखकर मैं अपने आपको धन्य समझूँगी। मुझे गर्व है कि इस गये-बीते ज़मानेमें मेरा पुत्र देशकी वेदीपर प्राण दे रहा है। मेरा काम तो तुम्हें पालकर केवल बड़ा करना था, इसके बाद तुम देशकी चीज थे और उसीके काम आ गये। मुझे इसमें तनिक भी दुःख नहीं है।'

'आजु गवन तोर आवै, बैठि मातु सुख राज' और इन वीरोद्गारोंमें कितना भारी अन्तर है। बात यह है कि वह मोह है और यह प्रेम है।

मोह और प्रेमका एक दृश्य और देख लीजिये। कुमार सिद्धार्थ वासनात्मक मोहको लात मारकर प्रेम-साम्राज्यमें पदार्पण करते हुए अपनी प्राण-प्रिया यशोधरासे कहते हैं—

अंक बीच बसि कबहुँ-कबहुँ, हे प्रिये! तिहारे,
अस्त होत रवि ओर रहौं निरखत मन मारे।
अरुण प्रतीची ओर जान हित छटपटात मन,
सोचौं कैसे अस्ताचलके बसनहार जन।
ह्वै हैं जगमें परे न जाने केते प्रानी,
हमैं चाहिए प्रेम करन तिनसों हित ठानी।
परति व्यथा मोहि जानि आज ऐसी कछु भारी,
सकत न तव मृदु अधर जाहि चुम्बनसों टारी।

—रामचन्द्र शुक्ल

प्रिये! अब मुझे तुम्हारे प्रणय-चुम्बन और प्रगाढ़ालिङ्गनका क्षुद्र मोह त्यागना ही होगा, कारण कि मेरे हृदयमें अज्ञात प्राणिमात्रसे प्रेम करनेकी जो प्रचण्ड अग्नि जल रही है उसे यह चुम्बन और आलिङ्गन किसी प्रकार शान्त न कर सकेगा। प्रिये! आज मैं अपने अन्तस्तलमें कुछ ऐसा सुन रहा हूँ—

भरमत हैं भव-चक्र बीच जड़ अन्ध जीव ये सारे,
उठौ-उठौ, माया-सुत! बनिहै नाहिं बिना उद्धारे।
छाँड़ौ प्रेम-जाल प्रेमिन-हित, दुख मनमें अब लाओ,
वैभव तजौ, विषाद विलोकौ, औ निस्तार बताओ॥

—रामचन्द्र शुक्ल



एकाङ्गी प्रेम

दूसरी ओरसे भले ही प्रेमका लेश भी न हो, पर इस ओरसे सच्चे प्रेमीके प्रेममें कभी कमी आनेकी नहीं। उसे इसकी खबर भी नहीं कि उसका प्रेमपात्र प्रेम करना जानता है या नहीं। उसे तो अपने ही प्रेमसे फुर्सत नहीं। वह तो बस एक प्रेम करना ही जानता है। वह प्रेमका प्रेमी है, प्रेमका व्यापारी नहीं। लाभ-हानि सोचे बिना ही वह अपने प्रेमपात्रको हृदयका अतुलित धन दे रहा है। प्रेम करना उसने अपना स्वभाव बना लिया है। इसकी उसे ज़रा भी परवा नहीं कि उसके प्रेमका कोई आदर करता है या निरादर। उसे अपने प्यारेकी ही याद रहती है, उसकी निठुरताकी नहीं। वह उसे देना-ही-देना जानता है, लेना नहीं। उसपर कितना ही ज़ोर-ज़ुल्म किया जाय, उसका प्रेम-धन कितना ही ठुकराया जाय, पर वह अपने भावमें कमी न आने देगा। उसका प्रेम-भाव तो दिन-पर-दिन बढ़ेगा। जितना ही वह सताया जायगा, उतना ही उसका प्रेम बढ़ेगा——

जलद जनम भरि सुरति बिसारउ। जाचत जल पबि पाहन डारउ॥
चातक रटनि घटें घटि जाई। बढ़ें प्रेम सब भाँति भलाई॥
कनकहि बान चढ़इ जिमि दाहे। तिमि प्रियतम पद नेम निबाहे॥

——तुलसी

भले ही निठुर मेघ जीवनभर पपीहेकी याद भुलाये रहे और जल माँगनेपर उस बेचारेपर वज्र और पत्थरोंकी वर्षा किया करे, प्यारे जलदका नाम रटते-रटते उस चातककी चाहभरी रटना भी चाहे घट जाय, पर उसका प्रेम इन सब बातोंसे घटनेवाला नहीं; वह तो बढ़ेगा

और इसीमें उसकी सराहना भी है। जैसे आगमें तपानेसे सोनेकी चमक और भी अधिक बढ़ जाती है, वैसे ही अनादर और अत्याचारोंके होते हुए भी प्रियतमके चरणोंमें अपना भाव निबाहते जानेसे प्रेम और भी पुष्ट और पवित्र हो जाता है।

पपीहेका एकाङ्गी प्रेम देखो, कितना ऊँचा है! अहा!

लागे सर सरवर परयौ, करयौ चोंच घन ओर।
धनि-धनि चातक, प्रेम तव, पन पाल्यौ बरजोर॥
पन पाल्यौ बरजोर, प्रान-परजंत निबाह्यौ।
कूप नदी नद ताल सिंधु जल एक न चाह्यौ॥
बरनै 'दीनदयाल' स्वाति बिन सब ही त्यागे।
रही जन्म भरि बूँद-आस, अजहूँ सर लागे॥

प्यारे पयोदके दोषपर उसका ध्यान ही नहीं जाता—

चढ़त न चातक-चित कबहुँ प्रिय पयोदके दोख।
'तुलसी' प्रेम-पयोधिकी तातें नाप न जोख॥

और यही हाल उस पतंगेका भी है। एक ओर दियेकी यह लापरवाही और संगदिली, और दूसरी ओर पतंगेकी वह लगन और जाँनिसारी देखते ही बनती है। पतंगेके तिरस्कृत प्रेमपर एक सज्जन उससे कहते हैं कि अरे पगले, इस बेदरदी लौसे लिपटकर क्यों यों ही जान दे रहा है? तुझे यह क्या पागलपन सूझा है, रे?

वे तो मानत तोहि नहिं, तैं कत भरयौ उमंग।
नहिं दीपक कछु दरद, क्यों जरि-जरि मरै पतंग॥
जरि-जरि मरै पतंग, तासु ढिग कदर न तेरी।
तू अपनो हित जानि भाँवरें भरत घनेरी॥
बरनै 'दीनदयाल' प्रान-प्रिय मान्यौ तैं तो।
मुख मलीन करि रहैं, चहैं नहिं तोकों वै तो॥

अस्तु, कुछ सहृदय सज्जनोंने दयार्द्र होकर जब उस निर्दय दीपकको इस महान् अपराधपर एक फ़ानूसके अंदर बन्द कर दिया, तब एहसानमन्द होना तो दूर रहा, वे कमबख़्त पतंगे बहुत झुँझलाये और उस रहमदिल फ़ानूससे रुखाईके साथ बोले कि भाई! हमें प्यारी लौसे लिपटकर जलने क्यों नहीं देते? क्यों हमारे बीचमें आकर हमें जला रहे हो?

फ़ानूसको परवानोंने देखा तो ये बोले,
क्यों हमको जलाते हो कि जलने नहीं देते!

—अकबर

यह है आदर्श प्रेमीका प्रेम! इस प्रकारके एकाङ्गी प्रेमको ही ऊँचे प्रेमियोंने प्रेमका अद्वितीय आदर्श माना है। रसिक रसखानिने अपनी 'प्रेम-वाटिका'में लिखा है—

इकअङ्गी बिनु कारनहिं, इकरस सदा समान।
गनै प्रियहि सर्वस्व जो, सोई प्रेम प्रमान॥

× × × ×

मैं तो सिर्फ इतना ही जानता हूँ प्यारे! कि मैं तेरा बन्दा हूँ। इसका मुझे पता नहीं कि तेरी नज़रमें मैं क्या हूँ। तू जाने या न जाने, मुझे इसकी कोई शिकायत भी नहीं—

तेरे बन्दे हम हैं ख़ुदा जानता है,
ख़ुदा जाने तू हमको क्या जानता है।

—मीर

यह मैं मानता हूँ कि तेरा दिल मुझसे मिलता नहीं है, फिर भी मैं तुझे प्यार करता हूँ। क्या करूँ, बिना प्रेम किये जी मानता ही नहीं। प्रेम करना मेरा स्वभाव बन गया है। मुझपर यह अपराध

आरोपित किया जा रहा है कि तुम क्यों प्रेम करते हो। इसपर मैं क्या सफ़ाई दूँ—

ठहरे हैं हम तो मुजरिम टुक प्यार करके तुमको,
तुमसे भी कोई पूछे, तुम क्यों हुए पियारे!

—मीर

कैसे बरी होऊँ इस इल्ज़ामसे! क्या करूँ, क्या न करूँ। प्रेम करना मैं कैसे छोड़ दूँ, भाई!

कौन बिधि कीजै, कैसे जीजै, सो बताइ दीजै,
हा हा, हो बिसासी, दूर भाजत, तऊ भजौं।

—आनन्दघन

तू मुझसे हमेशा दूर भागता रहे और मैं तुझे चाहता रहूँ—बस, यही मैं तुझसे माँगता हूँ। मैं तुझसे तेरे प्रेमको नहीं माँगता, मैं तो तुझसे तुझीको माँगता हूँ—

हर सुबह उठके तुझसे माँगूँ हूँ मैं तुझीको,
तेरे सिवाय मेरा कुछ मुद्दआ नहीं है।

—मीर

इस भावमें ही मेरे जीवनका अर्थ छिपा है। तू ही बता, मैं अपने जीवनको निरर्थक कैसे कर दूँ। प्रेम करनेकी आदत कैसे छोड़ दूँ। यह तो मेरा सहज स्वभाव है। जो बन गया सो बन गया। तू चाहे जो समझे, मैं तो यही समझ बैठा हूँ कि—

तेरे सिवाय मेरा कुछ मुद्दआ नहीं है।

सो, प्यारे! यह ज़िन्दगी जिस ढर्रेपर चल रही है, उसीपर चलने दे। तू क्यों मेरी फ़िक्र करता है?



प्रेमी

प्रेमीके जीवनका अथ और इति आत्म-बलिदानमें है। प्राणोंका सभीको मोह होता है, पर प्रेमी इस व्यापक नियमके अपवादमें आ गया है, आशिक़ और उसकी जानमें सदासे नाइत्तिफ़ाक़ी चली आयी है। जाँनिसारी ही प्रेमीकी जान है। जिसे अपने प्राणोंका मोह है, वह प्रेमीका पद पानेके योग्य नहीं। पहुँचे हुए प्रेमी सद्गुरु कबीर कहते हैं—

यह तो घर है प्रेमका, खालाका घर नाहिं।
सीस उतारे भुँइ धरै, तब पैठै घरमाहिं॥

नागरीदासजीका भी ठीक इसी भावका एक दोहा है—

सीस काटिकैं भू धरै, ऊपर रक्खै पाव।
इश्क़-चमनके बीचमें, ऐसा हो तो आव॥

सन्तवर पलटूदासके इस कथनमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं—

साहिबका घर दूर, सहज ना जानिए।
गिरै तो चकनाचूर, बचनको मानिए॥

ओह! कितना दूर है उस मालिकका मकान! सँभल-सँभलकर उस प्यारेके ज़ीनेपर चढ़ना होगा। ज़रा ही चूके कि नीचे आये—ऐसे गिरे कि हड्डी-पसलीका भी पता न चलेगा। हाँ, धड़परसे अपना सर अपने ही हाथसे उतारकर पहले नीचे रख दो, फिर तुम खुशीसे उस घरके भीतर पैठ जाओ। यही एक सुगम उपाय है—

प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देइ लै जाय॥

—कबीर

जबतक इस धड़पर सर है, जबतक इस दिलके अंदर ख़ुदी है, तबतक उस मालिकसे भेंट होनेकी नहीं। ख़ुदी और ख़ुदा एक साथ नहीं रह सकते। इससे, चढ़ा दो, प्यारे दोस्तो! अपनी ख़ुदीको प्रेमकी प्यारी सूलीपर। ज़रा मंसूरकी तरफ़ देखो। उस पगलेने अपना सर सूलीकी भेंट करके ही प्यारेकी सूरत देखी थी। जिसके सरने सूलीकी सूरत नहीं देखी, वह प्यारेकी सूरत कैसे देख सकता है? इन्शाने क्या अच्छा कहा है—

सतर मंसूरके लोहूसे हुई यह तहरीर,
यानी, सरदार नहीं वह जो सरेदार नहीं।

जिसका सर दार (सूली) का प्यारा नहीं वह प्रेमका सरदार नहीं कहा जा सकता। प्रेमी रसखानिने अपने प्रेम-पात्रसे कहा है——

सिर काटौ, छेदौ हियो, टूक-टूक करि देहु।
पै याके बदले बिहँसि वाह-वाह ही लेहु॥

क्या अच्छा बदला चुकाया जा रहा है। क़लमको देखो, हमेशा उँगलियोंसे लिपटी रहती है। यह सुहाग उसे मिला कैसे? क्या करोगे सुनकर, बड़ी ऊँची है उसकी साधना, उसकी प्रेम-साधना——

तो हम चो क़लम सर न निही दरतहे कार्द,
हरगिज़ बसर अंगुस्ते निगारे न रसी।

जबतक क़लमकी तरह अपना सर छुरीके नीचे क़लम नहीं करवा लिया, हरगिज़ सरे अंगुस्त यार तक नहीं पहुँच सकोगे। सर लिये हुए उस प्यारेके दरपर तुम पैर भी नहीं रख सकते। असग़र साहब कहते हैं——

'असग़र' हरीम इश्क़में हस्ती ही जुर्म है,
रखना कभी न पाँव यहाँ सर लिये हुए ।

सच है भाई !

जबलगि मरनेसे डरै, तबलगि जीवन नाहिं ।
बड़ी दूर है प्रेम-घर, समझ लेहु मनमाहिं ॥
—कबीर

असलमें देखा जाय, तो प्रेममें मरनेका ही नाम ज़िन्दगी है । हश्र साहबने कितना अच्छा कहा है—

जबसे सुना है मरनेका नाम ज़िन्दगी है,
सरसे कफ़न लपेटे क़ातिलको ढूँढ़ते हैं ।

अब तो शायद कुछ-कुछ समझमें आ गया होगा कि प्रेमका घर कहाँ और कितना दूर है । प्रेम-घरमें पैठनेवालेका चित्र महाकवि देव नीचेके पद्यमें किस कुशलतासे अंकित कर रहे हैं । लिखते हैं—

एकै अभिलाख, लाख लाख भाँति लेखियतु,
देखियतु दूसरो न 'देव' चराचरमें ।
जासों मनु राचै, तासों तन मन राचै रुचि,
भरिकैं उघरि जाँचै साँचै करि करमें ॥
पाँचनके आगे आँच लागेतें न लौटि जाय,
साँच देइ प्यारेकी सती-लौं बैठे सरमें ।
प्रेमसों कहत कोई ठाकुर न ऐंठौ सुनि,
बैठौ गड़ि गहिरे, तौ पैठौ प्रेम-घरमें ॥

× × × ×

प्रेमी ही सच्चा शूरवीर है । जिसे अपने प्राणोंका भी मोह

नहीं, वह कितना ऊँचा, कितना सच्चा और कितना पराक्रमी न होता होगा। आत्मबलिदानका महान् रहस्य एक प्रेमी ही समझता है। अपने ही हाथसे अपना सर उतारकर रख देना, अपने अहंकारको प्रेमकी आगमें जला देना, हर किसीका काम नहीं। आशिक़ होना हर बाज़ारू आदमीके हिस्सेमें नहीं आया है। विषयी और प्रेमीमें कौड़ी-मोहरका अन्तर है। सन्त पलटूदासजीने कितना अच्छा कहा है—

झूठ आसिकी करहिं मुलकमें जूती खाहीं।
सहज आसिकी नाहिं, खाँड़ खाने की नाहीं॥
जीते-जी मर जाय, करै ना तन की आसा।
आसिकका दिन-रात रहै सूलीपर बासा॥
मान-बड़ाई खोय नींद भरि नाहीं सोना।
तिल भरि रक्त न मांस, नहीं आसिकको रोना॥
बेवकूफ़ 'पलटू' वहै आसिक होने जाहिं।
सीस उतारै हाथसे, सहज आसिकी नाहिं॥

पागल पलटूने आशिक़ीको देखा, आसमानपर चढ़ा रखा है! क्या सचमुच ही प्रेमकी साधना इतनी कठिन है? हम दुनिया-दारोंकी रायमें तो सबसे सुगम संसारमें यदि कोई कार्य है, तो एक प्रेम ही है। प्रेमीका सर्टिफिकेट प्राप्त करनेमें हमारा एक पैसा भी तो खर्च नहीं होता। हम सभी अपनेको प्रेमी कहते हैं, आशिक़ मानते हैं। हम-जैसे पशु नरोंकी दृष्टिमें प्रशान्त प्रेम-पयोधि एक गड़हा-मात्र है—

गिरितें ऊँचे रसिक मन, बूड़े जहाँ हजार।
वहै सदा पसु-नरनकों प्रेम-पयोधि पगार॥

—बिहारी

तब हमें सच्चे प्रेमीका दर्शन कैसे मिल सकता है ? असल आशिक़से कैसे हमारी भेंट हो सकती है ? कहाँ मिलेगा वैसा प्रेमी, अपने साईंको अपना सीस सौंपनेहारा ! प्रेम-प्याला वही पी सकता है, जो अपने सरको किसी निठुर साक़ीके पैरोंपर चढ़ा देता है। महात्मा दादूदयालकी साखी है—

जबलगि सीस न सौंपिए, तबलगि इश्क़ न होय।
आसिक मरने ना डरै, पियै पियाला सोय॥

दादूदयालजीने आशिक़ और माशूकमें कोई भेद नहीं माना। आशिक़ जब अपने प्रेमकी मस्तीसे छककर खुद अपना ही माशूक बन जाता है, तभी वह सच्चे प्रेमकी झलक पाता है। अरे, ऐसे मस्त माशूकका तो खुद सिरजनहार साईं भी आशिक़ बननेको पागल रहता है। दादूदयालने क्या झूठ कहा है ?

आसिक मासुक ह्वै गया, इश्क कहावै सोय।
'दादू' उस मासूकका अल्लहि आसिक होय॥

ऐसे प्रेमीका प्रेम-पात्र उससे दूर थोड़े ही रहता है। वह तो उसके पास ही रहा करता है या उसमें ही समाया रहता है। प्रेमीके रोम-रोममें उस राम-रहीमका घर बना रहता है। वह अलमस्त प्रेमी कहीं बीन, बाँसुरी या पखावज सुनने नहीं जाता। सारे मोहन बाजे उसके भीतर ही बजा करते हैं। और, बजानेवाला भी उसे अपने दिल-के मन्दिरमें बैठा मिल जाता है। बलिहारी ऐसे अलबेले प्रेमीपर।

सब बाजे हिरदै बजैं, प्रेम पखावज तार।
मन्दिर ढूँढ़त को फिरै, वहीं बजावनहार॥

—दादूदयाल

× × × ×

अपने प्रेमास्पदके पैरोंपर सर्वस्व न्योछावर कर देनेवाला ही 'प्रेमी' कहानेके योग्य है। सच बात तो यह है कि सर्वस्व-त्यागी ही परम प्रेमी है। उसका प्रेम प्रेमके ही निमित्त होता है। वह इतना ही कह सकता है कि 'मैं प्रेम करता हूँ' किस लिये ? क्योंकि प्रेम करना उसका स्वभाव है। इसके अतिरिक्त वह और कुछ नहीं जानता।

पर ऐसी दिव्य भावना उसीके हृदयमें उदय होगी, जिसने अपना सर्वस्व अपने प्रेमास्पदके चरणोंपर चढ़ा दिया है, जिसकी हस्ती अपने प्यारेकी मर्जीमें समा गयी है। वह सिर्फ़ इतना ही कहना जानता है कि—

जीता रखे तू हमको या धड़से सर उतारे,
अब तो फ़कीर आशिक़ कहता है यूँ पुकारे।
राज़ी हैं हम उसीमें, जिसमें तेरी रज़ा हो,
याँ यूँ भी वाह वा है और वूँ भी वाह वा है॥

इस तरहकी 'वाह वा' का आनन्द त्यागी ही ले सकता है। निस्सन्देह जो त्यागी नहीं, वह प्रेमी हो ही नहीं सकता। विश्वास न हो, तो इन प्रेमियोंको त्यागकी कसौटीपर कस क्यों नहीं लेते ?

देखौ करनी कमलकी, कीनों जलसों हेत।
प्रान तज्यौ, प्रेम न तज्यौ, सूख्यौ सरहि समेत॥
मीन वियोग न सहि सकै, नीर न पूँछै बात।
देखि जु तू ताकी गतिहि, रति न घटै तन जात॥
प्रीति परेवाकी गनौ, चाह चढ़त आकास।
तहँ चढ़ि तीय जु देखतहि परत छाँड़ि उर स्वास॥

सुमरि सनेह कुरंगकौ स्रवननि राच्यौ राग।
धरि न सकत पग पछमनो, सर सनमुख उर लाग॥
—सूर

ये सब-के-सब त्यागकी कठिन कसौटीपर खरे उतरनेवाले प्रेमी हैं। जिसे कुछ सीखना हो, इन उस्तादोंसे सीख ले, इन गुरुदेवोंसे मन्त्र-दीक्षा ग्रहण कर ले। इन्होंने भी जो कुछ सीखा है, वह किसीके होकर ही सीखा है। लगन तो बस इनकी है। इन्होंने अपनेको प्रेमदेवके श्रीचरणोंपर उत्सर्ग करके ही प्रेमीका दुर्लभ पद पाया है। कौन बतला सकता है कि कमलका सरोवरके साथ क्या सम्बन्ध है? मीनके प्रेमको नीरसे कौन पृथक् कर सकता है? कपोत-व्रतकी तुलना किससे करोगे? प्रेम-शूर कुरंगके आत्मार्पणका पता किस समझदारको है? ये सभी किसी-न-किसीके हो चुके हैं। इसीसे इनकी पवित्र स्मृतिको सहृदयजन सदासे अपने मनोमन्दिरमें पूजते चले आते हैं। ये बड़े ऊँचे दरजेके त्यागी हैं। अपना सर्वस्व तृणवत् त्याग चुके हैं। इनका इनके पास अब है ही क्या? अपनी हस्तीको इन्होंने खाकमें मिला दिया है। त्यागमयी दीनताके अवलम्बसे ही हम अपने लक्ष्यतक पहुँच सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं। सुकवि मीर कहते हैं—

हम इज्ज़से पहुँचे हैं मक़सदकी मंज़िलको,
वह ख़ाकमें मिल जावे जो उससे मिला चाहे।

× × × ×

जो उत्सर्ग करना नहीं जानता, उसे प्रेम करनेका कोई अधिकार नहीं। कहा भी है—

Whosoever is not ready to suffer all and to stand resigned to the will of his beloved is not worthy to be called a lover.

अर्थात् जो अपने प्रेम-पात्रके अर्थ सब कुछ सहनेके लिये तैयार नहीं रहता और उसकी मर्जीपर अपनेको छोड़ नहीं देता, वह प्रेमी कहे जानेके योग्य नहीं। उसे फिर 'अपनापन' दिखानेका हक़ ही क्या ? उसमें अपना कुछ भी नहीं रह जाता। जो कुछ भी उसमें है वह सब उसके प्रेम-पात्रका ही है—

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागत है मोर॥

—कबीर

प्रेम और अपना मान, ये दो चीज़ें एक साथ भला कैसे रह सकती हैं—

पीया चाहै प्रेम-रस, राखा चाहै मान।
एक म्यानमें दो खड्ग, देखा-सुना न कान॥

—कबीर

किसी कविने कितना अच्छा कहा है—

प्रीति सु ऐसी जान, काँटेकी-सी तौल है।
तिल भरि चढ़ै गुमान, तौ मन सूई डगमगै॥

अतएव प्रेमीको तो मान-सम्मानकी आशा छोड़ ही देनी चाहिये। अपने मानको, अपने सुखको और अपने आपको जिसने प्यारेकी याद-में डुबो नहीं दिया, मिटा नहीं दिया, उसके हृदयमें वह राम कैसे रमेगा ? इसलिये, भैया, तू तो—

तू को इतना मिटा कि तू न रहे,
और तुझमें दुईकी बू न रहे।

पहले अपनेको खो दे, तब उसे खोजने चल—

पहले आपु जो खोवै, करै तुम्हार सो खोज।

—जायसी

अपनी ख़ुदीको मिटाते ही तू बरबस यह कह उठेगा कि—

दिया हमने जो अपनी ख़ुदीको मिटा,
वह जो परदा था बीचमें, अब न रहा।
रहा परदेमें अब न वह परदेनशीं,
कोई दूसरा उसके सिवा न रहा!

जब तू दुईको दूर करके अपने दिलको साफ़ कर लेगा, तभी तुझे उस दीवाने दिलवरकी झलक झाँकनेको मिलेगी। ओ मेरे भोले भाई! उस बेनिशाँको तो तू बेनिशाँ होकर ही पा सकेगा—

न पा सकते जिसे पाबंद रहकर क़ैदे हस्तीमें,
सो हमने बेनिशाँ होकर तुझे, ओ बेनिशाँ पाया!

—हसरत मोहानी

उसे पा लेनेपर फिर ऐसा कौन-सा बन्धन है, जो तुझे जकड़ सकेगा? न कोई नियम रहेगा, न नियन्त्रण। न क़ायदा रहेगा, न कानून। प्रेमी किस कानूनकी गिरफ़्तमें आ सकता है? प्रेम ही तेरा बन्धन होगा, प्रेम ही तेरा नियम होगा और प्रेम ही तेरा कानून होगा—

Who can give a law to lovers,
A greater law is love unto itself.

प्रेमी! उस दिन तुझे वह चीज मिल जायगी, जिसके लिये तू जन्म-जन्मसे लालायित रह आया है। उस दिनका प्रिय-मिलन तेरे अंदरकी उलझी हुई गाँठको खोल देगा, तेरी सारी शंकाओंको छिन्न-भिन्न कर देगा और तेरे अनेक जन्मोंका लेखा-जोखा बेबाक कर देगा—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

इस अवस्थातक पहुँच जानेका राज-मार्ग निःसन्देह त्यागपूर्ण प्रेम ही है। उत्सर्ग या आत्म-बलिदानसे ही इष्टस्थान प्राप्त हो सकता है। प्रेमीको यह आवश्यक है कि जो कुछ उसके पास है, वह सारा-का-सारा प्रेमदेवकी भेंट कर दे। फ़िदा कर देनेका ही नाम मुहब्बत है—

मुहब्बतमें ये लाज़िम है कि जो कुछ हो फ़िदा कर दे।

—जिगर

× × × ×

प्रेमी न तो इस लोककी ही परवा करता है और न उस लोककी ही। कितना ही उसका अपमान हो, कितने ही उसपर कलंक लगाये जायँ, पर वह अपनी ही धुनमें मस्त रहेगा। तन चला जाय, मन चला जाय और प्राण भी चले जायँ, पर वह प्रेमोन्मत्त पथिक अपने प्यारे पथसे हटनेका नहीं। वह तो बस, प्रेमपर कुछ-न-कुछ चढ़ाता ही जायगा। किसी दिन अपने आपको भी उस प्यारी वेदीपर बलि कर देगा। रोको, कितना रोकते हो। बाँधो, कितना बाँधते हो। वह किसी भी तरह माननेका नहीं, रुकनेका नहीं। एक कृष्णानुरागिनी गोपिका कहती है—

कोऊ कहौ कुलटा, कुलीन अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकिनि कलंकिनि कुनारी हौं;
कैसो परलोक नरलोक वर लोकनमें,
लीनी मैं अलीक, लोक-लीकनतें न्यारी हौं।
तन जाव, मन जाव, 'देव' गुरुजन जाव,
जीव क्यों न जाव टेक टरति न टारी हौं;

वृन्दावनवारी बनवारीके मुकुटपर—
पीतपटवारी वाहि मूरतिपै वारी हौं ॥

इस विकल व्रजाङ्गनाकी प्रीति-सरिताको कौन बाँधकर रोक सकता है? लोक-परलोकके बड़े-बड़े पर्वतोंको तोड़ती-फोड़ती हुई वह तो कृष्ण-महोदधिसे मिलकर ही दम लेगी। कितना ऊँचा आत्मोत्सर्ग है! धन्य!

तन जाव, मन जाव, 'देव' गुरुजन जाव,
जीव क्यों न जाव, टेक टरति न टारी हौं।

जब उसने ऐसी कठिन टेक पकड़ ली है, तब वह पीतपटवाला साँवला उस हठीली ग्वालिनको क्यों न निहाल करेगा? गोसाईं तुलसी-दासजीकी यह धारणा है—

जाकर जापर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु संदेहू ॥

पर कठिनता तो यह है कि सत्य स्नेह हमारे इन नारस हृदयों-में कैसे अङ्कुरित होगा? प्रेम-रसका खेल तो वही खेल सकेगा, जो अपने सरके साथ खेलना जानता होगा। जिसे प्रेमका थपेड़ा लग चुका है, वही प्यारेके पैरोंतक पहुँच सकेगा—

परै प्रेमके झेल पिउ सहुँ धनि मुख सो करै।
जो सिरसेंती खेल, 'मुहमद' खेल सो प्रेम रस ॥

—जायसी

बात वही है। सरफ़रोशीके निशानेपर ही सब तीरंदाजोंकी नज़र अटकी हुई है। एक ही सवालपर सबने जोर दिया है। यदि प्रेमी होना चाहते हो, यदि अमर जीवन चाहते हो, तो अपने प्रेमास्पदके चरणोंपर अपने प्राणोंकी तुच्छ पुष्पाञ्जलि चढ़ा दो। खुशी-खुशी अब भी कह दो—

दिखलाके सरफ़रोशी तोड़ेंगे हुक्म सारी।
मर-मरके ज़िन्दा होंगे, यह ज़िन्दगी हमारी॥

अगर आशिक़ होनेका शौक़ रखते हो, तो प्रेमके मैदानपर अपने सरके गेंदको उछाला करो। आदिसे अन्ततक प्रेमीके जीवनमें आत्म-बलिदान ही व्यापकरूपसे मिलेगा। इब्तिदा भी जाँनिसारी और इन्तिहा भी जाँनिसारी! प्रीति कितनी मँहगी चीज है। कौन खरीदार है इसका---सरके मोल बिकती है, साहब, सरके। है कोई खरा गाहक?

कहा कोउ प्रेम बिसाहन जाय!
महँग बड़ा, गथ काम न आवै, सिरके मोल बिकाय॥
तन मन धन पहिले अरपन करि, जगकौ सुख न सुहाय।
तजि आपा आपुहि ह्वै जीवै, निज अनन्य सुखदाय॥

—भीखा

लाखों-करोड़ों साधकोंमें ऐसे ऊँचे प्रेमी कहीं एक-दो मिलेंगे। ऐसे ही प्रेमानुरागियोंपर भगवान्‌का सहज स्नेह है। उन अनन्य भक्तोंके योग-क्षेमका भगवान्‌को सदा ध्यान रहता है। यह कहते-कहते आप अघाते भी नहीं---

हम भक्तनके, भक्त हमारे।
सुन अर्जुन, परतिग्या मेरी यह व्रत टरत न टारे॥

पर किन भक्तोंके आप अनुगामी हैं? उन्हींके, जिनपर उस मस्त कविने यह कहा है कि---

जो सिरसेंती खेल, 'मुहमद' खेल सो प्रेम-रस।



प्रेमका अधिकारी

प्रेमका असली अधिकारी करोड़ोंमें कहीं एक मिलता है। दर्दका मर्म किसी कसकीले दिलवालेके ही आगे खोला जाता है। जो स्वयं ही प्रेमी नहीं, वह प्रेमका भेद कैसे समझ सकेगा? कबीर साहब इस बेदर्दी दुनियाके रंग-ढंगसे ऊबकर अपने मनसे कहते हैं कि अपनी राम-कहानी किसे जाकर सुनायें, अपना रोना किसके आगे रोया जाय? दर्द तो कोई जानेगा नहीं, उलटे सब हँसेंगे—

कह कबीर, दुख कासों कहिए, कोई दरद न जानै ॥

इससे अपनी मीठी मनोव्यथा मनमें ही छिपा रखनी चाहिये। अनधिकारियोंके आगे अपना दुःख रोनेसे लाभ ही क्या? व्यथाको बाँट लेनेवाला तो कोई है नहीं, सुनकर लोग उलटे अठलायँगे। रहीमका यह सरस सोरठा किस सहृदयकी आँखोंसे दो बूँद आँसू न गिरा देगा—

मनही रहिए गोय, 'रहिमन' या मनकी व्यथा।
बाँटि न लैहै कोय, सुनि अठिलैहैं लोग सब ॥

कहो, किसे प्रेमका अधिकारी समझें! किसे अपनी प्रेम-गाथा सुनायें। क्या कहा कि किसी पण्डित या ज्ञानीको अपनी व्यथा-कथा क्यों नहीं सुना देते, क्या ज्ञानी भी तुम्हारी प्रेम-वेदना सुननेका अधिकारी नहीं है? नहीं, वह प्रेम-प्रीतिका अधिकारी नहीं है। वह विद्याभिमानी ज्ञानी प्रेम-कथाको क्या समझेगा—

अंधे आगे नाचते, कला अकारथ जाय।

शास्त्रोंके मनोमुग्धकारी मार्गमें वह नेत्रवान् हुआ करे, पर प्रेम-पन्थमें तो वह नेत्र-विहीन ही है। अंधेके आगे नाचनेसे कोई लाभ ? तो फिर किसी नियम-निरत योगीको ढूँढ़ लाओ। तुम्हें तो किसी श्रोतासे ही प्रयोजन है न ? वह ज़रूर तुम्हारे दिलकी बात समझ लेगा और तुम्हारी अन्तर्व्यथापर सहानुभूति भी प्रकट कर देगा। प्रेमका तो उसे अवश्य अधिकारी होना चाहिये। नहीं, भाई! नेमी और प्रेमीमें पृथिवी-आकाशका अन्तर है। वह प्रेमका अधिकारी कदापि नहीं हो सकता। इससे—

कोऊ कहूँ भूलि जिन कहियो नेमीसों यह बानी।
कैसे भिदै तासु उर-अंतर ज्यों पाथरमें पानी॥

—बख्शी हंसराज

नियमी बेचारा तो यम-नियमकी ही बातें सुनना चाहेगा। प्रेमव्यथाकी यह अकथनीय कथा तो आदिसे अन्ततक नियम-नियन्त्रणसे परे है। बेचारा सुनते-सुनते थक जायगा। उसका मन ही न लगेगा। बड़ी लंबी-चौड़ी कहानी है। दूसरे, इसका कहना भी महान् कठिन है। यह तो अन्तस्तलकी कथा है, जिगर-की कहानी है। जिसे पढ़ना हो, कलेजा चीरकर पढ़ ले। पर ऐसा प्रेमाधिकारी तो उस प्रेम-प्यारेको छोड़ दूसरा कोई नज़र आता नहीं—

मेरी ये प्रेम-व्यथा लिखिबेकों गनेस मिलैं तौ उन्हींतें लिखावौं।
व्यासके शिष्य कहाँ मिलैं मोहिं, जिन्हैं अपनो बिरतान्त सुनावौं॥
राम मिलैं तौ प्रनाम करौं, कवि 'तोष' वियोगकथा सरसावौं।
पै इक साँवरे मीत बिना यह काहि करेजो निकारि दिखावौं॥

× × × ×

यों तो इस जगत्‌में 'प्रेमी' उपाधि-धारी सैकड़ों-सहस्रों महापुरुष मिलेंगे, पर उनमें भुक्त-भोगी प्रेमाधिकारी तो कदाचित् ही कहीं कोई एकाध देख पड़े। तालाबमें मछली भी रहती है और मेढ़क भी रहता है। दोनों ही जलचर हैं, जलके जीव हैं। पर नीरके प्रेमकी अधिकारिणी एक मछली ही है। अब कहो जल-वियोगकी व्यथा सुनने या समझनेका सच्चा अधिकार मेढ़कको है या मीनको ?

जिन नहिं समुझ्यौ प्रेम यह, तिनसों कौन अलाप ?
दादुर हू जलमें रहै, जानै मीन मिलाप ॥

—ध्रुवदास

इस मतलबी दुनियामें मेढ़क-जैसे नामधारी प्रेमी तो पग-पगपर मिल जायँगे, पर मीनकी जातिका प्रेमाधिकारी शायद ही कहीं कोई मिले। बख़्शी हंसराजने 'सनेह-सागर' में क्या अच्छा कहा है—

चाहनहारे सुख-संपतिके जगमें मिलत घनेरे।
कोऊ एक मिलत कहुँ प्रेमी, नगर-बगर सब हेरे ॥

परम प्रेमी आनन्दघनने अपनी करुण-कलापिनी कविताके अधिकारीकी जो व्याख्या की है, प्रायः वही प्रेमाधिकारीकी भी परिभाषा है। जिसके हृदय और नेत्रोंमें एक प्रेमकी पीर, लगनकी एक मीठी-सी कसक या हूक उठा करती है, वही अनुरागी आनन्दघनकी कविता या किसी प्रेमीकी प्रेम-कहानी सुनने और समझनेका सच्चा अधिकारी है—

प्रेम सदा अति ऊँचो लहै, सुकहै इहि भाँतिकी बात छकी।
सुनिकैं सबके मन लालच दौरै, पै बौरे लखैं सब बुद्धि चकी ॥

जगकी कविताईके धोखें रहैं, ह्याँ प्रबीननिकी मति जाति जकी।
समुझै कबिता 'घनआनंदकी' हिय आँखिन नेहकी पीर तकी॥

इस अधिकारका पाना कितना कठिन है, कैसा दुर्लभ है, इसे कौन कह सकता है। प्रेमी होना चाहे कुछ आसान भी हो, पर प्रेमका अधिकारी होना तो एकदम मुश्किल है। बड़ी टेढ़ी खीर है। सिंहिनीका दूध दुह लेना चाहे कुछ सुगम भी हो, पर प्रेमका अधिकार प्राप्त कर लेना तो महान् कठिन है।

हमारी मनोव्यथा सुनने-समझनेका अधिकारी तो वही हो सकता है, जिसे अपना शरीर दे दिया है, मन सौंप दिया है और जिसके हृदयको अपना निवास-स्थान बना लिया है अथवा जिसे अपने दिलमें बसा लिया है। उससे अपना क्या भेद छिपा रह सकता है। ऐसे प्रेमीको अपनी रामकहानी सुनाते सचमुच बड़ा आनन्द आता है, क्योंकि वही उसके सुनने-समझनेका सच्चा अधिकारी है। रहीमने कहा है—

जेहि 'रहीम' तन मन दियौ, कियौ हिये बिच भौन।
तासौं सुख दुख कहनकी रही बात अब कौन?

ज्ञानी अथवा सिद्ध प्रेमाधिकारी नहीं हो सकता, किन्तु प्रेमाधिकारी निस्सन्देह ज्ञानी और सिद्धकी अवस्थाको अनायास पहुँच जाता है। जो प्रेमकी कहानी सुन और समझ सकता है, वही तो ज्ञानी और सिद्ध है—

कहै प्रेम कै बरनि कहानी। जो बूझै सो सिद्ध गियानी॥

—जायसी



लौकिकसे पारलौकिक प्रेम

कहीं भी हो, कोई भी हो, कुछ भी हो, तुम्हारे जीवनमें प्रेमका एक निश्चित लक्ष्य तो, भाई, होना ही चाहिये। बिना किसी प्रेमलक्ष्यके यह जीवन, जीवन नहीं। प्रेमकी ऊँची अवस्थातक नहीं पहुँच सके, न सही, कोई चिन्ता नहीं। इतना क्या कम है कि तुम प्रेम करना तो जानते हो, तुम्हारा कोई प्रेम-पात्र तो संसारमें है। किसी दिन प्रेमकी साधना साधते-साधते उस ऊँची अवस्थाको भी तुम प्राप्त कर लोगे। तुम्हारा यह लौकिक प्रेम, यह इश्क़मजाज़ी ज़रूर किसी दिन तुम्हें इश्क़हक़ीक़ीतक पहुँचा देगा। पर इतना याद रहे कि तुम्हारा लौकिक प्रेम भी सच्ची लगनमें रँगा हुआ हो, दिली दर्दसे भरा हो, चोटीले हृदयकी एक कसक हो। इस प्रकारका ही लौकिक प्रेम पारलौकिक प्रेममें परिणत हो सकेगा, अन्यथा वह मोहरूप होकर तुम्हारे पतनका कारण हो जायगा। पारलौकिक प्रेम प्राप्त नहीं हुआ—इस निराशासे लौकिक प्रेमसे भी विमुख हो जाना महामूर्खता है। बिल्कुल ही प्रेम न करनेसे मोहवश होकर ही किसीसे प्रेम करना फिर भी कहीं अच्छा है। एक विद्वान्का कथन है—

It is best to love wisely, no doubt, but to love foolishly is better than not to be able to love at all.

अर्थात्, इसमें सन्देह नहीं, कि बुद्धिमानीके साथ प्रेम करना सर्वोत्कृष्ट है, पर बिल्कुल ही प्रेम न करनेकी अपेक्षा मूर्खतासे ही प्रेम करना तो भी कहीं अच्छा है। सारांश यह कि मानव-जीवनमें

प्रेमका होना अत्यन्त आवश्यक है, या यों कहिये कि प्रेमका ही नाम जीवन है।

सौ बातकी बात तो यह है कि यदि तुम अपने जीवनको सफल बनाना चाहते हो तो किसीके हो जाओ, किसीको अपना बना लो। यहाँ आकर कुछ सीखना है, तो किसीके होकर ही तुम सीख सकोगे। ज़फ़रने क्या अच्छा कहा है—

न कुछ हम हँसके सीखे हैं, न कुछ हम रोके सीखे हैं।
जो कुछ थोड़ा-सा सीखे हैं किसीके होके सीखे हैं॥

कैसी दिल्लगी है—प्रेमका 'श्रीगणेश' तक तो किया नहीं, इश्क़-का 'अलिफ़ बे' भी तो पढ़ा नहीं, और खोजने चले हो उस ला-मकाँ प्यारेका मकान! उस राम या रहीमका घर ही बनाना है, उसका मन्दिर या मसजिद ही तुम्हें खड़ी करनी है, तो पहले किसीके दिल-का नक़शा लो और फिर उसी नक़शेको सामने रखकर उस प्यारे सिरजनहारके मकानको बना डालो। मतलब यह कि इश्क़मजाज़ीसे इश्क़हक़ीक़ीकी तरफ़ क़दम बढ़ाते जाओ। यह सुनहला भाव महाकवि अकबरकी लेखनीसे निकला है। सो, अब उन्हींके मधुर शब्दोंमें सुनिये—

खुदाका घर बनाना है, तो नक़शा ले किसी दिलका,
य दीवारोंकी क्या तजवीज़ है, ज़ाहिद य छत कैसी?

अगर किसीके दिलका नक़शा लेकर तुमसे उस प्यारेका मकान-मन्दिर बनाते न बना तो फिर न तो तुम्हें उसका दर्शन काशीमें ही मिलेगा और न काबेमें ही। अन्तमें तुम्हें भी सुकवि 'दर्द' के साथ पछताकर यही कहना पड़ेगा कि—

बुतख़ाना बरहमनका मुक़र्रर देखा,
काबाको भी शेखके मैं अकसर देखा।

दिल लगनेकी सूरत न कहीं देखी हाय !
जो कुछ देखा सो ख़ाक पत्थर देखा ॥

हाँ, सिवा ख़ाक-पत्थरके देखनेको और मिलेगा ही क्या ? दिल लगनेकी सूरत तभी न देखोगे, जब कहीं दिल लगाया होगा। प्रेम-साधना तो कभी कहीं की नहीं, आज कहते हो कि—

दिल लगनेकी सूरत न कहीं देखी हाय !

वाह साहब, वाह ! बुतख़ाने या काबेमें बिना प्रेमके वह प्यारा मिलनेका नहीं। पहले भाई ! कहीं प्रेम करना सीखो, पीछे मन्दिर और मसजिदमें उसे खोजने जाओ। काबे जानेकी तुम्हें ज़रूरत ही न पड़ेगी। प्रेम-मन्दिरमें ही तुम्हें काबा नज़र आ जायगा, प्रेम-पात्रमें परमात्माका पवित्र दर्शन हो जायगा। कवि कहता है—

बुतमें भी तेरा या रब ! जल्वा नज़र आता है।
बुतख़ानेके परदेमें काबा नज़र आता है ॥

महात्मा नागरीदासजीने अपने 'इश्क़चमन' में लिखा है—

कहूँ किया नहिं इश्क़का इस्तैमाल सँवार।
सो साहिब सों इश्क़ वह कर क्या सकै गँवार ॥

× × × ×

लौकिक पक्षसे अलौकिक पक्षकी ओर जाता हुआ प्रेमी कहता है—

हौं रे पथिक ! पखेरू जेहि बन मोर निबाहु।
खेलि चला तेहि बन कहँ, तुम अपने घर जाहु ॥
—जायसी

जिससे यहाँ प्रेमका खेल खेलते नहीं बना, वह गँवार उस प्यारे खेलनहारके साथ वहाँ भी कोई खेल न खेल सकेगा। सच मानो भाई !

सो साहिब सों इश्क वह कर क्या सकै गँवार ॥

वह लौकिक प्रेममें मतवाला भी कितना बड़भागी है, कैसा पहुँचा हुआ है, जो अपने प्रेम-पात्रसे यह कहता हुआ अमर-धामको जा रहा है !

परस्तिशकी याँ तक कि, ऐ बुत ! तुझे,
नज़रमें सबोंकी ख़ुदा कर चले।

—मीर

प्यारे ईश्वरका आराधन करना भला मैं क्या जानूँ। मैंने तो एक तेरी ही उपासना की है, तुझे ही ईश्वर माना है। सो आज मैं तुझे केवल अपनी ही दृष्टिमें नहीं, बल्कि सारे जहानकी नज़रमें ख़ुदा बनाकर जा रहा हूँ। इन हज़रतने देखा किस मज़ेके साथ दुनियाबी प्रेमसे ख़ुदाई प्रेमकी तरफ़ अपने जीवनकी आखिरी मंज़िल तय की है ! खूब किया यार, जो—

नज़रमें सबोंकी ख़ुदा कर चले।

प्रेम तो प्रेम ही रहेगा, चाहे वह किसी व्यक्तिविशेषके प्रति हो, चाहे ईश्वरके प्रति। पर जो प्रेम ही नहीं है, वह ईश्वर-परमेश्वरके प्रति होनेपर भी प्रेम नहीं है। लौकिक हो वा अलौकिक, मजाज़ी हो या हक़ीक़ी, किसी भी दरजेका हो, पर होना चाहिये वह प्रेम सच्चा। विश्व-विख्यात प्रेमी मजनूँका प्रेम कितना ऊँचा, कितना सच्चा और कितना पवित्र था। क्या ही अद्वितीय अनन्यता थी मजनूँके प्रेममें ! एक दिन परमात्माने प्रकट होकर उस पगलेसे कहा—'अरे मूर्ख ! तू मेरी उपासना क्यों नहीं करता ? क्यों एक मामूली लड़कीके प्रेममें अपनेको तबाह कर रहा है ?' इसपर अल्लाहको हज़रत क्या जवाब देते हैं—'मुझे क्या पड़ी है, जो तुझे पूजता फिरूँ ! मैं अपनी लैलाके सिवा और किसीको नहीं पहचानता। क्या हुआ जो तू ख़ुदा है, मैं तेरी तरफ़ देखूँगा भी नहीं। तू मेरी प्यारी लैला तो है नहीं। हाँ, लैलाकी प्यारी सूरतमें जो तूने अपना दीदार दिया होता तो ज़रूर

यह खाकसार तेरे क़दमोंपर अपना सर रख देता, तुझे अपनी आँखोंपर बिठा लेता, अपने दिलके अंदर छुपा लेता। पर मुश्किल तो यह है कि तू लैला नहीं है, एक मामूली खुदा है।' वाह अल्लाह भी मजनूँको लैला ही नज़र आता है।

अकथ कहानी प्रेमकी जानत मजनूँ खूब।
दो तनहूँ जहँ एक भे मन मिलाय महबूब॥
—रसखानि

क्या सुना नहीं कि—

खूँ रगे मजनूँके निकला फस्द जो लैलीकी ली!

मजनूँके इस प्रेमको प्राकृत कहोगे अथवा अप्राकृत? लौकिक कहोगे या पारलौकिक? हम तो इस प्रेमको प्रेम ही कहेंगे; कौन प्राकृत-अप्राकृतके झगड़ेमें पड़े। हमारी समझसे तो यही इश्क़ इश्क़ है। इश्क़की सच्ची सूरतमें क्या तो मजाज़ी और क्या हक़ीक़ी। प्रेमका वास्तविक रूप यही है और प्रेमका अलौकिक आदर्श भी यही है।

× × × ×

क्या करोगे इस ख़ाली दिल्का, इस रीते हृदय-घटका। नाहक़ लिये-लिये फिरते हो अपने इस प्रेमसे खाली दिलको। कहीं इसे दे क्यों नहीं देते? इसपर किसीकी तसबीर क्यों नहीं खिंचा लेते? इस खाली घरको आबाद क्यों नहीं कर लेते? भाई! जबतक अपने हृदय-मन्दिरमें तुमने परम प्रेमकी ज्योति नहीं जला ली तबतक वहाँ घट-घट-विहारी राम भी रमनेका नहीं। यह जानते हो न कि सूने अँधेरे घर-में भूत-प्रेत अपना अड्डा जमा बैठते हैं, शैतान वहाँ आकर बसने लगता है। तब क्यों व्यर्थ अपने सरस हृदयको प्रेम-शून्य बनाकर अमूल्य जीवन नष्ट कर रहे हो? अपना यह खाली दिल प्रेमी दिलदारको क्यों नहीं सौंप देते? जबतक तुम्हारा दिल प्रेमसे खाली है, तभीतक

वह खुदीका घर है और यह तो तुम जानते ही हो कि खुदी और खुदा---अहङ्कार और ईश्वर---एक साथ नहीं रह सकते। यों कब्र-तक बेहोश पड़े रहोगे! खुदीको वहाँसे निकालकर बेखुदीका आनन्द क्यों नहीं लूटते? पर जबतक तुम किसीके हो नहीं गये, तबतक बेखुदीका मीठा-मीठा मजा मिलनेका नहीं। अब भी किसी द्वारपर अड़के बैठ क्यों नहीं जाते? बस कह दो---

हज़रते 'दाग़' जहाँ बैठ गये, बैठ गये,
और होंगे तेरी महफ़िलसे उभरनेवाले॥

कोई पूछे कि इसी एक द्वारपर क्यों अड़के बैठ गये। अपने हृदय-घटसे सारा प्रेम-रस इसी एक जगहपर क्यों उँड़ेल दिया? तो बोलो, क्या जवाब दोगे? सोचने-विचारनेकी बात ही क्या है, चटसे कह देना—

यकजा अटकके रहता है दिल हमारा, वर्ना,
सबमें वही हक़ीक़त दिखलाई दे रही है॥

—मीर

कह देना—

जहँ देखौं तहँ एक ही साहिबका दीदार।

—कबीर

क्या करें, हमारा यह दिल एक ही जगहपर अटककर रह जाता है, एकहीका होकर रहता है, वर्ना हमें संसारकी सब वस्तुओं-में उसी सर्वव्यापी प्रभुकी अनन्त विभूति दिखायी दे रही है। मीर साहबकी यह धारणा लौकिक पक्षसे अलौकिक पक्षकी ओर ले जाने-की क्या ही अच्छी कुंजी है। सांसारिक प्रेम निस्सन्देह दिव्य स्वर्गीय प्रेममें परिणत किया जा सकता है। पर यह स्मरण रहे कि शुद्ध निष्काम प्रेम ही ईश्वरीय प्रेममें परिणत हो सकेगा।

प्रेममें तन्मयता

ज्ञानाभिमानी महापुरुष अद्वैतवादमें ही तन्मयताको स्थान देते हैं। कहते हैं, ब्रह्मात्मैक्यमें ही तन्मयताकी परिपूर्ण अनुभूति होती है। सत्य है, इसे कौन अस्वीकार करेगा, किन्तु हमारा यह निवेदन है कि तन्मयताका अनुभव अन्यत्र भी हो सकता है और होता है। प्रेम-संसारमें भी हम उसे देखते हैं। प्रीति-वाटिकामें भी तल्लीनता-लताको हम लहलही पाते हैं। अत्युक्ति ही सही, मुबारक हो हमें यह मुबालग़ा, हम तो तन्मयताकी दशाको जिस स्पष्टरूपमें प्रेमियोंके दिलोंमें देखते हैं, उस रूपमें ब्रह्मात्मैक्यवादियोंको शायद ही कभी वह अनुभवमें आती हो। वे कहते हैं, 'सोऽहमस्मि'—वह मैं हूँ—अथवा 'तत्त्व-मसि' वह तू है। यहाँ 'सः' और 'अहम्' अथवा 'तत्' और 'त्वम्' इन दो-दो शब्दोंका फिर भी कुछ-न-कुछ स्मरण तो रहता ही है, परन्तु प्रेमीकी तो प्रेम-तन्मयतामें, भाई! कुछ विलक्षण ही दशा हो जाती है। उसे इतना भी तो ख़याल नहीं रहता कि 'वह' मुझमें है, या 'मैं' उसमें हूँ, वह 'मैं' है या मैं 'वह' हूँ! तनिक देखो तो इस तदाकारताको—

कान्ह भये प्रानमय, प्रान भये कान्हमय,
हियमें न जानि परै कान्ह है कि प्रान है!

सबसे पहले तो उस मोहनके गुणोंमें मेरे ये श्रवण जाकर लीन हो गये, फिर उसके रूप-सुधा-रसमें मेरी आँखें डूबकर लापता हो गयीं। जैसे दूधमें पानी मिलकर एकरूप हो जाता है, उसी भाँति मेरी मति भी रसिकवर व्रजचन्द्रकी मन्द मुसकान, चुभीली चितवन

आदि और प्रेमकी चतुरता और रसिकतामें घुलकर एकरस हो गयी, मेरी मति भी मेरी न रही। अरी, मेरा यह मन भी उस मोहनके माधुर्यपर मुग्ध हो-होकर मोहनमय ही हो गया। फिर क्या हुआ, कुछ समझमें नहीं आता। सुध भी नहीं है। कृष्ण प्राणमय हो गये या प्राण कृष्णमय हो गये! कोई बता सकता है, मेरे हृदयमें कृष्ण हैं या प्राण? इस दिव्य भावको अब भावुक कविकी ही पीयूष-वर्षिणी वाणीमें सुनिये—

पहिले ही जाय मिले गुनमें स्रवन, फेरि—
रूप-सुधा-मधि कीनों नैनहूँ पयान है,
हँसनि, नटनि, चितवनि, मुसुकानि,
सुघराई, रसिकाई मिली मति पय-पान है।
मोहि-मोहि मोहनमयी री मन मेरो भयो,
'हरीचंद' भेद न परत कछु जान है,
कान्ह भये प्रानमय, प्रान भये कान्हमय,
हियमें न जानि परै कान्ह है कि प्रान है॥

प्राण क्यों इतने प्यारे हैं? इसलिये कि वे प्रियतममय हैं और प्रियतम क्यों इतना प्यारा है? क्योंकि वह प्राणमय है। कैसा ऊँचा तादात्म्य है। क्षमा करें अद्वैत-वेदान्तवादी, उनके 'सोऽहम्' आदि महावाक्योंसे हमें तो हरिश्चन्द्रकी यह सूक्ति ही ऊँची जँची है। उर्दूके सुप्रसिद्ध कवि 'जिगर' भी एक शेरमें तन्मयताकी कुछ ऐसी ही तसवीर खींच रहे हैं। उन्हें भी अपनी बेहोशीमें कुछ ऐसी ही सूझी है। वह भी प्यारेकी याद और अपने दिलकी पहचानमें आज असमर्थ हैं। कहते हैं—

कुछ खटकता तो है पहलूमें मेरे रह-रहकर,
अब ख़ुदा जाने, तेरी याद है या दिल मेरा॥

रह-रहकर किसी चीज़के खटकने भरका ख़याल है, यह नहीं बताया जा सकता कि वह क्या खटक रहा है—प्रियतमकी याद है या प्रेमीका दिल है। तन्मयताकी बेहोशी जो है। ग़ालिबने भी क्या अच्छा कहा है—

हम वहाँ हैं, जहाँसे हमको भी
कुछ हमारी ख़बर नहीं आती।

सबने सब कुछ कहा है, पर—

कान्ह भये प्रानमय, प्रान भये कान्हमय,
हियमें न जानि परै कान्ह है कि प्रान है।

हरिश्चन्द्रके इन सुनहले शब्दोंमें प्रेम-तन्मयताकी कुछ विलक्षण ही प्रभा दिखायी देती है। यह बात ही कुछ और है।

× × × ×

महाकवि देवने मोहनके मुग्ध मनको राधामय और राधाके प्रेमोन्मत्त मनको मोहनमय अङ्कित किया है। कविने दोनोंका पारस्परिक प्रेम पराकाष्ठाको पहुँचाकर तन्मयतामें लीन कर दिया है। दोनों एक दूसरेपर रीझते हैं, पुलकित होते हैं और हँसते हैं। दोनों आहें भरते हैं, आँखें डबडबाते हैं और विरहमें 'हा दई, हा दई!!' पुकारा करते हैं। कभी चौंक पड़ते हैं, कभी चकित हो ज़ाते हैं, कभी उचक पड़ते हैं, कभी जके-से रह जाते हैं और कभी जो मनमें आया वही बकने लगते हैं। दोनों ही एक दूसरेके रूप और गुणोंका बखान करते फिरते हैं। वे दोनों घरमें तो एक क्षण भी

नहीं ठहरते। दोनों प्रेमी प्रेमकी कैसी नयी-नयी रीति निकालते रहते हैं! प्रेममें दोनों ही तन्मय हो रहे हैं। मोहनका मन राधामय और राधाका मन मोहनमय हो गया है। क्या ही ऊँची तल्लीनता है—

रीझि-रीझि, रहसि-रहसि, हँसि-हँसि उठैं,
साँसैं भरि, आँसू भरि, कहत दई दई;
चौंकि-चौंकि चकि-चकि, उचकि-उचकि 'देव',
जकि-जकि, बकि-बकि परत बई बई।
दुहुन कौ रूप-गुन दोऊ बरनत फिरैं,
घर न थिरात, रीति नेहकी नई नई;
मोहि-मोहि मोहन कौ मन भयौ राधिकामै,
राधा-मन मोहि-मोहि मोहनमई-मई॥

प्रेम-तन्मयताका एक प्रसङ्ग याद आ गया है। वेदान्तपारङ्गत उद्धव प्रेम-रँगीली गोपिकाओंको योग-शिक्षा देने आये हैं। पर वे गँवार गोपियाँ गुरु महाराजसे दीक्षा नहीं ले रही हैं। कहती हैं, न तो हमें यम-नियम आदि साधनेकी ही आवश्यकता है और न प्राणायाम, ध्यान-धारणा वा समाधिकी ही। वियोगिनी होती हुई भी आज हम वियोगिनी नहीं हैं। वियोग हो, तभी न योग साधकर प्रियतमसे मिलनेका प्रयत्न करें। पर जब हमें उस मोहनका वियोग ही नहीं है, सदा प्यारेके संयोग-सुख-सरोवरमें ही जब हम डूबी रहती हैं, तब तुम्हारा यह तुच्छ योग हमारे किस कामका? हमारा प्यारा जो यहाँ मौजूद न हो, तो उसे ध्यानमें देखनेका अभ्यास किया करें। हम सब तो अब नखसे शिखातक श्याममयी हो रही हैं। व्यर्थ ही तुम योगका पोथा हमारे आगे खोल रहे हो। उद्धव महाराज!

व्रत और नियमादिका साधन तभी किया जाता है न, जब हृदय प्रेम-शून्य हो ! श्यामसुन्दरका मुख-मुकुल हमारी आँखोंमें प्रफुल्लित न हुआ होता तो तुम्हारे बताये योगाभ्यासकी साधना हम अवश्य करतीं । प्रियतमके मिलनकी आशा न होती, तो हम हठयोग-आसन भी लगाती रहतीं । इसी तरह प्राणायामकी भी क्या ज़रूरत आ पड़ी है ? तल्लीन होनेके लिये ही योगाभ्यास किया जाता है; सो वह योगि-दुर्लभ तन्मयता तो हमें प्रेमके ही द्वारा प्राप्त हो चुकी है । इस भव्य भावको अब कविकी ही वाणीमें सुनिये—

जौ न जीमें प्रेम, तब कीजै व्रत-नेम, जब
कंज-मुख भूलै तब संजम बिसेखिए;
आस नहीं पीकी, तब आसन ही बाँधियतु,
सासन कै साँसन कों मूँदि पति पेखिए ।
नखतें सिखालौं सब श्याममयी बाम भईं
बाहर है भीतर न दूजो 'देव' लेखिए ;
जोग करि मिलैं जौ वियोग होय बालम, जौ
ह्याँ न हरि होय, तब ध्यान धरि देखिए ॥

सच कहियेगा उद्धवजी महाराज ! क्या अब भी व्रजकी गँवार गोपियोंको योग-दीक्षा देकर चेलियाँ बनानेका इरादा है ? यदि नहीं तो अब आप खुद ही उनसे प्रेम-दीक्षा लेकर उनके शिष्य क्यों न हो जायँ ? आप भी उन प्रेम-मतवालियोंके साथ झूमते हुए अलाप उठें—

कान्ह भये प्रानमय, प्रान भये कान्हमय,
हियमें न जानि परै, कान्ह है कि प्रान है ।

× × × ×

कैसी होती होगी प्रेमी साधककी वह अलौकिक अवस्था, जिसमें उसके मुखसे प्रेम-तन्मयताके ये दिव्य उद्गार निकलते होंगे। अहा !

तूँ तूँ करता तूँ भया तुझमें रहा समाय।
तुझमें तन-मन मिल रहा, अब कहुँ अनत न जाय॥
तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझमें रही न हूँ।
वारी तेरे प्रेमपर, जित देखूँ तित तूँ॥

—कबीर

'मैं' में खुदी है, और 'तू' में बेखुदी। जिसने अपने 'मैं' को प्यारे 'तू' में मिला दिया, खुदीको बेखुदीमें लय कर दिया, वही प्यारी तल्लीनताका सुधा-रस पियेगा, प्रेम-तन्मयताका आनन्द लूटेगा। जबतक उसकी सुधमें तुमने अपनी सुध नहीं भुला दी, तबतक उस प्रीतमकी नज़रमें तुम भी भूले ही रहोगे। पर अपनी सुध तो उस प्यारेकी कृपासे ही भुलायी जा सकती है। बेखुदीकी दौलत उस दयालुकी दयासे ही हासिल हो सकती है—

जातें सुधि भूलै सो कृपातें पाइयतु प्यारे !
फूलि-फूलि भूलौं या भरोसे सुधि हौनकौं।

—आनन्दघन

कैसी ऊँची है यह 'याद' और कैसी गहरी है यह 'भूल' ! हृदयेश्वर ! और नहीं तो हमारी यह एक अभिलाषा तो पूरी कर ही दो—

मुझमें समा जा इस तरह तन-प्राणका जो तौर है।
जिसमें न फिर कोई कहे, 'मैं' और हूँ, 'तू' और है॥

—सनेही

देखें, इस जन्ममें कभी यह सुख प्राप्त होता है।



प्रेममें अधीरता

प्रेमीको धैर्य कहाँ ? अरे भाई ! उसकी अधीरता ही उसकी धीरता है। आत्यन्तिक विरहासक्तिमें, मिलनकी परमोत्कण्ठामें प्रेमकी जो गहरी अधीरता होती है, उसका आनन्द विरले ही भाग्यवान् जानते हैं। उस अकथनीय अवस्थामें एक क्षण एक कल्पके समान बीतता है। दिलमें एक अजीब छटपटाहट पैदा हो जाती है, आँखें एक दर्द-भरे मीठे-से नशेमें मस्त हो झूमने लगती हैं, मनपर अपना काबू नहीं रहता, ऐसा लगता है, मानो कहीं उड़ा-सा जा रहा है। कब आयगी वह घड़ी, कब मिलेगा वह प्रियतम, कब बुझेगी इन आँखोंकी तड़पभरी प्यास, कब मौजकी लहर लहरायगी दिलके दरियामें—आदि भावनाओंमें जिस किसीका मन आतुर और अधीर हो गया, उसकी प्रेम-साधना सफल है, उसका जीवन धन्य है। प्रेमाधीरतामें बस कब-ही-कब दिखायी देता है। यहाँतक कि 'अब' भी उस 'कब' के गहरे रंगमें रँग जाता है। ऊँचे प्रेमी कबीरने प्रियतमकी दर्शनोत्कण्ठामें प्रेमाधीरताका कैसा सजीव चित्र खींचकर रख दिया है। कहते हैं—

यहि तनका दिवला करौं, बाती मेलौं जीव।
लोहू सींचौं तेल ज्यों, कब मुख देखौं पीव॥

वह मिले तो मैं यह भी सब करनेको तैयार हूँ। इस देहका दीपक बनाकर उसमें जीवकी बत्ती रखूँगी और अपने हृदयरक्तसे उस प्रेम-ज्योतिको सदा सींचती रहूँगी। देखूँ, इस दियेके उँजेलेमें

अपने प्रेमास्पदका मुख कब देखनेको मिलता है। हा! कबतक उसकी प्रतीक्षा करूँ!

देखत-देखत दिन गया, निसि भी देखत जाय।
बिरहिन पिय पावै नहीं, केवल जिय घबराय॥

—कबीर

क्या करूँ, क्या न करूँ! कैसे पाऊँ अपने उस प्यारेको—

जो घन-आनँद ऐसी रुची तौ कहा बस है, अहा प्राननि पीरैं।
पाऊँ कहाँ हरि, हाय! तुम्हें, धरनीमें धँसौं कै अकासहिं चीरैं॥

—आनन्दघन

× × × ×

एक व्रजाङ्गनाकी प्रेमाधीरता देखते ही बनती है। एक दिन, वनमें बलराम और कृष्णको गायें चराते-चराते भूख लग आयी। उस दिन मैया यशोदाने समयपर छाकतक न भेजी। थोड़ी दूरपर कुछ ब्राह्मण यज्ञानुष्ठान कर रहे थे। सो ग्वालबालोंने श्रीकृष्णके कहनेपर उन याजकोंसे कुछ भोजन माँगा। पर वे कोरे कर्मठ ब्राह्मण ग्वालोंके लड़कोंको यज्ञकी रसोई भला देने चले? क्रोधित हो बोले—हट जाओ सामनेसे। क्यों अपवित्र दृष्टि डालते हो? यह रसोई हमने तुम ग्वालोंके छोकरोंके ही लिये तो राँधी है!

यज्ञ हेतु हम करीं रसोई। ग्वालन पहले देहिं न सोई॥

बेचारे बालक निराश होकर लौट आये। श्रीकृष्णने कहा, भैया! तुम तो उनकी स्त्रियोंसे जाकर माँगो। वे अवश्य देंगी, क्योंकि—

उनके मन दृढ़भक्ति हमारी। मानि लैहिं वै बात तुम्हारी॥

हुआ भी वही। बड़े ही प्रेमसे अनेक प्रकारके पकवान ले-ले-

कर द्विज-पत्नियाँ स्वयं ही राम-कृष्णको अपने हाथसे भोजन कराने चलीं। कठोर कर्मठोंने बहुत रोका, पर उन प्रेम-मूर्ति व्रजाङ्गनाओंने उनकी एक न सुनी। और तो सब सविनय अवज्ञा करके चली गयीं, केवल एक ब्राह्मणी अपने पतिदेवके धर्म-पाशमें फँस गयी। बेचारी पतिके पैरोंपर नाक रगड़-रगड़कर कहने लगी—

देखन दै वृंदावन-चंद।
हा हा कन्त, मानि विनती यह, कुल-अभिमान छाँड़ि मतिमंद॥
कहि, क्यों भूलि धरत जिय औरै, जानत नहिं पावन नँदनंद!
दरसन पाय आयहौं अबहीं, हरन सकल तेरे दुखद्वंद॥
—सूर

वृन्दावनचन्द्र श्यामसुन्दरकी झलक नेक देख आने दो। उस प्यारे गोपाललालको यह कटोरा भर केसरिया दूध पिला आने दो। सभी सहेलियाँ तो गयी हैं। इस मिथ्या कुलाभिमानमें क्या रखा है। छोड़ क्यों नहीं देते यह दम्भाचार? अरे, तुम इतने बड़े विद्वान् होकर भी एक मूर्खकी भाँति बात कर रहे हो! मनमें पाप विचारते हो! बालकृष्णमें मेरी पवित्र प्रीतिको तुम शायद किसी और दृष्टिसे देखते हो। क्या कहूँ तुम्हारी बुद्धिको! छोड़ो, जाने दो मुझे, आर्यपुत्र! उस प्राणप्यारे गोपालका मुखचन्द्र मुझे देख आने दो। हा! मैं कैसे जाऊँ। नन्द-नन्दनको कैसे देख आऊँ!

रति बाढ़ी गोपाल सों।
हा हा! हरि लों जान देहु प्रभु, पद परसति हौं भाल सों॥
सँगकी सखी स्याम सनमुख भईं, मैं हिं परी पसु-पाल सों।
परबस देह, नेह अन्तर्गत, क्यों मिलौं नयन-बिसाल सों॥
—सूर

वहाँ संगकी सब सखियाँ अपने-अपने हाथसे प्यारे कृष्ण और बलरामको प्रेमसे भोजन करा रही होंगी, हाय ! मैं ही अकेली यहाँ इस पशु-पालके पाले पड़ी छटपटा रही हूँ। भले ही यहाँ यह पराधीन देह तड़पा करे, हृदयके भीतर तो कृष्ण-प्रेमकी आग जलती ही रहेगी। उस आगको कौन बुझा सकता है !

पिय, जनि रोकहि अब जान दै।
हौं, हरि-बिरह-जरी जाचति हौं, इतनी बात मोहि दान दै॥
बेनु सुनौं, बिहरत बन देखौं, यह सुख हृदय सिरान दै।
पुनि जो रुचै सोइ तू कीजै, साँच कहति हौं आन दै॥
जो कछु कपट किये जाचति हौं सुनहि कथा हित कान दै।
मन क्रम बचन 'सूर' अपनो प्रन राखौंगी तन मन प्रान दै॥

नाथ ! अब मत रोको। अब तो मुझे तुम जाने ही दो। मैं कृष्णके विरहमें हाय ! कबसे जल रही हूँ। तुमसे बस, एक ही दान माँगती हूँ, न दोगे क्या ? वनमें उस वृन्दावन-विहारी गोपालको देख और उसकी बाँसुरी सुनकर मुझे अपना हृदय ठंडा कर लेने दो। इतना ही तुमसे चाहती हूँ। फिर जो तुम्हारे मनमें आवे सो करना। यह मैं निष्कपट भावसे सौगन्द खाकर कहती हूँ। न जाने दोगे, तो भी अपना प्रण तो पूरा करूँगी ही। तन, मन और प्राण भी देकर मैं प्यारे मदन-मोहनसे तो मिलूँगी ही। हा ! कबतक तुम्हें समझाऊँ। मिलनकी अवधि ही टली जाती है। लो, यह देह ले लो। तुम्हारा दावा सिर्फ इसीपर है न ? सो, इस चामकी देहको सँभालकर रख लो। प्राण तो मेरे उस प्राण-प्रिय व्रजचन्द्रके ही चरणोंमें जाकर बसेंगे—

कहँ लगि समुझाऊँ 'सूरज' सुनि, जाति मिलनकी औधि टरी।
लेहु सँभारि देह पिय, अपनी, बिन प्रानिन सब सौज धरी॥

प्रेमाधीरता रही भी यही करके—

चितवत हुती झरोखे ठाढ़ी, किये मिलन कौ साजु।
'सूरदास' तनु त्यागि छिनकमें तज्यौ कन्त कौ राजु॥

धन्य प्रेम-मूर्ति व्रजाङ्गने !

× × × ×

आत्यन्तिक विरहासक्तिमें धैर्यका भी धैर्य छूट जाता है। यह अवस्था ही कुछ ऐसी होती है। उस शरत्पूर्णिमाको, जब कालिन्दी-कूलपर श्रीकृष्णने बाँसुरी बजायी थी, ऐसी कौन व्रजवनिता थी जो स्वजन-परिजनोंके लाख रोकनेपर भी वहाँ जानेसे रुकी हो ? अहो ! वह प्रेमाधीरता !

श्रीव्रज-रत्न प्राणधन हरिको, चल सखी ! चल, देखें सत्वर।
हैं कदम्बके तले नाचते, वेणु बजाते राधावर॥
घनश्यामकी ध्वनि सुन क्योंकर मैं चातकी धैर्य धारूँ ?
क्यों न प्राण-प्यारेके ऊपर अपना तन-मन, धन वारूँ ?॥

—मधुप

कैसी खिंची जा रही हैं व्रजबालाएँ उस ओर !

सुनत चली व्रज-वधू गीत-धुनि कौ मारग गहि।
भवन-भीत, द्रुम-कुंज-पुंज कितहूँ अटकीं नहिं॥
ते पुनि तेहि मग चलीं रँगीली तजि गृह-संगम।
जनु पिंजरन तें उड़े, छुड़े नव-प्रेम-विहंगम॥

सावन-सरित न रुकै करौ जो जतन कोउ अति ।
कृष्ण हरे जिनके मन, ते क्यों रुकैं अगम गति ?

—नन्ददास

और निर्दय-निठुर स्वजन-सम्बन्धियोंने जिन व्रज-बालाओंको किसी तरह काल-कोठरियोंमें बंदकर रोक रखा था, उनकी दशा यह हुई—

जे रुकि गईं घर अति अधीर गुनमय सरीर-बस ।
पुन्य-पाप-प्रारब्ध-रच्यौ तन नाहिं पच्यौ रस ॥
परम दुसह श्रीकृष्ण विरह-दुख व्याप्यौ जिनमें ।
कोटि बरस लगि नरक भोगि अघ भुगते छिनमें ॥
पुनि रंचक धरि ध्यान पीय परिरंभन दिय जब ।
कोटि स्वर्ग-सुख भोगि छिनहिं मंगल कीनों सब ॥

—नन्ददास

उस एक क्षणकी विरह-व्याकुलताका तनिक ध्यान तो करो । करोड़ों वर्षोंके दुःखोंका लय हो जाता है उस मिलन-उत्कण्ठामें, उस अतुलनीय प्रेमाधीरतामें । आह ! कैसी होती होगी वह आतुरता ! कितने प्रेमियोंके प्राण-पक्षी न उड़ा दिये होंगे उस दयाहीना अधीरताने । पर प्रेमी तो बलि होनेके अर्थ ही जीवन धारण करते हैं । ऐसे अधीर प्रेमातुर प्राणी कबतक जीवित रह सकते हैं ? व्यर्थ ही प्रेमातुरोंको दोष देते हो । कहाँतक बेचारे धैर्य धारण किये रहें । धैर्यकी भी तो कोई हद होती है । बेचारे विरही अपने प्राण-विहङ्गमोंको कबतक बाँधकर रखे रहें । क्यों न उनके हाथोंसे छूटकर उड़ जायँ उनके छटपटाते हुए प्राण-पक्षी—

बहुत दिनानकी अवधि आस-पास परे,
खरे अरबरनि भरे हैं उठि जान कों;
कहि-कहि आवन छबीले मन-भावन कौ,
गहि-गहि राखति ही दै-दै सनमान कों।
झूठी बतिय़ानकी पत्यानी तें उदास ह्वैकैं,
अब ना घिरत 'घनआनँद' निदान कों;
अधर लगे हैं आनि करिकैं पयान प्रान,
चाहत चलन ए सँदेसो लै सुजानकों ॥

इतना धीरज क्या कुछ कम है, जो इस बेचारी कृष्णानुरागिणी गोपिकाने वहाँतक सँदेसा ले जानेके लिये अपने आतुर प्राणोंको ओठोंपर कुछ देर तो ठहरा लिया? अरे भाई! प्रेमातुरोंको इतना ही बहुत है। अब भी प्रियतम चाहें तो उस अभागिनीके प्राणोंको अधरोंसे लौटाकर उसके हृदयमें पुनः बसा सकते हैं। प्यारे कृष्ण! तनिक सुनो तो, वह क्या कह रही है। हाय री, प्रीति!

एक बिसासकी टेक गहैं लगि आस रहे बसि प्रान बटोही।
हौ 'घनआनँद' जीवन-मूरि, दई कित प्यासन मारत मोही ॥

बस, अब और क्या कहूँ!

'हरीचन्द' एक व्रत नेम प्रेम ही कौ लीनों,
रूपकी तिहारे, व्रज-भूप! हौं उपासी हौं।
ज्याय लै रे, प्राननि बचाय लै लगाय अङ्क,
एरे नन्दलाल! तेरी मोल लई दासी हौं ॥



प्रेममें अनन्यता

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

अनन्यभावसे जो मेरा निरन्तर चिन्तन करते हैं, मेरी एकान्त उपासना करते हैं, उन नित्ययोग-युक्त पुरुषोंके योग और क्षेमको मैं स्वयं ही धारण करता हूँ। उनके साधन और साध्य--दोनोंकी ही मैं रक्षा करता हूँ, उनका सारा उत्तरदायित्व मैं अपने ऊपर ले लेता हूँ; पर होनी चाहिये वह उपासना अनन्यभावेन ।

यह अनन्यभाव है क्या वस्तु ? अनन्यता ऐसी कौन-सी महासाधना है, जिसपर स्वयं भगवान्का भी इतना अधिक विश्वास है ? जिस भावनाके द्वारा चराचर जगत्में एक ही प्रियतम दिखायी दे, उस एकको छोड़ दूसरेकी कल्पना भी न मनमें उठे, वही अनन्यता है। सुकवि ठाकुरने नीचेके पद्यमें अनन्यताकी कैसी विशद व्याख्या की है—

कानन दूसरो नाम सुनैं नहिं, एक ही रंग रँग्यौ यह डोरो ।
धोखेहुँ दूसरो नाम कढ़ै, रसना मुख बाँधि हलाहल बोरो ॥
'ठाकुर' चित्तकी वृत्ति यही, हम कैसेहुँ टेक तजैं नहिं भोरो ।
बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ जे साँवरो छाँड़ि निहारतीं गोरो ॥

जिनमें उस प्यारे साँवलेके लिये ठौर नहीं, जिन्होंने उसके श्यामरूपको अपना काजल नहीं बना लिया, जो उस काले रंगमें तल्लीन न होकर गोराईपर मर रही हैं, वे आँखें भी भला, कोई आँखें हैं ! उनका तो फूट जाना ही अच्छा है। उन अभागिनी आँखोंको ज़रूर मोहकी आगमें जल जाना चाहिये।

बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ जे साँवरो छाँड़ि निहारतीं गोरो ॥

और, जिन आँखोंसे उस प्यारेको देख लिया, उनसे अब उसे छोड़ और किसे देखें—

तुझे देखें तो फिर औरोंको किन आँखोंसे हम देखें ?
ये आँखें फूट जायें गर्चे इन आँखोंसे हम देखें।

श्रीरामचन्द्रजीके अनन्य भक्त गोसाईं तुलसीदासने भी विनय-पत्रिकाके एक पदमें अपनी चञ्चल इन्द्रियोंको इसी भाँति अनन्यताकी दृढ़ डोरीसे कसकर बाँधा है। कहते हैं, मैं तो श्रीजानकी-जीवन रघुनाथजीपर बलि जाऊँगा। उनपर अपनेको न्योछावर कर दूँगा। सीतारामजीके चरणारविन्दोंको छोड़ अब मैं इधर-उधर भटकता न फिरूँगा, वहीं निश्चल हो जाऊँगा। हृदयमें कुछ ऐसी धारणा बँध गयी है कि श्रीरामके चरणोंसे विमुख होकर मैं स्वप्नमें भी अन्यत्र सुख न पा सकूँगा। कानोंसे किसी औरकी चर्चा न सुनूँगा और रसनासे किसी अन्यका गुण-गान न करूँगा। दूसरेकी ओर देखते हुए इन नेत्रोंको उधरसे मोड़ लूँगा, केवल रामचन्द्र-की ही ओर चकोरकी नाईं टक लगाकर देखा करूँगा। मस्तक भी केवल जानकी-रमणको ही झुकाऊँगा। प्रभुके साथ नाता जोड़कर और सबोंसे नाता तोड़ दूँगा। इस सबका भारी भार उसीपर है, जिस

स्वामीका मैं अनन्य सेवक हो रहा हूँ । क्या वह दयालु प्रभु मेरा सारा योग-क्षेम धारण न कर लेगा ? अब गोसाईंजीकी ही सुधामयी वाणीमें इस अनन्यभावनाका आनन्द-रस लीजिये—

जानकी-जीवनकी बलि जैहौं ।
चित कहै, राम-सीय-पद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं ॥
उपजी उर प्रतीति सुपनेहुँ सुख प्रभु-पद-विमुख न पैहौं ।
मन-समेत या तनके बासिन्ह इहै सिखावन दैहौं ॥
श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहौं ।
रोकिहौं नयन बिलोकत औरहिं, सीस ईस ही नैहौं ॥
नातो-नेह नाथसों करि सब नातो-नेह बहैहौं ।
यह छर भार ताहि 'तुलसी' जग जाकौ दास कहैहौं ॥

जिस प्रभुका अपनेको दास मान लिया, जिसके हम सब तरहसे गुलाम हो चुके, उसी एकको अब जानते और उसी एकको मानते हैं । वह चाहे जैसा हो, प्रेमीके लिये तो परमेश्वर ही है । उसके अवगुण भी गुण ही प्रतीत होते हैं । विष्णु भगवान् सद्गुणोंके कैसे निधान हैं, कैसे त्रिलोकैकसुन्दर हैं और कैसे अनुपम अद्वितीय हैं, पर अनन्योपासिका पार्वतीके हृदय-पटलपर तो श्मशानवासी दिगम्बर शिवका ही चित्र खचित है । तपस्याकी मूर्ति भगवती शैलजाकी यह दृढ़ प्रतिज्ञा है कि—

जनम कोटि लगि रगर हमारी । बरउँ संभु नतु रहउँ कुँआँरी ॥
—तुलसी

माना कि शङ्कर अवगुणोंके आगार हैं और विष्णु सर्व सद्गुणोंके सागर हैं, पर जिसमें जिसका मन अनन्यभावसे रम जाता है, उसका उसीसे काम है—

महादेव अवगुन भवन बिष्णु सकल गुनधाम।
जेहि कर मन रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥

—तुलसी

कृष्ण-रूप-रसकी मधुकरी गोपियोंने भी तो पण्डित-प्रवर उद्धवसे कुछ ऐसी ही बात प्रेम-विह्वल होकर कही थी—

ऊधो, मन मानेकी बात ।
दाख छुहारा छाँड़ि अमृतफल विष-कीरा विष खात ॥
जो चकोरकों दै कपूर कोउ, तजि कि अँगार अघात ?
मधुप करत घर कोरि काठमें बँधत कमलके पात ॥
ज्यों पतंग हित जानि आपनो दीपकसों लपटात ।
'सूरदास' जाकौ मन जासों, सोई ताहि सुहात ॥

विषके कीड़ेको विष ही रुचिकर प्रतीत होता है। वह मूर्ख अमृत-जैसे मीठे फलोंको छोड़कर विष खाता है! चकोरको कितना ही कपूर चुगनेको दो, पर क्या वह अङ्गारोंको छोड़कर तुम्हारे कपूरसे कभी तृप्त होगा? अब पद्म-प्रेमी भ्रमरको लो। जो कठोर काठको भी कुरेद-कुरेदकर उसमें घर बना लेता है, वही कमलके कोमल कोशके भीतर सहज ही बँध जाता है। और, पतंगेके समान अन्धा और कौन होगा। वह मूढ़ सर्वस्व नष्ट कर देनेवाले दीपकको प्रेमालिङ्गन देनेके अर्थ अधीर हो दौड़ता है। इन वज्र-मूर्ख प्रेमियोंको क्या कहीं और सुयोग्य प्रेम-पात्र नहीं मिलते? मिला करें, पर उन्हें उनसे क्या प्रयोजन है। उनकी लगन तो उन्हींसे लग रही है। जिसका मन जिसमें लग जाता है, उसे वही सुहाता है। कविवर विहारीने क्या अच्छा कहा है—

अति अगाध, अति औथरो नदी कूप सर बाइ ।
सो ताकौ सागर जहाँ जाकी प्यास बुझाइ ॥

नदी, कुआँ, तालाब, बावली आदि कुछ भी हो और वह भी चाहे अत्यन्त गहरा हो अथवा बिल्कुल ही छिछला; जिसकी प्यास जिस जलाशयसे बुझ जाय, वही उसके लिये समुद्र है ।

आज़ादने भी खूब कहा है—

हुआ लैला प मजनू, कोहकन शीरीं प सौदाई ।
मुहब्बत दिलका इक सौदा है, जिसकी जिससे बन आई ॥

जब वहाँ दूसरेके लिये ठौर ही नहीं रहा, तब बताओ, कोई और उस भरे-पूरे मानसमें कैसे रमे । एक कृष्णानुरागिनी गोपिका उद्धवसे कहती है—

नाहिंन रह्यौ मनमें ठौर ।
नन्द-नन्दन अछत कैसे आनिये उर और ॥
चलत, चितवत, दिवस जागत, सपन सोवत राति ।
हृदयतें वह स्याम-मूरति छिन न इत-उत जाति ॥

—सूर

× × × ×

अब अनन्यताके इन दो दरजोंपर गौर कीजिये । पहला तो वह है कि *'कानन दूसरो नाम सुनैं नहिं'* या *'रोकिहौं नैन बिलोकत औरहिं'* अथवा *'गरैगी जीह जो कहौं और कौ हौं'* और दूसरा यह है कि *'हृदयतें वह स्याम-मूरति छिन न इत-उत जाति ॥'* उस मोहनकी विश्व-विमोहिनी मूर्तिको छोड़ कोई दूसरा ध्यानमें ही नहीं आता । एक ही एक है, दूसरा कोई है ही नहीं । यहाँ *'श्रवननि और*

कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहौं' का सवाल ही नहीं उठता। अब तो यही अनुभवमें आता है कि—

सियाराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

—तुलसी

मीर दर्दने भी यही बात कही है—

जगमें आकर इधर-उधर देखा,
तू ही आया नज़र जिधर देखा।

चराचर जगत्‌में जो कुछ भी नजर आ रहा है, वह सब अपने प्यारेका ही तो रूप है। उसे छोड़ दूसरी तो कोई चीज ही नहीं। परा अनन्यता यही है। परम अनन्यको सारी सृष्टि ही प्रियतममयी देख पड़ती है। महाकवि देवकी श्याममयी सृष्टिपर यह कैसी सुन्दर सूक्ति है—

औचक अगाध सिन्धु स्याहीकौ उमड़ि आयो,
तामें तीनौ लोक बूड़ि गये एक संगमें;
कारे-कारे आखर लिखे जु कारे कागद
सु न्यारे करि बाँचै, कौन जाँचै चित भंगमें।
आँखिनमें तिमिर अमावसकी रैनि जिमि,
जम्बूनद बुन्द जमुना-जल-तरंगमें;
यों ही मन मेरो मेरे काम कौ न रह्यो माई,
स्याम रंग ह्वै करि समान्यौ स्याम रंगमें॥

सर्वत्र श्यामकी ही श्यामता समा गयी है। स्रष्टा श्याम है और सृष्टि भी श्याम है। कृष्णमें जगत् है और जगत्‌में कृष्ण है। प्रेममय पुरुष और प्रेममयी प्रकृतिको कौन भिन्न कर सकता है। जहाँ देखते हैं तहाँ श्यामकी ही श्यामता देखते हैं, लालकी ही लाली नजर आती है। उस लालकी लालीको देखनेवाला भी लाल हो जाता है—

लाली मेरे लालकी जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं चली, मैं भी हो गई लाल॥

—कबीर

जिन नयनोंकी पुतलियोंमें अपने प्यारेकी छवि खिंच गयी, उनमें पर-छवि कैसे अङ्कित हो सकती है? निजत्वमें परत्वकी कल्पना कैसे की जा सकती है? सरायको भरी हुई देखकर जैसे पथिक आप ही वहाँसे लौट जाता है, वैसे ही उस निजत्वमें परत्वकी रसाई नहीं हो सकती। रहीम कहते हैं—

प्रीतम-छबि नैननि बसी पर-छबि कहाँ समाय।
भरी सराय 'रहीम' लखि पथिक आपु फिरि जाय॥

तथैव—

जिन आँखनमें तुव रूप बस्यौ उन आँखनिसों अब देखिए का?

—हरिश्चन्द्र

जिन आँखोंमें प्रियतम रम रहा है, उनमें काजलकी रेख भी नहीं लगायी जा सकती। क्योंकि वहाँ प्यारा-ही-प्यारा समा रहा है, किसी और वस्तुके लिये ठौर ही नहीं। कबीर कहते हैं—

'कबिरा' काजर-रेखहू अब तौ दई न जाय।
नैनंनि प्रीतम रमि रहा दूजा कहाँ समाय॥

रहीमने भी इस साखीके स्वरमें अपना स्वर मिलाया है—

अंजन दियौ तौ किरकिरी, सुरमा दियौ न जाय।
जिन आँखिन सों हरि लख्यौ 'रहिमन' बलि बलि जाय॥

काजल या सुरमा तो साकार वस्तु है, उन अनुरागिनी आँखोंमें तो निराकार नींद भी नहीं ठहरने पाती—

आठ पहर चौंसठ घरी, मेरे और न कोय।
नैना माहीं तू बसै नींदहि ठौर न होय॥

—कबीर

काजल देने या नींदके ठहरानेकी वहाँ ऐसी कोई ज़रूरत भी तो नहीं है। उन सबका अभाव तो प्रियतमके निवाससे ही पूरा हो जाता है। प्रियतम ही कलित कज्जल है और प्रियतम ही मीठी नींद है। कैसा ऊँचा तादात्म्य है इस प्रेमानन्यतामें !

× × × ×

अनन्य-व्रत असि-धारा-व्रतसे भी कठिन है। इस व्रतका व्रती एक पपीहा है। प्रेमी चातकका स्थान वस्तुतः प्रेम-जगत्‌में बहुत ऊँचा है। उसका प्रेम-पात्र उसपर क्रोधसे गरजता है, तरजता है, पत्थर बरसाता है और कभी-कभी तो बेचारेपर वज्र भी गिराता है, पर उस पक्षीकी अनन्यता देखो, अपने प्यारे मेघको छोड़ क्या उसने कभी किसी और-से प्रेमकी भीख माँगी है ?

उपल बरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥

—तुलसी

धन्य, चातक, धन्य !

जियत न नाई नारि, चातक घन तजि दूसरहि।
सुरसरिहूको बारि, मरत न माँगेउ अरध-जल॥

—तुलसी

प्रेमास्पद अपने प्रेमीको कितना ही तिरस्कृत करे, उसके प्रति कितना ही उदासीन रहे, पर वह तो अनन्यभावसे अन्ततक यही कहता जायगा कि 'मैं तो उसी प्रियतमका हूँ, उसी एक प्राणाधारका कोई हूँ।' बेचारा वह मर्माहत प्रेमी तो यही कहेगा—

तुमही गत हौ, तुमही मत हौ, तुमही पत हौ अति दीननकी।
नित प्रीति करौ गुन-हीननि सों यह रीति सुजान प्रवीननकी॥
बरसौ 'घन आनँद' जीवनकों, सरसौ सुधि चातक छीननकी।
मृदु हौ चितके पन पै इकके, निधि हौ हितके, रुचि मीननकी॥

—आनन्दघन

वह सरल-हृदय प्रेमी कुलिश-कठोर प्रेमास्पदके हृदयको भी 'मृदुल' और 'प्रेम-निधि' ही कहता जायगा; क्योंकि उसकी गति, उसकी मति और उसकी पत वही एक है। उसके लिये जगत्में वही तो एक ठौर है। वह कहता है—

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज कौ पंछी पुनि जहाज पै आवै॥

—सूर

यह है सच्ची प्रेमानन्यता।



प्रेमियोंका मत-मज़हब

भला, प्रेमीका भी कोई मत-मज़हव हुआ करता है! वह तो लामज़हव या धर्मसे परे ही सुना गया है। यह बात तो नहीं है। उसका भी एक धर्म होता है, उसका भी एक पन्थ माना जाता है। पर वह धर्म, वह मज़हव एकदम निराला, बिल्कुल विलक्षण होता है। उस पगलेके ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड तुम्हारे शास्त्रोंसे, तुम्हारे क़ुरानसे या तुम्हारी बाइबिलसे मेल खाते भी हैं और नहीं भी खाते। उसका नाम सब मज़हबोंमें लिखा है, और किसीमें भी नहीं। एक साथ ही वह घोर नास्तिक और परम आस्तिक है। दीनदार भी है और बेदीन भी। उसकी शाही नज़रमें, अकबरदिलीमें क्या मन्दिर, क्या मसजिद और क्या गिरजा सभी बराबर हैं। वह पण्डितोंका भी पण्डित है, मुल्लाओंका भी मुल्ला है, पादरियोंका भी पादरी है। कभी अपनी मस्तीमें वह यह गाने लगता है कि—

मक्का, मदिना, द्वारका, बद्री औ केदार।
बिना प्रेम सब झूठ है, कहै 'मलूक' बिचार॥

तो कभी उसी शानमें यह अलाप उठता है, कि—

मन मथुरा, दिल द्वारका, काया काशी जान।
दस द्वारेका देहरा, तामें पीव पिछान॥

उस मस्तरामकी रँगीली नज़रमें तुम्हारे तीर्थोंकी, लो, यह हक़ीक़त है। ठीक ही तो है, भाई!

जब इश्क़के दरियावमें होता नहीं ग़रक़ाब तू,
गंगा बनारस द्वारका पनघट फिरा तो क्या हुआ ?

प्रेम-रसमें तो डूबता नहीं, गङ्गा-यमुनामें नहाता फिरता है ! मूर्ख कहींका ! और, यही हाल पुरान-क़ुरानका भी है । दादूदयाल-की साखी है—

'दादू' पाती पीवकी, बिरला बाँचै कोइ ।
बेद कुरान पुस्तक पढ़ै, प्रेम बिना क्या होइ ॥

लो, सुना उस प्रियतमकी पत्रिका, वेद-शास्त्रोंमें पारङ्गत पण्डित भी नहीं पढ़ सकते । उस प्यारेका ख़त पढ़ लेना हर किसीका काम नहीं । क्या हुआ, जो तुम आज एक महामहोपाध्याय और शम्सुल उल्मा हो । उस पातीको तो प्यारे मित्र, एक प्रेमी ही बाँच सकता है, उस लिफाफेके अंदरका मर्मभरा मज़मून तो एक आशिक ही भाप सकता है । प्रेम-विश्व-विद्यालयकी परीक्षामें उत्तीर्ण पण्डित तुम्हारे इन पण्डितों और मौलवियोंसे एकदम निराला होता है । रसखानिने कहा है—

शास्त्रन पढ़ि पण्डित भये, कै मौलवी कुरान ।
जुपै प्रेम जान्यौ नहीं, कहा कियौ रसखान ॥

कबीरकी भी एक साखी है—

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पण्डित हुआ न कोइ ।
ढाई अक्षर प्रेमका पढ़ै सो पण्डित होइ ॥

इस 'ढाई अक्षरी' परीक्षाका पास कर लेना कितनी टेढ़ी खीर है, इसे एक 'मरजीवा' प्रेमी ही जानता है । ये पण्डित, ये मुल्ले या ये पादरी उस प्रेम-पण्डितकी योग्यताको क्या जानें । ये लोग तो मत-मज़हबका रौला मचानेवाले हैं । बुल्लेशाहने क्या खूब कहा है—

कुज रौला पाया आलमा, कुज कागजाँ पाया झल्ल।

कुछ तो इन पण्डितोंके अपने वितण्डावादमें और कुछ किताबोंके झगड़ेमें वह प्यारा कोहनूर, वह हरि-हीरा खो गया है। अरे, हाँ!

मेरा हीरा हिरायगा कचरेमें।
कोइ पूरब कोइ पच्छिम ढूँढ़ै, कोइ पानी कोइ पथरेमें॥

कहाँ खोजते फिरते हो उसे, उस लापतेको! न वह काशीमें मिलेगा, न काबेमें। इन दोनों मकानोंमें तो एक झमेला ही नज़र आता है। अपने दिलसे किसी बेदिलने कहा है—

दिल, और कहीं ले चल, ये दैरो हरम छूटें,
इन दोनों मकानोंमें झगड़ा नज़र आता है।

मन्दिरमें भी झगड़ा और मसजिदमें भी झगड़ा! अब प्रेमी बेचारा कहाँ जाय, कहाँ रहे। उसे कहीं भी तो ठौर-ठिकाना नहीं। संतवर बुल्लेशाहने कहा है—

धर्मसाला बिच धाड़वी रहंदे, ठाकुर-द्वारे ठग्ग।
मसीतां बिच कोस्ती रहंदे, आसिक-रहन अलग्ग॥

धर्मशालामें डाकुओंने अड्डा जमा रखा है, बने हुए धर्म-धुरन्धरों-ने आसन जमा लिया है, ठाकुर-द्वारोंपर ठगोंने अपना अधिकार कर रखा है और मसजिदोंमें बदमाशोंकी तूती बोल रही है। इसीसे उस साईंका आशिक अब इन सबसे अलग रहता है। उसे अपने प्यारे कृष्णका दर्शन किसी और ही ठाकुरद्वारेमें मिल रहा है। किसी और ही मसजिदमें वह नमाज़ पढ़ लिया करता है। वह एक साथ ही बुतपरस्त और खुदापरस्त है। हिंदू भी है और मुसल्मान भी है और इससे भी आगे

कुछ और है। मतलब यह कि असलमें वह आशनापरस्त है, प्रेम-भगवान्‌का पुजारी है। 'सौदा' ने कहा है—

हिंदू हैं बुतपरस्त मुसल्माँ ख़ुदापरस्त,
पूजूँ मैं उस किसीको जो हो आशनापरस्त।

ज़फ़रने उसके धर्मको और भी साफ़ तौरसे खोल दिया है—

मेरी मिल्लत है मुहब्बत, मेरा मज़हब इश्क़ है,
ख़ाह हूँ मैं क़ाफिरोंमें, ख़ाह दींदारोंमें हूँ।

भाई! चाहे मुझे नास्तिकोंमें गिना लो, चाहे आस्तिकोंमें, मेरा मज़हब तो बस इश्क़ है, मेरा धर्म तो बस प्रेम है। क़ाफिर कहो या दींदार, मुझे कोई गिला नहीं—

याँ यूँ भी वाहवा है, और वूँ भी वाहवा है।

× × × ×

क्या मुसलमान-महिला ताजको हिंदुओंके वेद-शास्त्रोंने अपनी ओर खींचकर उससे यह कहलाया था कि मैं हूँ तो मुग़लानी पर अब हिंदुवानी होकर रहूँगी? क्या उसका किसीने शुद्धि-संस्कार किया था? नहीं, कदापि नहीं, उसे तो प्रेमने ही इसलामके कूचेसे मोड़कर कृष्ण-पन्थकी फ़कीरनी बना दिया था। किसी धर्मने नहीं, बल्कि पवित्र प्रेमने उसे हिंदुवानी हो जानेको मजबूर किया था। कितनी गहरी लगन थी नन्द-नन्दनके साथ उस पगली ताजकी! बलिहारी!

सुनो दिलजानी मेरे दिलकी कहानी, तुम—
इस्म ही बिकानी, बदनामी भी सहूँगी मैं।
देव-पूजा ठानी औ नमाज भी भुलानी, तजे—
कलमा-कुरान सारे गुननि गहूँगी मैं॥

सॉँवला सलोना सिरताज सिर कुल्लेदार,
तेरे नेह-दावमें निदाघ ज्यों दहूँगी मैं।
नंदके कुमार, कुरबान तेरी सूरत पै,
हौं तौ मुग़लानी, हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं ॥

क़ुरबान हूँ तेरी साँवली सूरतपर, मेरे दिलजानी ! आज मैं तेरे प्यारे नामपर बिक गयी हूँ। अब बदनामी हो तो होने दो। यहाँ बदनामीकी ऐसी कुछ परवा नहीं है। अब मैं तेरी ही हूँ। तेरे ही प्रेमकी आगमें अब जलूँगी। मेरे प्राणोंसे भी प्यारे नन्दकुमार ! तेरी ख़ातिर यह मुग़लानी अब हिन्दुवानी होकर रहेगी। वह मतवाली मुग़लानी मूर्ति-पूजा भी करेगी, जो कि इसलाममें सरासर कुफ्र है—

बुतपरस्तीको तो इसलाम नहीं कहते हैं।

न कहें—

मातक़िद कौन है 'मीर' ऐसी मुसल्मानीका ?

बदनामी कैसी होगी। उसकी कोई चिन्ता नहीं। मस्त सरमद कह गया है—

सरमद कि बकूए-इश्क़ बदनाम शुदी,
अज़दीने यहूद सूए-इसलाम शुदी'
मालूम न शुद कि अज़ ख़ुदा वो अहमद,
बरगश्ता, बसूए लछमनो राम शुदी।

अर्थात्, सरमद इश्क़के कूचेमें—प्रेम-पन्थमें—पड़कर बदनाम हो गया, यहूदी दीन (पन्थ) छोड़कर इसलामकी ओर आया और फिर इसलामके ख़ुदा और रसूलसे मुँह मोड़कर राम और लक्ष्मणके भक्तोंमें जा मिला।*

---

* पण्डित पद्मसिंह शर्मा।

धर्म-सामञ्जस्यका साक्षात्कार प्रेमी सरमदको यहीं हुआ । इसी गलीमें उस मस्त फकीरको—

तरीक़ मसजिदो बुतख़ाना एक-सा सूझा ।

प्रेमीके हृदयके भीतर ही मन्दिर और मसजिदके नक़शे खिंचे रहते हैं । सारी खुदाई उसके सीनेके अंदर ही भरी रहती है—

शेखो बरहमन दैरो हरममें
ढूँढ़ते हो क्या लाहासिल ?
मूँद्के आँखें देखो तो है
सारी ख़ुदाई सीनेमें ।
—इन्शा

हाँ, तो प्रेमीका नज़रमें उसकी बदनामी भी नेकनामी ही है । मुबारक हो ऐसी बदनामी । किसी भूले-भटकेको प्रेमका पन्थ तो दिखा देती है । बदनामीके उस कूचेमें क्या तो मुग़लानी और क्या हिन्दुवानी !

× × × ×

परमहंस मौलाना रूमने दिल खोलकर कहा है कि मेरे नज़दीक प्रेमीका दरजा बहुत ऊँचा है । प्रेमीको न तो मक्के-मदीने जानेकी ही ज़रूरत है और न हज्ज करनेकी ही आवश्यकता है । नमाज़ पढ़ना भी उसे ऐसा लाज़िमी नहीं है । जो उस प्रियतमकी प्यारी सूरतपर क़ुरबान हो चुका है, जिसकी सुन्दरतापर सारी दुनिया पतंगेकी तरह जान दे रही है, वह तुम्हारे मक्के और नमाज़से बहुत आगे निकल गया है । प्रेमकी मस्तीमें झुकना ही उसकी नमाज़ है । उसका प्रेम-धर्म सब धर्मोंसे परे है ।

अवधूत मौलाना रूम निस्सन्देह एक ऊँचे प्रेमी थे । कहते हैं

कि उनकी अर्थीके साथ मुसल्मान, यहूदी और ईसाई सभी गये थे। यहूदी अपने धर्म-ग्रन्थ 'तौरेत' का पवित्र पाठ करते जाते थे और ईसाई पीछे-पीछे 'इंजील' सुनाते जाते थे। यहूदियोंसे पूछा गया कि मौलाना रूमसे तुम्हारा क्या सम्बन्ध था, तो उन्होंने मुसल्मानोंसे कहा कि तुम्हारा वह मुहम्मद था तो हमारा मूसा था और ईसाइयोंने यह जवाब दिया कि यदि वह तुम्हारा मुहम्मद और इनका मूसा था, तो हमारा वह ईसा था। * उस खुदमस्त मौलानाको हम प्रेमका आबेहयात क्यों न कहें, जो उन भाँति-भाँतिके नये-पुराने मज़हबी प्यालोंमें भरा हुआ था।

मत-मज़हब हो तो, भाई, इन प्रेम-मतवालोंके-जैसा हो, नहीं तो इस दुनियामें लामज़हब, बिना धर्मके, रहना ही अच्छा है। और सच पूछो तो हम सब हैं भी तबतक धर्मविहीन, जबतक समस्त धर्मोंमें व्याप्त प्रेम-रहस्यका हमें साक्षात्कार नहीं हो गया। प्रेमका भेद हम समझ जायँ, तो फिर संसारभरके धर्मोंमें जाननेको रह ही क्या जाय? निस्सन्देह 'अस्ति' और 'नास्ति' में प्रेमका भेद छिपा हुआ है, हर चीज़में इश्क़का ही मर्म समाया हुआ है—

कुफ़्र रीत क्या और सलाम रीत,
हर एक रीतमें इश्क़का राज़ है।

इन सभी प्यालियोंमें प्रेमकी ही मदिरा लबालब भरी हुई है, सब सेजोंपर एक ही स्वामी सोया हुआ है—

सब घट मेरा साइयाँ, सूनी सेज न कोय।
—कबीर

* मौलाना रूम और उनका काव्य।

पर जब बाहरी बनावसे, ऊपरी श्रृंगारसे फुर्सत मिले, तब कहीं प्रेमका भेद खुले, घट-घटमें रमे हुए रामका दर्शन मिले। फँसे तो पड़े हो पाखण्ड-पूर्ण मत-मज़हबोंके अहंकार-पंकमें और मिलना चाहते हो उस रामसे, जो केवल प्रेमका प्यासा और भावका भूखा है! यह खूब रही! अरे, पहले उस प्रेम-प्यारेके दीदारके लिये तड़पना सीख लो, तब धर्म या मज़हबकी बात करना। मछलीकी-ऐसी प्रेमभरी तड़प ही उस प्यारेसे मिला सकेगी, मुक्तिका द्वार खोल सकेगी। बिना उसकी प्यारी झलक पाये मुक्ति कहाँ?

दिलदार सों जौलों न भेंट भई, तबलों तरिबो का कहावतु है?

जिसके हृदयमें यह धारणा दृढ़ हो चुकी है कि—

नहिं हिन्दू, नहिं तुरक हम, नहिं जैनी, अँगरेज।
सुमन सँवारत रहत नित कुञ्ज-बिहारी सेज॥

—भगवतरसिक

वही अनन्य प्रेमी—

सब घट मेरा साइयाँ सूनी सेज न कोय।

इस 'साखी' का ठीक-ठीक अर्थ लगा सकेगा।

प्रिय-दर्शनके प्यासे कबीरने क्या अच्छा कहा है—

सबही तरुतर जायके सब फल लीनें चीख।
फिर-फिर माँगत 'कबिर' है दर्सन ही की भीख॥

× × × ×

इस नीरस हृदयपर तो प्रेमियोंके मत-मज़हबकी अनोखी तसबीर कुछ ऐसी खिंची हुई है—

हाँ, हम सब पंथन तें न्यारे।
लीनों गहि अब प्रेम-पंथ हम, और पंथ तजि, प्यारे!
नायँ कराय सकैं षट दरसन, दरसन, मोहन, तेरो।
दिन दूनो नित कौन बढ़ावै या हिय माँझ अँधेरो॥

जाने दो, दर्शन-शास्त्रोंके झमेलेमें न पड़ो। तुम तो वैदिक ज्ञान प्राप्त करके आत्म-साक्षात्कार कर लो। उस 'अभेद' का भेद तुम्हें वेद ही बता सकेंगे। यह ख़ूब कहा, भाई!

तो अभेद कौ भेद कहा ये वेद बापुरे जानैं।
वा झिलमिली झलक झाँकी कौ रहस कहा पहिचानैं॥

तो सूत्र-ग्रन्थोंकी शरण लो। कोई लाभ?

सूत्र-ग्रन्थ जे नहिं निरवारत बिरह-ग्रन्थि, पिय, तेरी।
पचि तिनमें सुरझन सपनेहुँ नहिं, उरझन बढ़त घनेरी॥

यही दशा स्मृतियोंकी भी है—-

सब धर्मन तें परे धर्म जो प्रीतम-प्रेम-सगाई।
ताकी धर्म-अधर्म-व्यवस्था कौन सुस्मृति करि पाई?

और, वर्णाश्रम-धर्मपर इस धर्म-विहीनके ये विचार हैं—

जो तुव ललित रूप कौ, लालन! बरन-भेद नहिं पावै।
ऐसे नीरस बरन-धर्मकों पालि कौन पछितावै॥
जोपै रस-आश्रम नहिं सेयो अति झीनो रँग-भीनों।
नाहक आश्रम-धर्म साधिकैं कौन धर्म हम कीनों॥

सारांश यह कि—

याही तें सब वेद-विहित अरु लोक धर्महूँ त्यागे।
तुव रस-छाक-छके 'हरि' अब तौ प्रेम-सुधा-रस-पागे॥

प्रेमियोंकी अभिलाषाएँ

प्रेमी भी कैसे पागल होते हैं ! पहले तो वे कोई इच्छा करते ही नहीं, यदि कभी कोई कामना की भी तो वह एक अजीब पागलपनसे भरी होती है । कोई प्रेमी अपने प्यारेके बागमें फूल-पत्ती बनना चाहेगा, तो कोई उसकी गलीकी धूल बन जानेमें ही अपनेको महान् भाग्यवान् समझेगा । किसीके हृदयमें अपने निठुर प्रियतमको देखते-देखते ही प्राण त्याग कर देनेकी आग जल रही होगी, तो किसीके मनमें यह अभिलाषा रहती होगी कि प्रेमपात्रका पत्र, मरते समय, उसके मुँहमें तुलसी-दलकी जगहपर रख दिया जाय ! कैसी अद्भुत और अनुपम अभिलाषाएँ हैं ! एक प्रेमीकी अभिलाषा देखिये । कहता है, यदि मरते समय मेरा प्यारा मित्र अपने हाथसे मेरे मुँहमें कुछ पानी चुआ दे, तो मौतकी कड़वाहटसे बढ़कर, मेरी समझमें, दुनियामें सचमुच कोई मीठा शर्बत नहीं है—

मुँहमें गर पानी चुआवे यार अपने हाथसे,
मर्गकी तल्खीसे शीरींतर कोई शर्बत नहीं ।

—जौक़

एक और हसरत बाक़ी है । वह यह कि—

आँखें मेरी तलुओंसे वह मल जाये तो अच्छा,
यह हसरते पा बोस निकल जाये तो अच्छा ।

—जौक़

मरते दम भी अगर वह प्यारा आकर अपने तलुओंसे मेरी ये अभागिनी आँखें मल जाय तो अच्छा हो। किसी तरह उसके पैर चूमनेकी हसरत तो दिलसे निकल जाय। लाख करो, भाई, ये सब तड़प-भरी हसरतें निकलनेकी नहीं। अपना ऐसा भाग्य कहाँ, जो उसे देखते-देखते मौतको छातीसे लगायँ। यहाँ यह सुख कहाँ कि—

प्रीतम देखत जो मरि जाउँ तौ, मैं बलि जाउँ, महादुख छूटै।

—प्रेमसखी

इससे, अब यह एक ही अभिलाषा है—

यह तन जारौं छारकै, कहौं कि 'पवन उड़ाव।'
मकु तेहि मारग उड़ि परै कंत धरै जहँ पाव॥

—जायसी

क्यों न इस देहको जलाकर भस्म कर दूँ और हवासे कह दूँ कि इस राखको तू उड़ा ले जा। शायद उड़ती-उड़ती कभी यह राख उस मार्गपर पड़ जाय, जहाँ वह प्रियतम अपने पैर रखता हो। उस साईंके पैर चूम लेनेकी अपनी हसरत इसी तरह निकल सकती है। इतना भी जो न हो सका, तो, भाई, मुझे कूचए-यारमें, प्यारेकी गलीमें, कृपाकर दफ़्न कर देना। बुलबुलकी क़ब्र उसकी प्यारी फुलवाड़ीमें ही बननी चाहिये। खूब!

दफ़्न करना मुझको कूचए यारमें,
क़ब्र बुलबुलकी बने गुलजारमें।

टुक, चकोरकी अभिलाषा तो देखिये। उसके आग चुगनेका रहस्य आज किस खूबीके साथ खुल रहा है—

चिनगी चुगत चकोर यों, भसम होय यह अंग।
लावैं सिव निज भालपै, मिलै पीव ससि संग॥

पिय सौं मिलौं भभूत बनि, ससि-सेखरके गात।
यहै बिचारि अँगारकों चाहि चकोर चबात॥

धन्य है चाही चकोरकी चाहको !

× × × ×

अब कुछ कृष्ण-प्रेमोन्मत्तोंकी अलौकिक अभिलाषाएँ देखिये। बादशाह-वंशकी ठसक छोड़ देनेवाले रसिक रसखानि, सुनिये क्या कहते हैं—

मानुष हौं तो वही 'रसखानि' बसौं ब्रज-गोकुल-गाँवके ग्वारन।
जो पसु हौं तौ, कहा बसु मेरो, चरौं नित नन्दकी धेनु मझारन॥
पाहन हौं तौ, वही गिरिकौ, जो धर्‌यौ कर छत्र पुरन्दर-धारन।
जो खग हौं तौ बसेरो करौं मिलि कालिन्दी कूल कदंबकी डारन॥

और तो और, आप पाषाणतक होना चाहते हैं ! प्यारे कृष्णके कर-कमलका मृदु स्पर्श मिलना चाहिये, फिर वह चाहे किसी तरह मिले। गोवर्धनगिरिकी शिलाओंका अहोभाग्य ! क्यों न रसखानिके सरस हृदयमें यह मधुमयी अभिलाषा अंकुरित हो—

पाहन हौं तौ वही गिरिकौ, जो धर्‌यौ कर छत्र पुरन्दर-धारन।

कृष्णगढ़ाधीश भक्तवर नागरीदासजीकी भी कतिपय अनोखी अभिलाषाएँ हैं। देखिये, उनमें कितनी उत्कट उत्कण्ठा है—

कब वृन्दावन-धरनिमें चरन परैंगे जाय।
लौटि धूरि धरि सीस पै कछु मुखहूमें पाय॥
पिक, केकी, कोकिल, कुहुक, बन्दर-वृन्द अपार।
ऐसे तरु लखि निकट कब मिलिहौं बाँह पसार॥
कबै झुकत मो ओर कौं ऐहैं मदगज-चाल।
गर-बाहीं दीने दोऊ प्रिया नवल नँदलाल॥

कब दुखदायी होयगो मोकों बिरह अपार।
रोय-रोय उठि दौरिहौं कहि-कहि नन्द-कुमार॥
नैन द्रवैं, जल धार बह, छिन-छिन लेत उसाँस।
रैनि अँधेरी डोलिहौं गावत जुगल उपास॥
चरन छिदत काँटेन तें स्रवत रुधिर, सुध नाहिं।
पूँछत हौं फिरि हौं तहाँ, खग मृग तरु बन माहिं॥
हेरत टेरत डोलिहौं कहि-कहि स्याम सुजान।
फिरत-गिरत बन सघनमें यौंहीं छुटिहैं प्रान॥

आत्यन्तिक विरहकी कैसी विशद वर्णना है! प्रेमके कैसे भव्य भाव हैं! कैसी अनूठी अभिलाषाएँ हैं! इसे कहते हैं विरह-वेदनाकी पुनीत धारा। त्रिताप-सन्तप्त प्राणियो! पखार लो इस धवल धारामें अपने-अपने अंग। ऐसी स्वर्गीय दिव्य धाराको बहानेवाले विरही नागरी-दासको धन्य है! ऐसी ही अमन्द अभिलाषाएँ रसिकवर ललितकिशोरी-जीकी भी हैं। वह भी मस्त होकर, नागरीदासके सरस स्वरमें, अपना स्वर मिला रहे हैं; सुनिये—

कदँब-कुंज ह्वैहौं कबै श्रीवृन्दावन माहँ।
'ललितकिशोरी' लाड़िले बिहरैंगे तेहि छाहँ॥
सुमन-वाटिका विपिनमें, ह्वैहौं कब मैं फूल।
कोमल कर दोउ भावते धरिहैं बीनि दुकूल॥
मिलिहैं कब अँग छार ह्वै, श्रीबन-बीथिन-धूरि।
परिहैं पद-पंकज बिमल मेरे जीवन-मूरि॥
कब कालिन्दी-कूलकी ह्वैहौं तरुवर-डार।
'ललितकिसोरी' लाड़ले झुलिहैं झूला डार॥

अहा! ऊपरकी इन परम पावन पंक्तियोंमें प्रेमोन्मत्त भक्त प्रकृतिके

अणु-परमाणुके साथ तन्मय होकर अपने प्रियतमकी कैसी उत्कण्ठित उपासना कर रहा है ! भावुकजन प्रकृतिको अपने उपास्यके रूपमें देखते हैं । उनका प्रेमादर्श प्रकृतिमें ओतप्रोत रहता है । प्रेमी धूल, पवन, वृक्ष-लता, फूल-फल, चकोर, मोर आदि सब कुछ बननेको तैयार है, पर शर्त यह है कि वे सब उसे उसके प्रियतमके मिलनमें सहायक और साधक हों । अस्तु, ललितकिशोरीजीकी यह भी क्या अच्छी अभिलाषा है । आप कहते हैं—

जमुना-पुलिन-कुंज गहवर की
कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ ।
पद-पंकज-प्रिय लाल मधुप ह्वै
मधुरे मधुरे गुंज सुनाऊँ ॥
कूकर ह्वै बन-बीथिन डोलौं,
बचे सीथ संतनके पाऊँ ।
'ललितकिसोरी' आस यही मम
ब्रज-रज तजि छिन अनत न जाऊँ ॥

'जो खग हौं तौ बसेरो करौं मिलि कालिन्दी कूल कदंबकी डारन'—कामनासे '*जमुना-पुलिन-कुंज-गहवरकी कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ*' इस अभिलाषाका कैसा सुन्दर मिलन हुआ है । धन्य है व्रजरजको ! कौन अभागा उस पतित-पावन रजको छोड़कर अब अन्यत्र भटकने जायगा ! हठीले हठीने भी उस प्यारे कुँवर कान्हसे व्रजका चिरन्तन सम्बन्ध माँगा है । कहते हैं—

बन कीजै रावरेई गोकुल-नगर कौ ॥

अहा ! कैसी अतुलनीय अभिलाषा है-—

गिरि कीजै गोधन, मयूर नव-कुंजन कौ,
पसु कीजै महाराज नन्दके बगर कौ;
नर कीजै तौन जौन 'राधे राधे' नाम रटै,
तरु कीजै बर कूल कालिन्दी-कगर कौ।
इतने पै जोई कछु कीजिए कुँवर कान्ह !
राखिए न आन फेरि 'हठी' के झगर कौ;
गोपी-पद-पंकज-पराग कीजै, महाराज !
तृन कीजे रावरेई गोकुल-नगर कौ॥

ओड़छेके व्यास बाबा भी कुछ ऐसा ही अभिलाष-राग अलाप रहे हैं। उनके इस संगीतमें उत्कण्ठा और उन्मत्तताका कैसा मधुर मिलन हुआ है—

ऐसो कब करिहौ मन मेरो।
कर करवा हरवा गुंजन कौ कुंजन माहिं बसेरो॥
भूख लगै तब माँगि खाउँगो, गिनौ ना साँझ सवेरो।
ब्रज-बासिनके टूक जूँठ अरु घर-घर छाछ-महेरो॥

हे नाथ ! मेरा मन ऐसा कब कर दोगे, जब हाथमें तो होगा माटीका करवा और गलेमें पड़ी होगी गुंजाओंकी माला। कब कुंजोंमें बसेरा लेता और ब्रज-बासियोंके जूठे टुकड़े खाता फिरूँगा ! जब भूख लगेगी, तब घर-घरसे छाछ-महेरी माँग लिया करूँगा। फिर क्या साँझ और क्या सबेरा। सिर्फ़ एक माटीका करवा ही अब आपकी सारी सम्पत्ति होगी। इस फ़क़ीरीमें भी ग़ज़बकी शाहंशाही है। व्यासजीके भाग्यको धन्य है !

तीन गाँठ कौपीनमें, बिन भाजी बिन नौन।
'तुलसी' मन सन्तोष जो, इन्द्र बापुरो कौन॥

रसिक-वर सहचरिशरणकी भी एक उत्कण्ठापूर्ण लालसा देखते चलिये। इन शब्दोंमें कितनी व्याकुलता और अधीरता है—

छिति-पति लेत मोल पसु-पच्छिन, इहि बिधि कबै लहौगे ?
रबि-दुहिता सुर-सरित भूमि जिमि रस उर कबै बहौगे ?
पकरत भृंग कीटकों जैसे, तैसे कबै गहौगे ?
'सहचरि-सरन' मराल मान-सर मन इमि कबै रहौगे ?

प्यारे, लो, आज बता तो दो, मुझे उस तरह कभी खरीदोगे—मुफ़्त ही सही—जिस तरह राजा पशु-पक्षियोंको मोल लिया करता है, जैसे यमुना और गङ्गा निरन्तर भूमिपर बहती रहती हैं, वैसे ही क्या कभी तुम अपना प्रेम-रस मेरे पाषाणवत् हृदयपर बहाओगे ? अच्छा, यह सब रहने दो, मुझे तुम वैसे कब पकड़ लोगे, जैसे किसी कीटको एक भृंग पकड़ लेता है ? प्यारे, मानसरोवरमें जैसे हंस क्रीड़ा करता है, वैसे तुम मेरे इस मानसमें कभी विहार करोगे ?

देखें, इस जन्ममें कभी वह वृन्दावनविहारी हमारे मानसमें विहार करता है या नहीं। मन तो यह कहता है, पर करें क्या ?

ह्वै बनमाल हियें लगियें, अरु ह्वै मुरली अधरा-रसु लीजै !

—मतिराम

पर वनमाल और मुरली हम हों कैसे ! वंशीका तप तो और भी महाकठिन है। उसका त्याग जगत्-प्रसिद्ध है। तनिक देखिये तो उस बाँसकी पोरके तपका प्रखर प्रताप—

मुरली गति बिपरीति कराई।
तिहूँ भुवन भरि नाद समान्यौ राधा-रमन बजाई॥

बछरा थन नाहीं मुख परसत, चरन नहीं तृन धेनु।
जमुना उलटी धार चली बहि, पवन थकित सुनि बेनु॥
बिह्वल भये नाहिं सुधि काहू, सुर-गंधर्व नर-नारि।
'सूरदास' सब चकित जहाँ-तहँ ब्रज-जुवतिन-सुखकारि॥

सो, '*है मुरली अधरा-रसु लीजै*, या '*है बनमाल हियें लगिये*, बड़ी ही कठिन साधनाकी अभिलाषा है। प्रेमकी सदा धधकती हुई आगने ही बाँसुरीको इस दरजेपर पहुँचाया है। क्यों न उसके राग प्रियतमकी प्रेम-सुधाका पान किया करें?

अब तो, भाई, हमारा हठी मन प्रेमी हरिश्चन्द्रके साथ वह अभिलाषा करनेको अधीर हो रहा है कि—

बोल्यो करै नूपुर स्रौननके निकट सदा,
पदतल माहिं मन मेरो बिहर्‌यो करै;
बाज्यो करै बंसी-धुनि पूरि रोम-रोम मुख
मन मुसुकानि मंद मनहिं हर्‌यो करै॥
'हरीचंद' चलनि मुरनि बतरानि चित
छाई रहै छबि जुग दृगनि भर्‌यो करै;
प्रानहूँतें प्यारो रहै प्यारो तू सदाई प्यारे!
पीत-पट सदा हीय बीच फहर्‌यो करै॥

इसी एक भव्य भावनामें मस्त होकर अब जीवनके शेष दिन व्यतीत करेंगे, और किसी दिन यह अभिलाष-गीत गाते-गाते ही इस दुनियासे कूच कर जायँगे—

कदँबकी छाहँ हो, जमुनाका तट हो।
अधर मुरली हो, माथेपर मुकट हो॥

खड़े हों आप इक बाँकी अदासे।
मुकट झोंकेमें हो मौजे हवासे॥
गिरै गरदन ढुलककर पीत-पटपर।
खुली रह जायँ ये आँखें मुकटपर॥
दुशालेकी .एवज हो व्रजकी वह धूल।
पड़ें उतरे हुए सिंगारके वे फूल॥
मिले जलनेको लकड़ी व्रजके बनकी।
छिड़क दी जाय धूली या सदनकी॥
अगर इस तौर हो अंजाम मेरा।
तुम्हारा नाम हो, औ, काम मेरा॥

कैसी अनुपम और अनुभवगम्य अभिलाष है! '*गिरै गरदन ढुलककर पीत-पटपर। खुली रह जायँ ये आँखें मुकटपर॥*'—उफ़! इस हृदयस्पर्शी भावका अनुभव प्रेमी भावुकने कितनी गहरी भक्तिभावनासे किया होगा। अभिलाषा कोई हो तो बस ऐसी। वाह!

गिरै गरदन ढुलककर पीत-पटपर।
खुली रह जायँ ये आँखें मुकटपर॥

× × × ×

हे नाथ! इस त्रिताप-सन्तप्त संसारमें मुझे भेज ही रहे हो, तो मुझे मेरा मनोवाञ्छित जीवन प्रदान करो। कैसा जीवन? ऐसा—

बद्धेनाञ्जलिना नतेन शिरसा गात्रैः सरोमोद्गमैः
कण्ठेन स्वरगद्गदेन नयनेनोद्गीर्णबाष्पाम्बुना।
नित्यं त्वच्चरणारविन्दयुगलध्यानामृतास्वादिना-
मस्माकं सरसीरुहाक्ष सततं सम्पद्यतां जीवितम्॥

हे कमलनयन! मेरे दोनों हाथ बँधे हुए हों, मस्तक झुका हो,

और सारे शरीरमें रोमाञ्च हो रहा हो, अंग-प्रत्यंग पुलकित हो रहा हो, गद्गद कण्ठसे प्रार्थना करता होऊँ और नेत्रोंसे आँसुओंकी वर्षा हो रही हो। तुम्हारे युगल चरण-कमलोंके ध्यानामृतका नित्य ही पान करता होऊँ। प्रभो! मेरी यही एकमात्र प्रार्थना है। ऐसा जीवन मुझे सतत प्रदान करो। यदि ऐसा जीवन देनेमें कुछ कृपणता करनी है, तो उस समय तो अवश्य ही अपनी एक प्यारी झलक दिखा देना, जब ये प्राणपक्षी इस नवद्वारके पींजड़ेको छोड़कर उड़ने लगें। बस, प्यारे!

निकल जाय दम तेरे क़दमोंके नीचे,
यही दिलकी हसरत, यही आरज़ू है।

जीवन हो तो वैसा, और मृत्यु हो तो ऐसी। तुम्हारी उस प्यारी झलकपर खुली रह जायँ, या यों ही खुली रह जायँ—ये प्यारी आँखें खुली तो रहेंगी ही—तुम्हें देखती हुई खुली रहेंगी या तुम्हें एक निगाह देख लेनेकी हसरतमें खुली रहेंगी। हाँ, सच तो कहते हैं—

आँखें जो खुल रही हैं मरनेके बाद मेरी,
हसरत य थी कि उनको मैं एक निगाह देखूँ।

—मीर

हाँ, एक यही हसरत थी, सो यह भी दिलसे न निकल सकी, दिलकी दिलहीमें रही। इसीसे ये हसरत-भरी आँखें खुल रही हैं। सच मानो, मेरे प्यारे जीवितेश्वर!

बिना, प्रान-प्यारे! भये दरस तुम्हारे हाय,
देखि लीजौ आँखें ये खुली ही रहि जायँगी॥

देखना है, तुम कभी मेरी कोई अभिलाषा पूरी करते हो या नहीं।



प्रेम-व्याधि

सचमुच प्रेम एक दुस्साध्य रोग है। इश्क़ एक बुरी बला है। तो भी इस रोगके रोगी, न जाने क्यों, भाग्यवान् कहे जाते हैं। पगले प्रेमी तो इस रोग-राजका स्वागत करते देखे गये हैं। कहते हैं कि खुशकिस्मत ही इस दर्दका मज़ा जानता है।

नहीं इश्क़का दर्द लज़्जतसे ख़ाली,
जिसे ज़ौक़ है वह मज़ा जानता है।

प्रेमकी ही भाँति यह प्रेम-व्याधि भी अकथनीय है, केवल अनुभवगम्य है। यह तो मजेके साथ सहनेकी पीड़ा है, कहनेकी नहीं। मन-ही-मन इस मर्जकी पीर उठा करती है। इस रोगके नामी रोगी बोधा कह ही गये हैं—

सहते ही बनै, कहते न बनै, मन-ही-मन पीर पिरैबो करै।

इसीसे तो यह लज़्ज़तदार है। महाकवि शेली भी तो प्रेम-पीड़ाको मधुर बतलाता है—

Love's pain is very sweet.

प्रेमकी वेदना बड़ी मीठी होती है। इस रोगकी प्यारी मिठास-को कामान्ध जन क्या जानें? यह दुनियादारोंके हिस्सेकी चीज नहीं है। इस दर्दके भेदको वे समझ ही न सकेंगे। प्रेमके दिली दीवाने ही इस कसकको जानते हैं। प्रीतिकी प्रतिमा मीरा गाती है—

हे री, मैं तो प्रेम-दिवानी
मेरा दरद न जानै कोय।

अरी, मैं प्रेममें पगली हो गयी हूँ। प्रेमके रोगने मेरे रोम-रोममें

घर कर लिया है। पर क्या कहूँ, ये सब लोग मेरा उपहास कर रहे हैं। हाय ! मेरे दर्दका जाननेहारा इस मतलबी दुनियामें कोई भी नहीं। सच है, घायलका हाल घायल ही जानता है। लगनका मारा ही प्रेमके रोगीके साथ हमदर्दी दिखाता है—

घायलकी गति घायल जानै, की जिन लाई होय।
जौहरिकी गति जौहरि जानै, की जिन जौहर होय॥

इसपर सूरकी सरस सूक्ति है—

देखौ सकल बिचारि सखी, जिय बिछुरनकौ दुख न्यारो।
जाहि लगै सोई पै जानै, प्रेम-बान अनियारो॥

अनुभवी बोधा भी यही कह रहे हैं—

प्रसव-पीर बंध्या का जानै झलकन पहिरी पीरी।
दिल जानै कै दिलवर जानै दिलकी दरद लगी री॥

प्रेमके हरे घावकी वेदना वही जान सकेगा जो उससे कभी घायल हुआ होगा—

प्रेम-घाव-दुख जान न कोई। जेहि लागे जानै पै सोई॥
—जायसी

जिसके जिगरपर एक नासूर होगा, वही दिलके ज़ख़्मको समझ सकेगा—

वही समझेगा मेरे ज़ख़्मे दिलको,
जिगर पर जिसके इक नासूर होगा।

अच्छा, आख़िर यह रोग है क्या ? कोई प्रेमी ही बता दे, इसके क्या लक्षण हैं ? रोगीको तो जरूर इसका पता होगा। मरीज़-को तो अपना यह मर्ज़ बता देना चाहिये। कहो, भाई, यह कैसा

होता है ? तुम तो इस रोगके अनुभवी हो न ? फिर बताते क्यों नहीं ? ऐं ! क्या कहा कि—

छाती जला करै है सोज़े दरूँ बलासे,
एक आग-सी लगी है, क्या जानिये कि क्या है !
—मीर

क्या जानूँ कि क्या है । अन्दर-ही-अन्दर सुलगती हुई आगसे छाती जलती रहती है । जिगरमें जैसे एक आग-सी लगी है । कह नहीं सकता कि यह क्या बला है । लो, सुन लिया ? मरीज़ साहब खुद ही परेशान हैं ! एक आग-सी सीनेमें लगी है,—बस, इतना ही वह अपने रोगका लक्षण बतला सके हैं । फिर पूछा तो कुछ कह न सके । दिलपर हाथ रखकर बस रो दिया—

पूछा जो मैंने दर्दे मुहब्बतसे 'मीर' को,
रख हाथ उसने दिल पै टुक इक अपने रो दिया ।

कोई होशियार हकीम या कुशल कविराज समझा सके तो हमें समझा दे कि आख़िर यह सीनेकी आग है क्या बला ! शायद ही कोई ठीक-ठीक समझा सके । हमें तो आशा नहीं । कबीरदासजी तो इन वैद्य-हकीमोंसे बिल्कुल निराश हैं—

'कबिरा' बैद बुलाइया, पकरि कै देखी बाहँ ।
बैद न वेदन जानई, करक करेजे माहँ ॥

रोगीको देखनेके लिये वैद्य बुलाया गया । उसने आकर नाड़ी देखी । रोगके लक्षण मिलाये । पर वह बेचारा किसी सुलझे हुए नतीजेपर पहुँच न सका । रोगका जब वह निदान ही निश्चित न कर सका, तब उपचार क्या पत्थर करता ! कलेजेकी कड़कका क्या

निदान होना चाहिये, यह उसकी बुद्धिसे बाहरकी बात थी। करते ही क्या, अपना-सा मुँह लिये वैद्यराज महोदय वहाँसे चल दिये।

× × × ×

क्यों वे लोग बार-बार रोगीको तंग करते हैं? उसकी व्यथा जानकर वे क्या करेंगे? व्यर्थ ही वे मूर्ख उसकी व्यथाके बारेमें पूछ रहे हैं—

बावरे हैं ब्रजके सिगरे, मोहि नाहक पूछत कौन व्यथा है।

यह भी भला कोई बात है! अरे—

नहिं रोगी बताइहै रोगहिं जो, सखी, बापुरो बैद कहा करिहै?

—हरिश्चन्द्र

पूछनेका यही कारण है कि रोगका ठीक-ठीक पता चल जाय और तब उसका कुछ इलाज किया जाय। यह खूब रही। इलाज तभी न किया जायगा, जब वह अपने रोगका इलाज कराना चाहेगा। दवासे तो वह कोसों दूर भागता है। कहता है—

तेरे इश्क़ने दिलमें जो दर्द दिया,
तो कुछ उससे मज़ा मैंने ऐसा लिया;
न करूँ, न करूँ, न करूँ, मैं दवा,
मैंने खाई है अब तो दवाकी क़सम।

—नजीर

लो, करो इलाज। जिसने दवा न लेनेकी क़सम खा ली है, उसका क्या इलाज करोगे? दूसरे, यह इलाज कुछ काम भी तो न देगा। यह जानते हो या नहीं कि—

प्रेम-बान जेहि लागिया, औषध लगत न ताहि।
सिसकि-सिसकि मरि-मरि जियै, उठै कराहि कराहि॥

—कबीर

इन सारी दवाइयोंसे तो रोग और बढ़ेगा ही—

मरज़ बढ़ता ही गया, ज्यों-ज्यों दवा की।

अथवा—

उपजी प्रेम-पीर जेहि आई। परबोधत होइ अधिक सो जाई॥

—जायसी

लिहाज़ा हकीम साहबसे तो अब यही कह दिया जाय कि—

जाहु बैद घर आपने, तेरा किया न होय।
जिन या वेदन निर्मई, भला करेगा सोय॥

—कबीर

प्रेम-पीर अतिही विकल, कल न परत दिन रैन।
सुन्दर स्याम सुरूप बिन 'दया' लहति नहिं चैन॥

वैद्य महाराजसे यह भी पूछ लिया जाय कि—

बीमारे इश्क़का जो न तुझसे हुआ इलाज;
कह, ऐ तबीब! तूही कि फिर तेरा क्या इलाज?

हकीम भी कैसा बेवक़ूफ़ है। प्रेमके रोगीको, लो, बुझा हुआ पानी देता है! मरीज़का तो, भाई, दिल ही ज़िन्दगीसे बुझा हुआ है—

पानी, तबीब, देहै हमें क्या बुझा हुआ!
है दिल ही ज़िन्दगीसे हमारा बुझा हुआ॥

—ज़ौक़

अब इन अनाड़ी वैद्योंसे, इन नीम हकीमोंसे काम न चलेगा। उस रोगीका इलाज तो एक वही कर सकेगा, जिसने उसके हृदयमें यह रोग-राज उत्पन्न किया है। रोगी कबसे चिल्ला रहा है, पर कोई सुनता ही नहीं। सुनो, वह क्या कहता है—

ना वह मिलै न मैं सुखी, कहु क्यों जीवन होय।
जिन मुझको घायल किया, मेरी दारू सोय॥
—दादूदयाल

सो अब कोई उस निठुरसे जाकर कह दे कि—

हा हा! दीन जानि वाकी वीनती ये लीजै मानि,
दीजै आनि औषध वियोग रोग-राजकी।
—आनन्दघन

अरे, वह दवा देना क्या जाने। वह क्या इलाज करेगा। खैर, उसे ही बुला लो। पर पीछे रोगी यही कहेगा कि—

पहले नमक छिड़ककर ज़ख्मोंको कसके बाँधा,
टाँका लगा-लगाकर फिर खोल-खोल डाला।

कुछ भी कहे, पर आराम उसे इसी इलाजसे मिलेगा। प्रेमके रोगका उस प्यारेके ही पास नुस्खा है। वही रोगका कारण है, वही वैद्य है और वही औषध भी है। महाकवि बिहारी ही लक्ष्यतक पहुँचे हैं। कहते हैं—

मैं लखि नारी-ज्ञानु, करि राख्यौ निरधारु यह।
वहई रोग-निदानु, वहै बैद, औषधि वहै॥

प्रेम-पगली मीरा भी अपने प्यारे साँवले वैद्यसे ही अपने रोग-राजकी चिकित्सा कराना चाहती है। हाँ, उस बेचारीका इलाज और कौन करेगा?

दरदकी मारी बन-बन डोलूँ, बैद मिला नहिं कोय।
मीराकी तब पीर मिटैगी, जब बैद सँवलिया होय॥

× × × ×

उस गरीबके कलेजेके अन्दर एक घाव हो गया है। पर उस-पर मरहम लगाना भी मना है, भले ही वह नासूर बन जाय—

अय मेरे ज़ख़्मेजिगर ! नासूर बनना है तो बन;
क्या करूँ इस ज़ख़्मपर मरहम लगाना है मना।

पड़ा-पड़ा बेचैनीसे बस कराहता रहता है। अच्छा तो हो सकता है, पर है उस मनमौजी वैद्यके हाथकी बात। कौन वैद्य? अरे, वही प्यारा साँवला वैद्य। प्रेमकी सेजपर उस घायलको लिटाकर यदि वह वैद्य अपने सुन्दर रूपकी आँचसे उसके घावको सेंक दे, और अपनी बरौनियोंकी सुई लेकर आँखोंके लाल डोरेसे टाँके लगा दे, तो उसका ज़ख़्मेजिगर उसी वक्त ठीक हो जाय। और वैद्य महाराज ही उसे अपने लावण्यका मधुर हलुवा भी खिलाते जायँ, तब कहीं उसे उस इलाजसे आराम मिलेगा। अब आप रसिकवर सहचरिशरणजीकी सुधामयी वाणीमें इस सुन्दर भावको सुनिये—

उरमें घाव रूपसों सेंकै, हितकी सेज बिछावै!
दृग-डोरे, सुइयाँ बर बरुनी, टाँके ठीक लगावै॥

मधुर सचिक्कन अंग-अंग-छवि-हलुवा सरस खवावै।
स्याम तबीब इलाज करै जब, तब घायल सचु पावै॥

वह साँवले हकीम साहब अब भी तशरीफ़ न लाये, तो फिर रोगीके बचनेकी कोई आशा नहीं।

× × × ×

दिलकी बीमारीमें एक सबसे बड़ी आफ़त तो, जनाब, यह है कि बेचारे रोगीको कोई तसल्ली देने भी तो नहीं आता। हाँ, कभी-कभी कोई ख़बर लेने आते हैं, तो सिर्फ़ दो—अफ़सोस और रोना। इस बीमारीमें किसीने साथ दिया है, तो बस इन्हीं दो दिली दोस्तोंने। ज़ौक़ने क्या अच्छा कहा है—

कभी अफ़सोस है आता, कभी रोना आता,
दिले बीमारके हैं दो ही अयादतवाले।

अमीरने इसका समर्थन किया है—

'अमीर' आया जो वक्तेबद तो सबने राह ली अपनी;
हज़ारों सैकड़ोंमें दर्दोग़म दो आशनाँ ठहरे।

अफ़सोस और रोना कहो या दर्दोग़म कहो, हैं दो ही इस मरीज़के सच्चे साथी। दर्द दर्दका साथी भी है और उसकी दवा भी है। दर्द ही दर्दकी दवा है। दर्द जब हदसे गुज़र जाता है, तब वह ख़ुद ही दवाका काम कर जाता है—

दर्दका हदसे गुज़र जाना है दवा हो जाना।

दर्दकी किससे उपमा दें! दर्द, बस, दर्द-सा ही है। चाहे जिस पहलूसे देखो, रहेगा दर्द ही। ज़ौक़ कहते हैं—

दर्द वह शै है कि जिस पहलूसे लौटो दर्द है।

तो फिर हम दर्द-जैसी पुरअसर दवासे नफ़रत क्यों करें। प्रेम-पीरका तो, भाई, हृदय-द्वारपर स्वागत करना चाहिये। इस पीरका वर्णन कौन कर सकता है। हृदय वर्णन करना चाहे तो उसके वाणी नहीं और वाणी कुछ कहना चाहे तो उसके हृदय नहीं। बेदिल ज़बान या बेज़बान दिल दर्देमुहब्बतकी तसबीर कैसे खींच सकता है?

बयाने दर्देमुहब्बत जो हो तो क्योंकर हो?
ज़ुबाँ न दिलके लिए है, न दिल ज़ुबाँके लिये।

राम करे, यह ज़ख़्मेजिगर कभी अच्छा न हो, यह घाव ऐसा ही हरा बना रहे। किसीने क्या अच्छा कहा है—

I felt this instant deeply wounded with the love

of God, a wound so delightful that I desired it never might be healed.

अर्थात्—

कहा निकासन आई उरतें काँटो, अरी हठीली!
चुभ्यौ रहन दै, लागति वाकी मीठी कसक चुभीली॥

प्रेमीजन इस असाध्य व्याधिका स्वागत करनेके अर्थ पलक-पाँवड़े बिछाये खड़े रहते हैं। इस मधुर पीरका आनन्द लूटनेको बड़े-बड़े ज्ञानी-ध्यानी लालायित रहा करते हैं। इस दर्दमें ही हँसते-हँसते प्राण-पक्षी उड़ा देनेके लिये मतवाले साधक प्रेम-पुरीमें पागल-सरीखे घूम रहे हैं। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि और पीर-पैगम्बर प्रेम-पीरकी मौतके इच्छुक रहा करते हैं। उस मौतका मज़ा कुछ निराला ही है—

मज़े जो मौतके आशिक़ बयाँ कभू करते,
मसीहो खिज़्र भी मरनेकी आरज़ू करते।

प्रेमियोंका मरण! अहा! कैसा सुखदायी मरण होता है—

आह! क्या सहल गुज़र जाते हैं जीसे आशिक़!
ढब कोई सीख ले उन लोगोंसे मर जानेकी। —मीर

× × × ×

वैद्य महाराज, तुम्हारे उस रोगीकी आज बड़ी शोचनीय अवस्था है। अब उसकी व्याधि सचमुच असाध्य हो गयी है। तनिक भी दया तुम्हारे हृदयमें हो तो अपनी खास दवा देकर अब भी उस ग़रीब रोगीको बचा लो—

थाकी गति अंगनकी, मति परि गई मन्द,
सूखी झाँझरी-सी ह्वैकैं देह लागी पियरान;
बावरी-सी बुद्धि भई, हँसी काहू छीन लई,
सुखके समाज जित-तित लागे दूरि जान।

'हरीचन्द' रावरे बिरह जग दुखमयो,
भयो, कछु और होनहार लागे दिखरान;
नैन कुम्हलान लागे, बैनहु अथान लागे,
आओ प्राणनाथ, अब प्रान लागे मुरझान ॥

अस्तु; वैद्य महोदय आये और उन्होंने रोगीको देखा। रोगीका चेहरा खिला हुआ था। आँखोंमें गुलाबी रंगत थी और ओठोंपर एक हल्की-सी मुस्कराहट। न दर्द था, न घबराहट। वैद्य बेचारेको बड़ा आश्चर्य हुआ। यह कैसी बीमारी! ऐसे रौनक़दार चेहरेको बीमारका चेहरा कौन कहेगा! नहीं, बात कुछ और है। सुनिये—

उनके देखेसे जो आ जाती है मुँह पै रौनक,
वह समझते हैं, कि बीमारका हाल अच्छा है!

इसलिये—

जो वाके तनकी दसा देख्यौ चाहत आप।
तौ, बलि नैकु बिलोकिए चलि औचक चुपचाप ॥
—बिहारी

इतना ही नहीं, वह नेकदिल मरीज़ अपने सारे दर्द और रंज-को उस हकीमके आगे दबा लेता है। यह क्यों? इसलिये कि उसकी कोमल आँखोंको बीमारकी यह हालत देखकर कहीं कुछ ठेस न लग जाय। अपने प्यारे हकीमका उसे इतना ज़्यादा खयाल है। अपने शोक-समूहसे वह प्रेमका रोगी कहता है—

ठेस लग जाये न उनकी हसरते दीदारको।
ऐ हुजूमे ग़म! सँभलने दे ज़रा बीमारको ॥
—जिगर

कैसा कुसुमाधिक कोमल तथापि हृदय-भेदी भाव है!



प्रेमोन्माद

प्रेममें एक प्रकारका पागलपन होता है। ऊँचे प्रेमी प्रायः पागल देखे गये हैं। इस पागलपनमें एक विशेष प्रकारका शान्तिमय आनन्द आया करता है जिसका अनुभव पागल प्रेमीको ही हो सकता है—

There is a pleasure sure in being mad,
Which none but mad men know.

निश्चय ही पागल हो जानेमें एक प्रकारका आनन्द है, जिसे केवल पागल ही जानते हैं। प्रेमकी दीवानगीमें जो चूर हो गया, समझ लो, उसका बेड़ा पार है। प्रेमकी हाटमें पागल ही पैर रखता है, क्योंकि वहाँ मुफ़्त ही अपना सर बेचा जाता है। पगला मीर कहता है—

सौदाई हो तो रक्खे बाज़ारे इश्क़में पा,
सर मुफ़्त बेचते हैं, यह कुछ चलन है बाँका।

कुछ भी हो, तिजारती दुनियाँ तो इस कामको बेवक़ूफ़ीमें ही शुमार करेगी। भला यह भी कोई रोज़गार है? सर-जैसी महँगी चीज़ बिना मोल बेच डालना कहाँकी समझदारी है? न हो समझदारी, उन नासमझ पागलोंको अपनी इस नासमझीमें ही मज़ा आया करता है। पागलपनेसे भरी मूर्खता ही उनकी सच्ची समझदारी है—

How wise they are, that are but fools in love.

भाई, जहाँ इश्क़का जूनूँ हुकूमत कर रहा हो, प्रेमका उन्माद जहाँका राजा हो, वहाँ बुद्धि अनधिकार प्रवेश कैसे कर सकेगी ? ज़रूर ही वहाँ अक़्ल मदाख़लत बेजाके जुर्ममें फँस जायगी—

शोर मेरे जुनूँका जिस जा है,
दख़्ले अक़्ल उस मुकाममें क्या है।

—मीर

अक़्ल भी एक बला है। बुद्धिका रोग बड़ा बुरा होता है। यह रोग प्रेमकी मस्तीसे ही अच्छा हो सकता है—

मैं मरीज़े अक़्ल था, मस्तीने अच्छा कर दिया !

× × × ×

पगली सहजोने प्रेमोन्मादियोंका एक बड़ा ही सुन्दर और सच्चा चित्र अंकित किया है। नीचेके लक्षण जिसमें मिलते हों, समझ लो कि वह एक प्रेमी है, एक पागल है, या दुनियाँकी नज़रमें एक ख़ासा बेवकूफ़ है—

प्रेम-दिवाने जे भये, मन भे चकनाचूर।
छके रहैं, घूमत रहैं, 'सहजो' देखि हुजूर॥
प्रेम-दिवाने जे भये, कहैं बहकते बैन।
'सहजो' मुख हाँसी छुटै, कबहूँ टपकैं नैन॥
प्रेम-दिवाने जे भये, जातिबरन गइ छूट।
'सहजो' जग बौरा कहै, लोग गये सब फूट॥
प्रेम-दिवाने जे भये, 'सहजो' डगमग देह।
पाँव परै कितकौ कहूँ, हरि सँवारि तब लेह॥

कबहूँ हकधक ह्वै रहैं, उठैं प्रेम-हित गाय।
'सहजो' आँख मुँदी रहै, कबहूँ सुधि ह्वै जाय॥
मनमें तो आनँद रहै, तन बौरा सब अंग।
ना काहूके संग हैं, 'सहजो' ना कोइ संग॥

ऐसे होते हैं प्रेमोन्मादी। वह पगला अपनी खुदमस्तीमें उछल-कूद करनेवाले शैतान मनको कुचलकर चूर-चूर कर देता है। मन-मातंगको वह प्रेम-जंजीरसे जकड़कर बाँध देता है। उसकी मस्तीके आगे मन-रूपी मस्त हाथी मुर्दा-सा पड़ा रहता है—

मन-मतंग महमंत था, फिरता गहिर गँभीर।
दोहरी, तेहरी, चौहरी परि गई प्रेम-जँजीर॥

—कबीर

वह पागल बहकती-सी बातें करता है, बिल्कुल बेमतलब, बेमानी। कभी खिलखिलाकर हँस पड़ता है, तो कभी आँसुओंका तार बाँध देता है। कौन जाने, किसलिये रोता और किसलिये हँसता है? पर इतना तो हम अवश्य जानते हैं, कि वह रहता मौजमें है। उसके रोनेमें भी रहस्य है और हँसनेमें भी रहस्य है।

प्रेमोन्मत्त भक्तवर सुतीक्ष्णकी इसी कोटिकी प्रेम-विह्वलताको गोसाईं तुलसीदासजीने जिस कौशलसे चित्रित किया है, वह देखते ही बनता है। अहा!

निर्भर प्रेममगन मुनि ज्ञानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। 'को मैं, चलेउँ कहाँ' नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछे पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥

उस पगले प्रेमीका जात-पाँतसे कोई नाता नहीं रह जाता। एक झटकेसे ही सब तोड़-ताड़कर अलग जा खड़ा होता है। लोग उसे पागल कहते हैं, और उसका साथ छोड़ देते हैं। वह मस्तराम अपनी देहतकको नहीं सँभाल सकता। रखना चाहता है पैर कहीं और पड़ता है कहीं! पर कुशल है, उसका प्यारा सदा उसके साथ रहता है। वही उसे गिरने-पड़नेसे सँभाल लेता है। कभी चुप हो जाता है, कभी प्रीतिके गीत गाने लगता है और कभी फूट-फूटकर रोने लगता है! न जाने, किसका ध्यान करता है। कुछ पता नहीं चलता। बेसुध ही देखनेमें आता है। पर कभी-कभी वह बेहोश पगला होशयारकी तरह काम करने लगता है। उसके हृदय-सिन्धुमें आनन्दकी हिलोरें उठा करती हैं। वह दीवाना न तो खुद ही किसीका साथ पसन्द करता है, और न उसे ही कोई अपना संगी-साथी बनाना चाहता है।

प्रेमका पागल कैसा मौजी जीव होता है। वह पगला मलूक अपनी प्रेम-मस्तीमें, सुनो ज़रा, क्या गा रहा है—

प्यारे, तेरा मैं दीदार-दीवाना।

घड़ी-घड़ी तुझे देखा चाहूँ, सुन साहिब रहमाना॥
हूँ अलमस्त, ख़बर नहिं तनकी, पीया प्रेम-पियाला।
ठाढ़ होउँ तो गिरि-गिरि परता, तेरे रँग मतवाला॥

उधर कबीर बाबा भी अपनी धुनमें मस्त होकर, अनुराग-राग अलाप रहे हैं। वाह!

हमन हैं इश्क़ मस्ताना, हमनको होशियारी क्या?
रहैं आज़ाद या जगसे, हमन दुनियासे यारी क्या?

जो बिछुड़े हैं पियारेसे, भटकते दर-बदर फिरते।
हमारा यार है हममें, हमनको इन्तिज़ारी क्या?

× × × ×

एक प्रेमोन्मादिनी गोपिकाकी प्रेम-दशाको महाकवि देवने क्या ही सफल कौशलके साथ अङ्कित किया है। कुँवर कान्हकी कहानी सुनकर बेचारीको उन्माद-सा हो गया है। देखें, उस निठुर कान्हको भी अब इस पगलीकी नेह-कहानी सुनकर उन्माद होता है या नहीं—

जबतें कुँवर कान्ह रावरी कला-निधान,
कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी-सी;
तबही तें 'देव' देखी देवता-सी, हँसति-सी,
खीझति-सी, रीझति-सी, रूसति-रिसानी-सी।
छोही-सी, छली-सी, छीनि-लीनी-सी, छकी-सी छीन,
जकी-सी, टकी-सी लगी, थकी, थहरानी-सी;
बीधी-सी, बधी-सी, विष-बूड़ी-सी, विमोहित-सी,
बैठी वह बकति बिलोकति बिकानी-सी॥

उस साँवलियाके दरसकी दीवानी, उस बाँसुरीवालेके प्रेमकी पगली आज इस हालतको पहुँच गयी है! प्रेम क्या-से-क्या कर देता है। वह अपने घरकी रानी आज '*बैठी वह बकति बिलोकति बिकानी-सी!*'

रसिकवर हरिश्चन्द्रने भी एक ऐसी ही उन्मादिनीका चित्र खींचा है। टुक उसे भी एक नज़र देखते चलो—

भूली-सी, भ्रमी-सी, चौंकी, जकी-सी, थकी-सी गोपी,
दुखी-सी रहति, कछु नाहिं सुधि देहकी।
मोही-सी, लुभाई, कछु मोदक-सी खायें सदा,
बिसरी-सी रहै नैकु खबर न गेहकी॥
रिस-भरी रहै, कबौं फूलि न समाति अंग,
हँसि-हँसि कहै बात अधिक उमेहकी।
पूँछे तें खिसानी होय, उत्तर न आवै ताहि,
जानी हम जानी है निसानी या सनेहकी॥

प्रेम-रसोन्मत्तकी गति अगम्य है। कौन उसकी महिमाका पार पा सकता है? उसके लक्षण विलक्षण होते हैं। श्रीमद्भागवतमें प्रेमोन्मत्त भक्तकी महिमा एक स्थलपर भगवान्‌ने स्वयं अपने श्रीमुखसे इस प्रकार गायी है—

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
हसत्यभीक्ष्णं रुदति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

अर्थात्, जिसकी वाणी गद्गद हो गयी, जिसका चित्त भावातिरेकसे द्रवित हो गया है, जो कभी रो उठता है, कभी निर्लज्ज हो उच्च स्वरसे गाने और कभी नाचने लगता है, ऐसा भक्तियुक्त महाभाग संसारको पवित्र करता है।

सहजोकी सहोदरा दयाने भी प्रेम-प्रीतिके दीवानेपर कुछ साखियाँ कही हैं। कहती हैं—

'दया' प्रेम उन्मत्त जे तनकी तनि सुधि नाहिं।
झुके रहैं हरि-रस-छके, थके नेम-व्रत नाहिं॥

प्रेम-मगन जे साधुजन, तिन गति कही न जात।
रोय-रोय गावत हँसत, 'दया' अटपटी बात॥
प्रेम-मगन गद्गद बचन, पुलक रोम सब अंग।
पुलकि रह्यौ मनरूपमें, 'दया' न ह्वै चित-भंग॥

× × × ×

उस्ताद ज़ौक़का एक प्रसिद्ध शेर है। उसमें एक पागल कहता है कि मैं प्रेमोन्मादके महोदधिकी लहरका वह केश-पाश हूँ कि सारा संसार ही मेरे पेंचोख़ममें घिरा हुआ है। मेरी भावनाएँ, जिन्होंने इस दुनियाको परेशान कर रक्खा है, चक्करमें डाल रखा है, उलझी हुई अलकावलीके समान हैं। शेर यह है——

वह हूँ मैं गेसुए मौजे मुहीते आज़मे वहशत,
कि है घेरे हुए रूये ज़िमींको पेंचोख़म मेरा।

कैसा ऊँचा रहस्यवाद है! कौन उलझने जायगा प्रेमके दीवानेकी इस उलझनमें। पागलका यह पेंचोख़म गूँगेका-सा ख़्वाब है, जिसका बयान नहीं हो सकता——

गूँगेका-सा है ख़्वाब बयाँ हो नहीं सकता।

जो प्रेममें दीवाने हैं, बेहोश हैं, वे ही तो असलमें होशयार हैं। ऐसे सोते हुए दिलवाले ही तो जाग रहे हैं——

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। ——गीता

मौलाना रूमने क्या अच्छा कहा है कि ऐसे बेहोश दिलोंपर तो भाई! जान तक निसार करनेको जी चाहता है। पर यह दीवानगी, यह बेहोशी मिलती कैसे है? सुनो, अगर एक बार भी उस प्यारे रामकी झलक पा जाओ, तो मैं दावेके साथ कहता हूँ कि तुम

इतने मस्त या पागल हो जाओगे कि अपने दुनियावी दिल और जिस्ममें आग लगा दोगे। यह दावा किसी ऐसे-वैसे आदमीका नहीं है, सूफ़ी-प्रेमके सूर्य मौलाना जलाल-उद्दीन रूमीका है।

स्वामी रामतीर्थके प्रेमोन्मादसे तो आप लोग थोड़े-बहुत परिचित होंगे ही। वह भी एक गजबका मस्त था, सच्चा प्रेमी था, पूरा पागल था। वह राम बादशाह सुनिये, क्या गा रहा है। वाह! आनन्द-ही-आनन्द है! क्या ख़ूब मेरे प्यारे राम!

डटकर खड़ा हूँ, ख़ौफ़से ख़ाली जहानमें।
तसकीने दिल भरी है मेरे दिलमें जानमें॥
गह-बगह दुनियाँकी छतपर हूँ तमाशा देखता।
गह-बगह देता लगा हूँ बहिशियोंकी-सी सदा॥
बादशाह दुनियाँके हैं मुहरे मेरी शतरंजके।
दिल्लगीकी चाल है, सब रंग सुलहो जंगके॥
रक़्शे शादीसे मेरे जब काँप उठती है ज़मीं।
देखकर मैं खिलखिलाता, कहक़हाता हूँ वहीं॥

यही अवस्था तो है गीताकी 'ब्राह्मी स्थिति'। प्रेमोन्मत्त ही इस स्थितिका एकमात्र अधिकारी है। पगली दयाबाईने बिल्कुल सच कहा है—

प्रेम-मगन जे साधुजन, तिन गति कही न जात।
रोय-रोय गावत हँसत, 'दया' अटपटी बात॥



प्रेम-प्याला

हमारे मतवाले हरिश्चन्द्रने उस दिन वासनाओंकी प्याससे छटपटाते हुए संसारसे कहा था कि—

पी प्रेम-पियाला भर-भर कर, कुछ इस मयका भी देख मजा।

प्रेम-प्यालेमें क्या भरा हुआ है, यह उसके पीनेवाले ही जानते हैं। प्रेम-प्यालेकी मदिरा विलक्षण है। इस लोककी मदिरा तो है ही क्या, स्वर्गकी भी सुरा उसके आगे तुच्छातितुच्छ है। उसमें अनन्त सत्य है, असीम सौन्दर्य है, अतुल कल्याण। एक बार उस प्यालेको ओंठसे लगा लो और अपने जीवनको जीवन्मुक्तिके रंगमें रंग डालो। उस प्यालेका मोहनमधु जब रोम-रोममें भर जाता है, तब फिर किसी और शराबके पीनेको जी नहीं चाहता। कबीरकी एक साखी है—

'कबिरा' प्याला प्रेमका, अन्तर लिया लगाय।
रोम-रोममें रमि रहा, और अमल क्या खाय॥

प्रेम-प्यालेकी मदिरासे ही स्वर्ग-सुधाने जन्म पाया है। आबेहयातका झरना उसी प्यारे प्यालेसे झर रहा है। संत मलूकदासने इस प्यालेके मतवालेकी दशा यों दिखायी है—

दर्द-दिवाना बावरा अलमस्त फ़कीरा।
एक अकीदा लै रहा, ऐसा मन धीरा॥
प्रेम-पियाला पीवता, बिसरे सब साथी।
आठ पहर झूमत रहै ज्यों मैगल हाथी॥
बंधन काटे मोहके, बैठा निरसंका।*
वाकी नजर न आवते क्या राजा रंका॥

* कबीरदासजीके भी एक पदकी चार पङ्क्तियाँ ठीक यही हैं।

साहिब मिल साहब भया, कछु रहि न तमाई।
कह 'मलूक' तिस घर गया जहँ पवन न जाई॥

प्रेम-प्यालेको ओंठसे लगाते ही हृदयमें एक मीठी हूक उठा करती है। फिर पीनेवाला किसी मीठे दर्दमें मस्त हो जाता है, बेहोश हो जाता है। किसी एक ओर उसकी लौ लग जाती है। उसे इस बातकी याद भी नहीं रहती कि कौन उसका साथी है और वह किसका साथी है। जब देखो तब मतवाले हाथीकी तरह ढूमता-झूमता नजर आता है। उसकी दृष्टिमें न कोई राजा है, न कोई रंक। संसारी मोहके जितने नाते या बन्धन हैं उन सबको तोड़-ताड़कर वह निर्भय विचरा करता है। उसके हृदयमें तब किसी वासना या कामनाके लिये जगह ही नहीं रह जाती। अपने प्यारेसे मिलकर वह उसीका रूप हो जाता है। उस प्यालेका प्रेमी प्रेम-मद्यको पीते-पीते ही उस घर-को पहुँच जाता है, जहाँसे लौटकर फिर कोई आवागमनके चक्रमें नहीं पड़ता। अनायास ही उसे मुक्ति-लाभ हो जाता है। पर मोक्ष-पदको वह कुछ अधिक आदर नहीं देता। वह तो अपने प्रियके दर्शन-में ही सदा मस्त रहता है। कबीर साहबने कहा है—

राता माता पीवका, पीया प्रेम अघाय।
मतवाला दीदारका, माँगै मुक्ति बलाय॥
कठिन पियाला प्रेमका, पियै जो हरिके हाथ।
चारों जुग माता रहै, उतरै जियके साथ॥

प्रेमकी सुरा पीनेसे जीवन-मरणका भय हृदयसे निःशेष हो जाता है। जो इसमें छक गया, उसकी दृष्टिमें संसार संसार नहीं। या तो वह निश्चिन्त विचरता रहता है या मतवाला होकर मौजके

हौजमें पड़ा रहता है। एक बार भी जिसने इस प्रेम-मदिराको ओंठ-से लगा लिया, वह फिर बिना उसके रह ही नहीं सकता—वह तो सदा उसकी चाहमें ही डूबा रहता है। धन-दौलतको वह पानीकी तरह बहा देता है। सर्वस्व ही क्यों न चला जाय, पर वह प्रेम-सुराका पीना न छोड़ेगा—

सुनु धन, प्रेम-सुराके पिए। मरन-जियन डर रहै न हिए॥
जेहि मद तेहि कहाँ संसारा। की सो घूमि रह की मतवारा॥
जा कहँ होइ बार इक लाहा। रहै न ओहि बिनु ओही चाहा॥
अरथ दरब सो देइ बहाई। की सब जाहु, न जाइ पियाई॥

—जायसी

× × × ×

बस, एक ही प्याला चाहिये, गुरुदेव! एक ही प्याला। साक़ी, हाथ जोड़ता हूँ, तेरे पैरों पड़ता हूँ। दया करके एक प्याला दे दे। क्या पूछा कि प्याला लेकर क्या करेगा? तेरी दी हुई प्रेम-सुराको पीकर उसकी मस्तीमें एक खेल खेलूँगा। तेरे मदिरालयमें, तेरे मयख़ानेमें न जाने कितने प्रेम-योगियोंने वह खेल खेला है। मैं भी एक कन्था सी लूँगा और उसे कन्धेपर डालकर योग जगाऊँगा। योग धारणकर मैं अपने बनाये संसारका प्रलय करना चाहता हूँ। योगी बनकर मैं उस देशको जाऊँगा, जो मेरे प्रियतमका ठौर है। इस देशमें रहना अब मुझे तनिक भी नहीं भाता। एक-एक पल एक-एक वर्ष-सा बीत रहा है। जहाँ वह मेरा 'प्राण' बसता है, वहीं जानेको अब छटपटा रहा हूँ। सो, साक़ी! एक प्याला भरकर दे दे—

दे मदिरा भर प्याला पीवौं। होइ मतवार काँथरा सीवौं॥
सो काँथर काँधे पर डारउँ। जोगी होइ जग चाहत मारउँ॥
होइ जोगी तेहि देसहि जाऊँ। है जेहि देस सुप्रीतम ठाऊँ॥

मोहि यह देस न भावत, छन है बरस-समान।
अब तेहि देस सिधारऊँ, जहाँ रहत वह प्रान॥

—नूरमुहम्मद

जो कुछ भी दाम तू एक प्यालेका लेना चाहेगा, मैं खुशी-खुशी दे दूँगा। अपना प्यारा मन भी मैं हँसते-हँसते सौंप दूँगा। तेरे इस पवित्र मदिरालयको मैं अपनी पलकोंसे बुहार दूँगा। सो, अब तो दया कर, मेरे प्यारे साक़ी!

एक पियाला भर मद दीजै। मोल पियारो मानस लीजै॥
पिअउँ सुरा सब चिन्ता मारउँ। पलकनसों मद-सदन बोहारउँ॥

—नूरमुहम्मद

साक़ी, इस तरहका कोई प्याला पिला दे कि जिसके पीते ही मेरा निठुर 'साईं' मुझे चाहने लगे—

तू आज दुआ, साक़ी, गर मेरी लिया चाहे,
इस ढबकी पिला दे मै, पीते ही पिया चाहे।

संत रैदास भी कुछ ऐसा ही गा गये हैं—

देहु कलाली! एक पियाला। ऐसा अवधू है मतवाला॥

अरे भाई! उस प्रेम-प्यालेको कौन कमबख़्त न पीना चाहेगा। वह मद्य ही ऐसा है। क्या पी रहे हो तुम सब इन गन्दी और रद्दी शराबोंको। मेरे दोस्तो! तुममेंसे कोई अंगूरका मद्य पी रहा है तो कोई किसी परीज़ादीकी नशीली आँखड़ियोंसे शराब ढाल रहा है। कोई धन-दौलतकी शराबमें चूर है, तो कोई अधिकारकी मदिरा चढ़ाकर बेहोश पड़ा है। पर इन सबका नशा जानते हो, कबतक ठहरेगा? ये सब चन्द मिनटोंके नशे हैं। इन प्यालोंमें एक बूँद भी न रहेगी। ये मद-माती रसीली आँखें गड़हेमें घुस जायँगी। चञ्चला लक्ष्मी भी

अठलाती हुई न जाने किस द्वारसे कब निकल जायगी और अधिकारोंका मद तो देखते-ही-देखते उतर जायगा। फिर प्यारे मित्रो! क्यों ऐसी झूठी और गन्दी शराबोंपर मर रहे हो! क्यों नहीं खरीद लेते वह प्रेम-सुरा, जिसे पीकर तुम लोग उस सेजपर जाकर सो जाओगे, जहाँ बक़ौल मौलाना रूम, सूर्य भी तुम्हें न जगा सकेगा, जहाँ महाप्रलय भी तुम्हारी शान्ति-निद्रा भङ्ग न कर सकेगा। धन्य है वह वारुणी!

यह वह मै है जिसके पीनेसे और ध्यान छुट जाता है।
अपनेमें औ दिलवरमें फिर कुछ भेद नहीं दिखलाता है॥
इसके सुरूरमें मस्त हरेक अपनेको नज़र बस आता है।
फिर और हवस रहती न ज़रा कुछ ऐसा मज़ा दिखाता है॥
टुक मान मेरा कहना, दिलको इस मैखानेकी तरफ़ झुका।
पी प्रेम-पियाला भर-भरकर, कुछ इस मैका भी देख मज़ा॥

—हरिश्चन्द्र

स्वर्गकी भी तो एक प्रकारकी सुरा सुननेमें आती है। अजी, वह कुछ नहीं है। कर्मकाण्डियोंकी कोरी कल्पनामात्र है। बेचारे उससे अपना थका-माँदा मन बहला लेते हैं। न खुद ही उसे पी पाते हैं, न किसीको पिला ही सकते हैं। गालिबने एक कर्मकाण्डीको कैसा लज्जित किया है—

वाइज़, न तुम पियो, न किसीको पिला सको,
क्या बात है तुम्हारी शरावे तहूरकी!

शरावे तहूरकी, स्वर्ग-सुराकी यह दशा है! एक बार भी इन नीरस कर्मकाण्डियोंको हमारी प्रेम-मदिराका स्वाद मिल गया होता, तो फिर ये अपनी कल्पित स्वर्ग-सुराका कभी प्रसङ्ग ही न छेड़ते। इसलिये इन कर्मठ रोगियोंकी दवा प्रेम-प्याला ही है। इनमेंसे कोई पूछे

तो बता देना कि थोड़ी-सी प्रेम-मदिरा पी लो, नीरसताका असाध्य रोग दूर हो जायगा——

जो पूछे ज़ाहिदे खुश्क अपनी दारू, कह दो, मै पी ले ॥

—ज़ौक़

बस, प्रेम-प्यालेमें ही एक ऐसा मद्य भरा हुआ है, जो इस नीरस जीवनको रसमय बना देता है । और, रस ही तो इस लोक और उस लोकका एकमात्र सार है——

एहि जग माहँ एक रस सारा । रस बिनु छूछ सकल संसारा ॥

—उसमान

वह आत्म-रस प्रेम-प्यालेमें ही तुम्हें घुला मिलेगा । इससे भाई ! हम तो बार-बार हरिश्चन्द्रके स्वर-में-स्वर मिलाकर यही कहेंगे कि—

पी प्रेम-पियाला भर-भरकर कुछ इस मैका भी देख मज़ा ।

जितना यह मद्य पिया जाय, पी लो । प्यालेपर प्याला ढालते जाओ । ऐसा सुअवसर बार-बार नहीं मिला करता । अहा ! कैसा मज़ेदार प्याला है ! अन्तमें, कविवर देवके साथ-साथ सुरति-कलारीके हाथसे एक प्याला लेनेको हमारा भी मन अधीर हो रहा है——

घुरतें मधुर, मधु रसहू बिधुर करै,
मधु रस बेधि उर गुह रस फूली है ;
ध्रुव-प्रहलाद-उर हुव अहलाद जासों,
प्रभुता त्रिलोकहूकी तिल-सम तूली है ।
बेदम-से बेद-मतवारे मतवारे परे,
मोहे मुनि देव 'देव' सूली-उर सूली है ;
प्याला भरि दै री, मेरी सुरति कलारी, तेरी—
प्रेम-मदिरा सों मोहि मेरी सुधि भूली है ॥

प्रेम-पन्थ

न जाने, कबसे यह थका-माँदा, भूखा-प्यासा पथिक इधर-उधर भटक रहा है। कहाँ-कहाँ मारा-मारा फिरता है बेचारा! यह भी तो नहीं जानता कि उसका लक्ष्य-स्थान किधर है, कहाँ है। हमें तो सन्देह है कि यह भूला-भटका मुसाफिर अपने इष्ट-स्थानतक कभी पहुँचेगा भी या नहीं। इसे अभीतक वह रास्ता ही नहीं मिला, जो उसे उसके प्यारेके क़दमोंतक पहुँचा दे। बेचारेको कोई उधरसे लौटा हुआ भी तो नहीं मिला। किससे पूछे, क्या करे?

उततें कोइ न बहुरा, जासे बूझै धाय।
इततें सबही जात हैं, भार लदाय-लदाय॥
नावँ न जानै गाँवका, बिन जाने कित जाँव।
चलता-चलता जुग भया, पाव कोस पर गाँव॥

—कबीर

उधरकी तरफ़ दो रास्ते गये हैं, एक ज्ञानका, दूसरा प्रेमका। हैं दोनों ही कठिन। सुना है कि—

ज्ञान क पंथ कृपानकै धारा। परत खगेस, होइ नहिं बारा॥

—तुलसी

और—

यह प्रेमकौ पंथ करार महा, तरवारकी धार पै धावनो है।

—बोधा

ज्ञानका पन्थ कृपाण-धारा हो या कुसुम-धारा, इसका हमें पता नहीं, पर प्रेमका पन्थ तो निस्सन्देह खड्ग-धारा है। कमल-तन्तु-सा क्षीण वह अवश्य है, पर है महान् कठिन, वस्तुतः खड्ग-धारा-सा तीक्ष्ण। अत्यन्त सीधा अवश्य है, पर उसकी सिधाई है बड़ी विकट और दुर्गम। ऐसा वह प्रेम-पन्थ है—

कमल तन्तु-सो छीन, अरु कठिन खड़गको धार।
अति सूधो, टेढ़ो बहुरि प्रेम-पंथ अनिवार॥

—रसखानि

पर साथ ही—

कबहुँ न जा पथ भ्रम-तिमिर, रहै सदा सुख-चंद।
दिन-दिन बाढ़त ही रहै, होत कबहुँ नहिं मंद॥

—रसखानि

अविद्याजनित भ्रमान्धकार इस मार्गमें नहीं है। यहाँ तो सदैव सुख-सुधाकरकी आनन्द-चन्द्रिका फैली रहती है। इसमें सन्देह नहीं कि यह पथ अतिशय आनन्ददायी है। पर इसे पाना सुगम नहीं। महाकठिन साधना है। मोमके घोड़ेपर चढ़कर आगके अंदर हो निकल जानेके समान इसपर चलना है। यह काम क्या हर कोई कर सकेगा ?

'रहिमन' मैन-तुरंग चढ़ि, चलिबो पावक माहिं।
प्रेम-पंथ ऐसो कठिन, सब कोउ निबहत नाहिं॥

अपने 'इश्क़नामा'में विरही बोधाने प्रेम-पन्थकी लाजवाब तसबीर खींची है। आख़िर यह पन्थ है क्या ? इसपर चलना क्या कोई भारी बला है ! क्या पूछते हो, भाई, बहुत ही बारीक और कोमल कमलके

तारपर पैर रखकर क्या तुम आ सकोगे ! सुईके छेदसे भी तंग दरवाजेसे होकर क्या प्रतीतिका टाँड़ा लादे हुए निकल आओगे ! नेजेसे भी तेज़ नोकपर चढ़कर अपने चित्तको डिगाओगे तो नहीं ! जो इतना सब्र करनेको राज़ी हो, तो प्रेमकी इस महाकराल तलवारकी धारपर तुम खुशीसे दौड़ सकते हो–

अति छीन मृनालके तारहुतें, तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है।
सुई-बेहतें द्वार सँकीन, तहाँ परतीतिको टाँड़ो लदावनो है॥
कवि 'बोधा' अनी घनी नेजहुतें, चढ़ि तापै न चित्त डगावनो है।
यह प्रेम कौ पंथ करार महा, तरवारकी धार पै धावनो है॥

कहो, रखते हो हिम्मत ! क्यों, भाई !

'ज्ञान क पंथ कृपानकै धारा' है या 'प्रेम क पंथ कृपानकै धारा ?'

इतनी तंग है वह रस-भरी गली कि यह उन्मत्त मन धीरे-धीरे बड़ी कठिनाईसे उसमें जा सकता है। सुकवि उसमान लिखता है—

प्रेम-खोर महँ अति सँकराई। जतन-जतन मन तहाँ समाई॥
जौलौं मन तहँ ठाउ न पावा। तौलौं तन तेहि वार न आवा॥
तेहि कारन ये लोग सनेही। गलि-गलि माँसु हाड़ रह देही॥
सुख-सम्पति घरबार बिसारा। बावर भये फिरहिं संसारा॥

न जाने कितने पगले फ़क़ीर इस गलीके चक्कर काटते देखे गये हैं; पर इस कृपाण-धाराको कोई पार कर सका है, तो एक प्रेमोन्मत्त ही। प्रेमीका ही यहाँ निर्वाह है, नेमीका नहीं—

कठिन पंथ यह पाँव धरै को, खाँड़ेकी-सी धारा।
नेमी कटि-कटि परत बीच ही, प्रेमी उतरत पारा॥

—बख्शी हंसराज

यहाँ चतुराई काम नहीं देती। यहाँ तो सच्चेका काम है, कपटीका नहीं—

अति सूधो सनेह कौ मारग है, जहँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहँ साँचे चलैं तजि आपनपौ, झझकैं कपटी जे निसाँक नहीं॥

—आनन्दघन

अजी, प्रेमियोंकी क्या बात कहते हो! इस खड्ग-धारापर पैरोंसे ही क्या, सरके बल चलनेको वे तैयार रहते हैं। अपने प्यारेके मार्गपर भला, वे अपने अपवित्र पैर रखेंगे! वे तो उसपर अपने सरको पैर बनाकर चलेंगे—

वह पथ पलकन्ह जाइ बोहारौं। सीस चरनकै चलौं सिधारौं॥

—जायसी

बेहोश मतवाले प्रेमीजन प्रेम-पन्थपर चलते समय यह नहीं देखा करते कि दिन है या रात, सवेरा है या शाम, उँजेला है या अँधेरा! उन्हें इस सबकी सुध नहीं—

प्रेम-पंथ दिन-घरी न देखा। तब देखै जब होइ सरेखा॥

—जायसी

वे तो उस प्रिय-मार्गपर चलना और केवल चलना ही जानते हैं। जीवका, सच मानो, परम पुरुषार्थ इसीमें है कि वह सुराते इश्क़पर, प्रेम-पन्थपर, सरके बल चलकर किसी दिन उस प्रेम-पुरीमें अपने प्यारेके क़दम चूम ले। माना कि—

है आगे परबत कै बाटा। बिषम पहार अगम सुठि घाटा॥
बिच-बिच नदी-खोह औ नारा। ठाँवहिं ठाँव बैठ बटपारा॥

—जायसी

पर उसपर गुज़रकर मंज़िले-मक़सूदको पा जाना भी तो कोई चीज़ है । अहा !

प्रेम-पंथ जो पहुँचै पारा । बहुरि न मिलै आइ एहि छारा ॥
तेहि रे, पंथ हम चाहहिं गवना । होहु सँजूत बहुरि नहिं अवना ॥

—जायसी

इसी राहसे हम उस पार पहुँच जाते हैं, जहाँसे फिर लौटकर इधर आना नहीं होता । इस गलीकी धूल छानकर फिर गली-गलीकी धूल नहीं छाननी पड़ती । अरे, तैयार हो जाओ, हम सब भूले-भटके अब उसी पन्थपर चलना चाहते हैं । कैसी तैयारी करोगे ? सबसे पहले तो इस लोककी लाजको और उस लोककी चिन्ताको प्रीतिपर न्योछावर कर दो । यदि तुम्हारे गाँवका, तुम्हारे घरका या तुम्हारी देहका नाता तुम्हारे प्रेम-मार्गमें बाधक बन रहा हो, तो उसे भी प्रीतिपर बलि कर दो । प्रीति-नीतिको वही निभा सकेगा, जो यह समझ बैठा है कि प्रेमियोंके धड़पर सिर तो जन्मसे ही नहीं होता । प्यारे मित्र ! यदि तुम संसारके भयसे डर रहे हो, तो हाथ जोड़कर तुमसे यही विनय है कि प्रीतिके मार्गपर भूलकर भी कभी पैर न रखना । कविवर बोधाके सुन्दर शब्दोंमें—

लोककी लाज, औ सोच प्रलोक कौ वारिये प्रीतिके ऊपर दोऊ ।
गाँव कौ, गेह कौ, देह कौ नातो सनेहमें हाँतो करै पुनि सोऊ॥
'बोधा' सुनीति निबाह करै, धर ऊपर जाके नहिं सिर होऊ ।
लोककी भीति डेरात जो मीत, तौ प्रीतिके पैंड़े परै जनि कोऊ ॥

यह ऐसा अगम पन्थ न होता, तो इसपर आज सभी ऐरे-ग़ैरे चलते दिखायी देते । जायसीने कहा है—

अगम पंथ जो ऐस न होई । साध किये पावै सब कोई ॥

इसीसे तो कहते हैं कि—

'रहिमन' मारग प्रेम कौ, मत मति-हीन मझाव ।
जो डिगिहै तौ फिरि कहूँ, नहिं धरनेको पाव ॥

फिर भी, कैसी दिल्लगी है, जो ये कामान्ध बनिये प्रेमियोंका भेष बना-बनाकर, इस पवित्र प्रेम-पन्थपर चलनेकी अनधिकार चेष्टा करते ही जा रहे हैं ! यह देखो, ये लोग अपनी-अपनी काम-वासनाओंको मोहके बैलोंपर लाद-लादकर इस प्रेम-मार्गसे जानेकी तैयारी कर रहे हैं ! किस पन्थपर जाना चाहते हैं ! अरे, उसीपर, जिसपर चींटीका भी पैर फिसलता है ! उसपर जाना इन दुनियादारोंने मज़ाक बना रखा है—

'रहिमन' पैंड़ो प्रेम कौ, निपट सिलसिली गैल ।
बिछलत पाँव पिपीलि कौ, लोग लदावत बैल ॥

किमाश्चर्यमतः परम् !

× × × ×

यह गली सचमुच इतनी तंग है कि इसपर खुदीसे खाली होकर ही कोई जा सकता है । खुदी और प्यारेकी चाह, इन दोनोंकी यहाँ एक साथ गुज़र नहीं है । कबीर साहबने क्या अच्छा कहा है—

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं, हम नाहिं ।
प्रेम-गली अति साँकरी, तामें दो न समाहिं ॥

प्रेम-पन्थके इस अनधिकारी मूढ़ पथिकने भी कुछ ऐसा ही आयँ-बायँ-सायँ बक डाला है । उस बकवासपर कोई दाद तो न देगा, पर

वह ऊटपटाँग पद फिर भी लिखे देता हूँ। शायद उससे आपका कुछ मन-बहलाव हो जाय—

खोर है रसकी साँकरिया ॥
पायनि गड़ि-गड़ि जाय कसक्की पैनी काँकरिया ॥
तापै चलै न कोइ गरबकी लैकैं गागरिया।
'हरि' घूमै इक प्रेम-रँगीली पियकी नागरिया ॥

इस मार्गको प्रेमियोंने दुर्गम और सुगम दोनों ही रूपोंमें दिखाया है। सन्त-शिरोमणि कबीरने एक साखीमें यह कहा है कि—

पियका मारग कठिन है, खाँड़ा हो जैसा।

और दूसरी साखीमें आप यह फरमाते हैं, कि—

पियका मारग सुगम है, तेरा चलन अबेड़ा।

मार्ग तो बड़ा ही सरल और सुगम है, पर तेरा उसपर चलना ही ऊटपटाँग-सा है! पगली, नाचना तो खुद जानती नहीं, आँगनको टेढ़ा बतलाती है! हाँ, सच तो है—

पियका मारग सुगम है, तेरा चलन अबेड़ा।
नाच न जानै बावरी, कहै आँगना टेढ़ा ॥

बेचारी बाटका क्या दोष है। पथिक ही राह छोड़ ऊबड़-खाबड़में होकर जा रहा है। साईंके द्वारपर इस तरह वह कैसे पहुँच पायगा—

बाट बिचारी क्या करै, पथी न चलै सुधार।
राह आपनी छाँड़िकै, चलै उजार-उजार ॥

—कबीर

बस, बात यही है कि जबतक हमारे हृदयमें अहंकार रहेगा, तबतक हम कदापि इस सुगम मार्गपर ठीक तौरसे न चल सकेंगे। इस राहपर चलनेके तो, भाई, मंसूर-जैसे अलमस्त आशिक़ ही आदी हैं।

× × × ×

प्रेमकी गली कैसी पेचीदा है! *'गोकुल-गाँवको पैंड़ो ही न्यारो'* है। यहाँ एक नहीं, दो-दो चीज़ें ला-पता हो जाती हैं। 'मैं' भी खो जाता हूँ और मेरा दिल भी खो जाता है। मैं दिलको खोजता हूँ और दिल मुझे खोजता है। कैसी अनोखी पहेली है यह!

तेरी गलीमें आकर खोये गये हैं दोनों,
दिल मुझको ढूँढ़ता है, मैं दिलको ढूँढ़ता हूँ।

—हश्र

किसी खोये हुएको खोजने चले थे। बलिहारी हमारी खोजपर! धन्य है यह प्रेम-पन्थ! ख़ुद अपनेको ही खो दिया। मीरसाहब हैरान और परेशान हो कहते हैं—

उसे ढूँढ़ते 'मीर' खोये गये,
कोइ देखे इस जुस्तजू की तरफ़!

ऐसा है यह मार्ग! धन्य हैं वे आशिक़ फ़कीर, जिन्होंने इस पन्थपर चलकर अपने दर्दीले दिलको और ख़ुद अपनेको भी खो दिया। मुबारक हों वे प्रेम-रससे लबालब भरे हुए दिलके कटोरे, जो इस गलीमें उसे खोजते हुए, ख़ुद ही कहीं गुम हो गये। जुस्तजू बस, इसे कहते हैं। दिल खो जाता है और

खुद अपना भी पता नहीं चलता। नुक़सान-ही-नुक़सान है। नफ़ाका कहीं नाम भी नहीं। फिर भी सच्चे प्रेमी इस पन्थपर चलनेसे रुकते नहीं। ज़रा, उनकी हिम्मत तो देखो। इसे कहते हैं साहस। कहते हैं कि मार्ग कैसा ही कठिन हो, हम डरनेवाले नहीं। हमारा पैर उसपरसे डिगनेवाला नहीं, फिसलनेका नहीं। अजी, हम तो हम, हमारे खूनको देखो। जब क़ातिल हमें क़त्ल करता है, तब वह उसकी तलवारसे कैसा चिपट जाता है। जब तलवारकी धारसे हमारा खूनतक अलग होना नहीं चाहता, तब क्या यह सोचा जा सकता है कि हम इस प्रेम-पन्थको घबराकर छोड़ देंगे ? उस्ताद ज़ौकका यह सुनहला भाव है। सो, अब उन्हींके शब्दोंमें—

सुराते इश्क़पर अज़बसके है साबित क़दम मेरा,
दमे शमशेर क़ातिलपर भी खूँ जाता है जम मेरा।

खूब ! किसकी तारीफ़ करें—शमशेरकी या खूनकी ! वाह !

दमे शमशेर क़ातिलपर भी खूँ जाता है जम मेरा।

× × × ×

कैसा अनोखा है यह प्रेम-पन्थ ! कौन इसकी महिमाका पार पा सकता है। इसपर पथिक चलते तो हैं, पर भूले हुए-से। होशयार-से दिखते हैं, पर रहते हैं वेहोश। आनन्दघन कहते हैं—

जान घनआनँद, अनोखो यह प्रेम-पंथ,
भूले-से चलत रहैं सुधिके थकित है।

इसीसे इस मार्गका यथार्थ रूप आजतक कोई समझ नहीं सका।

मारग प्रेम कौ को समुझै, 'हरिचंद' जथारथ होत जथा है।

प्रेम-मार्गके यथार्थ रूपका तो वे भी वर्णन नहीं कर सके जो इसपर चलकर अपने प्यारेकी प्यारी झलक पा चुके हैं। अक्षर और मात्राएँ जोड़नेवाले ये कवि भला, इस पन्थका यथार्थ वर्णन कर सकेंगे! इसका रूप मन और वाणीका विषय नहीं है। यह तो केवल अनुभवगम्य है। प्रेमका वर्णन प्रेम ही कर सकता है। प्रेमका पता प्रेम ही ला सकता है। प्रेमका चित्र प्रेम ही खींच सकता है।

पथिको! इस पथपर चलनेका उद्देश्य किसी विश्रान्ति-भवनमें टिक रहना नहीं है। इसका उद्देश्य तो वहाँ पहुँचना है जिसके आगे जानेका फिर कोई मार्ग ही नहीं। कविकी वाणीमें—

इस पथका उद्देश नहीं है
श्रांति-भवनमें टिक रहना;
किन्तु पहुँचना उस सीमापर,
जिसके आगे राह नहीं।

—जयशंकर 'प्रसाद'

पर, सावधान, सँभल-सँभलकर चलना—

न्यारो पैंड़ो प्रेम कौ, सहसा धरौ न पाव।
सिरके बलतें भावते, चलत बनै तौ जाव॥

—रसनिधि

कबीर साहब भी तो आगाह कर रहे हैं—

समुझि सोच पग धरौ जतनसे, बार बार डिगि जाय।
ऊँची गैल राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय॥

भाई, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि—

यह प्रेम कौ पंथ करार महा, तरवारकी धार पै धावनो है।



प्रेम-मैत्री

भाई, मित्रता तो बस प्रेममयी। सत्य, नित्य और कल्याणयुक्त मैत्री निष्काम और अनन्त प्रेमसे ही उत्पन्न होती है। प्रेम-मैत्री स्वार्थ-वासनासे मुक्त और स्नेह-भावनासे बद्ध होती है। स्नेहका एक कोमल तन्तु, इश्कका एक कच्चा धागा दो मज़बूत दिलोंको बाँधकर एक दिल कर देता है। ऐसी सच्ची दोस्तीमें खुदगरज़ीके लिये ज़रा भी जगह नहीं। बदलेकी भावना वहाँ ढूँढ़नेपर भी न मिलेगी। जिसमें बदला है, वह दोस्ती नहीं, एक तिज़ारत है—

दोस्ती, और किसी गरज़के लिए,
यह तिज़ारत है, दोस्ती ही नहीं।

मित्रतामें तो देने-ही-देनेका भाव है, लेनेका नहीं। बिना किसी प्रकारके लाभ या लोभके जिसकी मित्रता स्थिर रहती है, वही अपना सच्चा मित्र है। महात्मा कबीरदासने कहा है—

वाही नरको जान तू पूरा अपना मीत।
जो राखै बिन लाभके तुझसे प्रीत प्रतीत॥

यहाँ रहीमकी भी एक सूक्ति याद आ गयी है—

यह न 'रहीम' सराहिए, देन-लेनकी प्रीति।
प्राननि बाजी राखिए, हार होय कै जीति॥

तन, धन और मन दे देना तो एक मामूली-सी बात है, प्रेमी मित्रको तो, भाई, मित्रताकी बलि-वेदीपर अपनी प्यारी जान भी हँसते-हँसते चढ़ा देनी चाहिये। दोस्ती निभाते हुए मर जाना मरना नहीं, सदाके लिये अमर हो जाना है। कविवर नूरमुहम्मदने, 'इन्द्रावती' में एक स्थलपर कहा है—

प्रेमी ताकों जानिए, देइ मित्र पर प्रान।
मित्र-पंथ पर जिउ दिहैं जुग-जुग जियै निदान॥

जिन लोगोंने राहेदोस्तीमें, मित्रताके मार्गमें, अपने प्राण दे दिये हैं, उनके पवित्र पाद-चिह्नोंपर संसार अपना मस्तक क्यों न रखे—

जो राहेदोस्तीमें, ऐ मीर, मर गये हैं,
सर देंगे लोग उनके पा के निशान ऊपर।

स्वार्थ-त्याग ही मैत्रीका एकमात्र परिपोषक है। जहाँ स्वार्थ है, वहाँ मैत्री कहाँ ?

× × × ×

सचमुच स्वार्थीकी दोस्ती किसी कामकी नहीं। भौंरे और फूलमें भी तो मित्रता होती है। बेचारा पुष्प-परागपर कैसा पागल हो जाता है! मस्त होकर उस अधखिली कलीपर कैसा मँडराता है! पर मधु-विहीन सुमनके भी समीप जाते किसीने कभी उस उन्मत्त मधुपको देखा है? कितने रसपूर्ण पुष्पोंको चञ्चल चञ्चरीकने अपना मित्र न बनाया होगा। पर कबतकके लिये? जबतक वे उसे अपने मधु-रसका प्रणय-उपहार देते रहे। फिर भी आप पुष्पके प्रति लोभी भ्रमरकी प्रीतिको मित्रताका नाम देते हैं! सुकवि नूरमुहम्मदने क्या अच्छा कहा है—

खोटी प्रीति भँवर की आहै। भँवर आपनो कारज चाहै॥
आइ भँवात बास-रस-आसा। लै रस तजत फूल कौ पासा॥
लै रस-बास भँवर उड़ि जाई। मरत न जब सुमनस कुम्हलाई॥

फिर भी *'प्रेमी ताकों जानिए, देइ मित्रपर प्रान'* इस कसौटीपर आप भौंरेकी खोटी मित्रताको कसने जा रहे हैं? भ्रमरकी स्वार्थमयी प्रीति कहीं मित्रताका नाम पा सकती है? मित्रता तो, बस, जलके

साथ मीनकी है। केवल उसे ही 'देइ *मित्रपर प्रान*' की प्राणान्त परीक्षामें आप सर्वप्रथम उत्तीर्ण पायँगे—

धनि 'रहीम' गति मीनकी, जल बिछुरत जिय जाय।
जिअत कंज तजि अनत बस, कहा भौंर कौ भाय॥

महात्मा सूरदासने भी मधुकरकी स्वार्थमयी मित्रतापर असन्तोष प्रकट किया है—

मधुकर काके मीत भए?
दिवस चारकी प्रीति-सगाई, सो लै अनत गए॥
डहकत फिरत आपने स्वारथ, पाखँड और ठए।
चाँड़े सरे चिन्हारी मेटी, करत हैं प्रीति नए॥

मतलब पूरा हो जानेपर इतना भी तो ख़याल नहीं रहता कि वह किसी समयका अपना अभिन्नहृदय मित्र आज कौन और क्या है! कल एक अभिन्नहृदय मित्र था, आज दूसरा है! कल कोई तीसरा जिगरी दोस्त बना लिया जायगा और परसों चौथा! यह भी, भला कोई मित्रता है, कोई प्रीति है।

× × × ×

निष्कपट मैत्री निष्काम प्रेमियोंमें ही पायी जाती है। प्रेम-पूर्ण मित्रतामें कहीं छल-कपट स्थान पा सकता है? कपटी मित्रसे तो, भाई, निष्कपट शत्रु ही कहीं अच्छा है। रहीमने कपटी मित्रकी तुलना खीरेके साथ की है और ख़ूब की है। ऊपरसे तो एक दीख पड़ता है, पर भीतर अलग-अलग तीन फाँकें होती हैं। पर, जो सच्चा प्रेमी है, उसका बाहर-भीतर एक-सा रूप होता है—

'रहिमन' प्रीति न कीजिए, जस खीराने कीन।
ऊपरसे तो दिल मिला, भीतर फाँकें तीन॥

जिसके हृदय-तलमें प्रेमका अङ्कुर नहीं उगा, वही कपटका आश्रय लेगा। प्रेमका निवासस्थान सत्यमें है, और कपटका असत्यमें। अतः प्रेम और कपट, सत्य और असत्य एक साथ कैसे रह सकते हैं? यह कह देना तो बहुत ही आसान है कि हमारा-तुम्हारा मन मिल गया है, अब कौन हमें-तुम्हें जुदा कर सकता है? पर मनका मिल जाना है महान् कठिन। ज़रा-सी ठेस लगते ही, हम लोगोंके घुले-मिले हुए मन एक क्षणमें अलग हो जाते हैं। ऐसा सच्चे प्रेमके अभावसे ही होता है। यदि प्रेमने हमारे दिलोंको मिलाकर एक कर दिया होता, तो वे विलग होते ही क्यों? इसलिये प्रेमके मिलाये हुए मन ही सच्चे मिले हुए मन हैं—

'धरनी' मन मिलिबो कहा, तनिक माहिं बिलगाहिं।
मन कौ मिलन सराहिए, एकमेक ह्वै जाहिं॥

मिले हुए दिलोंका एक निराला रंग होता है। अपने-अपने स्वार्थको छोड़कर वे प्रेमका रंग धारण कर लेते हैं। हलदी अपनी ज़र्दीको छोड़ देती है और चूना अपनी सफेदीको। दोनों मिलकर प्रेमकी एक निराली लालीमें रँग जाते हैं। ऐसी तदाकार प्रीति ही परम प्रशंसनीय है—

'रहिमन' प्रीति सराहिए, मिले होत रँग दून।
ज्यों जरदी हरदी तजै, तजै सफेदी चून॥

ऐसे प्रेमी मित्र इस स्वार्थी संसारमें आज कितने हैं—

सुखोंकी चाहें हैं सबमें,
नहीं मतलब किसको प्यारा?
आँखमें बसनेवाले हैं,
कौन है आँखोंका तारा।

—हरिऔध

हम सभी अब दिन-दिन कपटी होते जा रहे हैं, क्योंकि हमारा जीवन ही प्रेमहीन है। न हम ही किसीके दिली दोस्त हैं, न हमारा ही कोई सच्चा मित्र है। हम मित्र नहीं, तिजारती बनिये हैं। हाँ, हमारे दिल मजीठके रंगमें रँगे हुए कपड़ेकी तरह होते, तो आज हमारा दोस्तीका दावा सच्चा कहा जा सकता। हमारे दिलोंपर न वह पक्का रंग है, और न हम किसीके दोस्त कहलाने लायक हैं। संतवर पल्टूदासने कहा है—

'पलटू' ऐसी प्रीति करु, ज्यों मजीठ कौ रंग।
टूक-टूक कपड़ा उड़ै, रंग न छोड़ै संग॥

पर, अब तो, भाई रोना आता है। किससे तो मित्रता करें और किससे प्रीति जोड़ें—

'पलटू' मैं रोवन लगा, जरौ जगतकी रीति।
जहँ देखो तहँ कपट है, कासों कीजै प्रीति॥

मित्रता किसीसे करनी हो तो अभिन्न-हृदय दूध और पानीकी प्यारी जोड़ीसे कुछ सीख लो। दोनों दिलबरोंके दिल कैसे घुल-मिलकर एक हो गये हैं। दूध जहाँ-जहाँ जिस भावपर बिकता है, पानीको भी वहाँ-वहाँ अपने ही मोलपर बिकवाता है। जब आग दूधको जलाने लगती है, तब अपने मित्रके साथ जल भी खुद जलने लगता है। और बिना पानीके दूध उफना-उफनाकर आगमें जब गिरने लगता है, तब जल ही उसे सान्त्वना देकर असह्य अग्नि-दाहसे बचाता है। अब आचार्य भिखारीदासके सरस शब्दोंमें इस भावको देखें—

'दास' परस्पर प्रेम लख्यौ गुन छीर कौ नीर मिले सरसातु है।
नीर बेचावतु आपुनो मोल है छीर जहाँ-जहँ जाइ बिकातु है॥

पावक जारन छीर लगै तब नीर जरावतु आपुनो गातु है।
नीर बिना उफनाइ कैं छीर सु आगिमें जातु, मिले ठहरातु है॥

कवि-कल्प-तरु बुन्देल-वीर महाराज छत्रसालने भी नीर-क्षीर-मैत्रीका समुचित समर्थन किया है—

एक-सो सुभाय, एक रूप मिलि जाय जहाँ,
बिलग उपाय तहाँ नैक न लखातु है;
रहै आपु जौलौं, तौलौं मीत को न आवै आँचु,
मीत कौ बिषादु देखि जारै निज गातु है।
बिरह-उदेग उफनातु छीर नीर विनु,
हृदय-अधार देखि सो दुख बिलातु है;
सज्जन सुचेतनकी ऐसी प्रीति 'छत्रसाल'
पानी और पै की जैसी प्रगट दिखातु है॥

संकटके समय दोनों एक दूसरेके कैसे काम आते हैं। विपद्के ही दिनोंमें तो सच्ची मित्रताकी परीक्षा होती है। गोसाईंजीने कहा है—

बिपतिकाल कर सतगुन नेहा। स्रुति कह संत मीत-गुन एहा॥

तत्रैव—

आपदकाल परखिए चारी। धीरज धर्म मित्र अरु नारी॥

अँगरेजीकी भी एक प्रसिद्ध कहावत है—

A friend in need is a friend indeed.

अर्थात्, जो गाढ़े समयपर काम आता है, वही अपना सच्चा मित्र है। तब नीर-क्षीरकी प्रेममयी मैत्रीको ही हम आदर्श मैत्री क्यों न मानें?

जो अपने प्रिय मित्रके दुःखसे दुखी नहीं होते, उनका मुख देखना भी महापाप है। भगवान् रामचन्द्रजीने अपने सखा सुग्रीवसे मैत्री-धर्मकी कैसी सुन्दर व्याख्या की है—

जे न मीत दुख होहिं दुखारी। तिनहि बिलोकत पातक भारी ॥
निज दुख गिरिसम रज करि जाना। मीत क दुख रज मेरु समाना ॥
जिन के असि मति सहज न आई। ते सठ हठि कत करत मिताई ॥

मित्रके दुःखसे दुखी होना, उसके एक रज-कणके समान दुःखको सुमेरु-सदृश मानकर, प्राण-पणसे दूर करनेपर उद्यत हो जाना हर किसीका काम नहीं है। जिसके हृदयमें निष्काम प्रेमका दीपक जलता होगा, केवल वही अपने मित्रके रज-कणवत् दुःखको सुमेरु-समान देख सकेगा। साथ ही उस दिव्य प्रकाशमें उसे अपना गिरि-सदृश दुःख एक रज-कणके समान दिखायी देगा। प्रेमके चश्मेकी कैसी कुछ करामात है! पर्वत एक रज-कणके सदृश दिखायी देता है और रज-कण एक सुमेरुके समान! कहिये, इश्क़को खुर्दबीन कहें या कलाँबीन, या दोनों ही?

मित्रके दुःखसे दुखी होना तो, बस, श्रीकृष्णने जाना। एक दीन-दरिद्र ब्राह्मणके साथ राजाधिराज यदुराजने जो स्नेहपूर्ण सहानुभूति प्रकट की, जो प्रेम-प्रीतिका भाव दिखाया, वह आज भी मृतप्राय मैत्री-धर्मके लिये सञ्जीवनीका काम दे रहा है। पथ-परिश्रान्त सुदामासे आप पूछते हैं--तुमने बड़ा कष्ट पाया, भाई, यहाँ तभी क्यों न चले आये? इतने दिन यों ही दरिद्रतामें कहाँ बिता दिये। मुझे तुम ऐसा भुला बैठे मित्र! मुझसे ऐसा क्या अपराध हो गया था? सखाके पैर बेवाइयोंसे फटे देखकर द्वारकाधीश व्याकुल हो गये। अरे, कितने काँटे लगकर टूट गये हैं मेरे प्यारे मित्रके पैरोंमें! गरीब सुदामाकी यह दैन्यदशा देखकर करुणाकर श्रीकृष्ण करुणार्द्र हो रोने लगे। पैर पखारनेको पानी परातमें भरा रखा था, पर उसे आपने

छुआ भी नहीं; प्राणप्रिय अतिथिके श्रान्त चरण भगवान्‌ने अपने प्रेमाश्रुओंसे ही धोये। धन्य!

कैसे बिहाल बिवाइनसों भये, कंटक-जाल गड़े पग जोये।
हाय, महादुख पाये, सखा, तुम आये इतै न, कितै दिन खोये!
देखि सुदामाकी दीन दसा, करुना करिकैं करुनानिधि रोये।
पानी परात कौ हाथ छुयौ नहिं, नैननके जलसौं पग धोये॥
—नरोत्तमदास

वही, वास्तवमें, लोकमान्य महापुरुष है जो एक दीन-दरिद्रको अपना अभिन्नहृदय मित्र मानकर प्रेमपूर्वक उसकी सेवा करता है। कविवर रहीमने कहा है—

जे गरीब पर हित करैं, ते 'रहीम' बड़ लोग।
कहाँ सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई जोग॥

महान्‌की महत्ता इसीमें है कि वह अपने दीन-हीन सुहृदोंके साथ सहृदयतापूर्ण समवेदना प्रकटकर उन्हें अपनी आँखोंपर बिठाये रहे। इसीमें महामहिमकी महिमा है, नहीं तो—

जिन के असि मति सहज न आई। ते सठ हठि कत करत मिताई॥

एक कविने हृदय-शून्य व्यक्तिकी तुलना महिमामय आकाशके साथ की है, जिसने विपत्तिके समय अपने मित्र सूर्यको क्षितिजमें गिरते हुए सम्हालातक नहीं। क्या ही सुन्दर सूक्ति है—

धिग् व्योम्नो महिमानमेतु दलशः प्रोच्चैस्तदीयं पदं
निन्द्यां दैवगतिं प्रयात्वभवतिस्तस्यास्तु शून्यस्य वा।
येनोत्क्षिप्तकरस्य नष्टमहसः श्रान्तस्य सन्तापिनो
मित्रस्यापि निराश्रयस्य न कृतं धृत्यै करालम्बनम्॥

धिक्कार है उस महामहिम आकाशकी महिमाको! उसका वह उच्च पद खण्ड-खण्ड होकर गिर पड़े। उसे निन्दनीय गति प्राप्त हो।

उस हृदय-शून्यका न होना ही अच्छा है । अरे, वह कैसा नीच है ! उसने अपने मित्र (सूर्य) का भी संकटके समय साथ न दिया । उस मित्रको भी हाथका सहारा देकर न सम्हाला, जो श्रान्त, निस्तेज और निराश्रय होकर सहारेके लिये हाथ पसारे हुए था । उसके देखते-देखते बेचारा विपत्-सागरमें डूब गया । धिक्कार है उस सहृदयता-शून्य असीम आकाशके अतुल वैभवको ।

× × × ×

जिस जटिल जन्मान्तरके सिद्धान्तके स्थिर करनेमें बड़े-बड़े दार्शनिक पण्डित परेशान रहते हैं, उसे हम कभी-कभी प्रेमके विमल दर्पणमें यों ही प्रतिबिम्बित देख लिया करते हैं । बिना किसी कारणके, किसी व्यक्ति या किसी स्थानको पहली ही बार देखकर, यदि हमारे हृदयमें एक अमन्द उत्साहमयी, अलौकिक आनन्दप्रदा और प्रेम-सम्भूता ममता उत्पन्न हो जाय, तो क्यों न हम विश्वास कर लें कि उस व्यक्ति या उस स्थानके साथ अवश्यमेव हमारा जननान्तर सौहार्द रहा आया है । किसी व्यक्तिके साथ इस प्रकारकी दैवी प्रीति ही सत्य, नित्य और कल्याणकारिणी मैत्री है । जननान्तर सौहार्दपर कविता-कामिनी-कान्त कालिदासकी कैसी सुन्दर सरस सूक्ति है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥

अर्थात्—

लखि कैं सुन्दर वस्तु अरु मधुर गीत सुनि कोइ ।
सुखिया जनहूके हियें उत्कंठा यदि होइ ॥

कारन ताको जानिये सुधि प्रगटी है आइ ।
जन्मान्तरके सखनकी जो मन रही समाइ ॥

कविवर टेनीसनने भी नीचेकी कवितामें उपर्युक्त सिद्धान्तका अक्षरशः समर्थन किया है——

So friend, when first I looked upon your face
Our thoughts gave answer each to each, so true,
Opposed mirrors each reflecting each;
Although I know not in what time or place,
Me thought that I had often met with you,
And each had lived in other's mind andspeech.

मित्र ! जब पहली ही बार मैंने तुम्हारे चेहरेको देखा, तब वास्तवमें, हमारे पारस्परिक विचार कुछ ऐसे मिल गये, जैसे एक दर्पणकी प्रतिच्छाया दूसरे दर्पणपर पड़ रही हो । यद्यपि मैं यह न जानता था कि मैंने तुम्हें कब और कहाँ देखा, तो भी कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं अनेक बार तुमसे मिल चुका था, और तुमने मेरे तथा मैंने तुम्हारे मन और वाणीमें, किसी अज्ञात कालमें, वास किया था ।

यह जननान्तर सौहार्द नहीं, तो फिर है क्या ? पर, ऐसा मित्र और ऐसी मित्रता हर किसीके भाग्यमें नहीं । ऐसे चिर-सम्बन्धी मित्रकी मित्रता परमपिता परमात्माकी कृपासे ही प्राप्त होती है । कविके साथ मेरी भी उस विश्व-विहारी प्रेमभगवान्से यही करबद्ध प्रार्थना है कि——

हर चाहमें डूबे हुएको मीत पूरबका कोई,
दे मिला तू, मेरे दाता, ज्यों मिलाया है मुझे ।

प्रेम-निर्वाह

किसीके साथ प्रेमका सम्बन्ध जोड़ लेना तो आसान है, पर जीवनभर उसे एक-सा निभा ले जाना बड़ा ही कठिन काम है। प्रेमका निभाना सदाचारियों और शूरवीरोंका ही काम है, विषयी और कायरोंका नहीं। जहाँ एकाङ्गी और एकरस प्रेम होता है, वहीं प्रेमका उच्च और पवित्र आदर्श देखनेमें आता है। कबीरसाहबकी एक साखी है—

> अगिनि-आँच सहना सुगम, सुगम खड़गकी धार।
> नेह-निभावन एकरस, महा कठिन ब्योहार॥

प्रेम-पात्रकी ओरसे कैसा ही रूखा और असन्तोषजनक व्यवहार क्यों न हो जाय, पर अपनी ओरसे तो वही एकरस और अनन्त असीम प्रेम आजीवन स्थिर रहना चाहिये। अपने हृदयमें ज़रा भी प्रेमकी कमी आयी कि हम कहीं मुँह दिखाने लायक भी न रहे। प्रेमसे पतित होकर न दीनके रहे, न दुनियाके। अजी, लौ लगायी सो लगायी। हाथीका दाँत बाहर निकला सो निकला। पर है यह महान् कठिन। इससे तो प्रेम न करना ही अच्छा है। बीचमें प्रीति-भंग कर देनेसे तो यही अच्छा है कि प्रीति जोड़े ही नहीं, उस व्याधिका नाम ही न ले। जप-तप, यम-नियम, ध्यान-धारणा आदि तो किसी-न-किसी भाँति सभी साध सकते हैं, पर प्रेमको एकरस निभा ले जाना किसी विरले ही वीरका काम है। कहा है—

> 'तुलसी' जप-तप, नेम-व्रत, सब सबही तें होय।
> नेह-निबाहन एकरस जानत बिरलो कोय॥

रसिक-वर नागरीदासजी तो प्रेम-निर्वाहको और भी कठिन बतला रहे हैं। आपकी दृष्टिमें *'कठिन कराल एक नेह कौ निबाहिबो'* ही है। कहते हैं—

गहिबो अकास पुनि लहिबो अथाह-थाह,
अति बिकराल ब्याल काल कौ खेलाइबो;
सेर समसेर-धार सहिबो प्रबाह बान,
गज मृगराज द्वै हथेरिन लराइबो।
गिरितें गिरन, ज्वाल-मालमें जरन, और
कासीमें करौट, देह हिममें गराइबो;
पीबो बिष बिषम कबूल, कबि 'नागर' पै
कठिन कराल एक नेह कौ निबाहिबो॥

दो या चार दिनके लिये तो सभी प्रेमी बन जाते हैं। पर उनका प्रेम *'चार दिननकी चाँदनी, फेरि अँधेरो पाख'* के समान होता है। अजी, फिर कौन किसकी याद रखता है। दुनियाबी नेहका नशा चार ही दिन रहता है। असलमें उस प्रेमको प्रेम कहना ही मूर्खता है। प्रेममें क्षणभंगुरता कहाँ, अनित्यता कहाँ? यह तो मोहका लक्षण है। प्रेम तो स्थायी, नित्य और अपरिवर्तनशील होता है। तभी तो उस खड्ग-व्रतका पालन करना परम दुष्कर है। कविवर रसिकविहारी-ने इस असि-धारा-व्रतकी कठिनाइयोंका कैसा सजीव वर्णन किया है—

आपुहितें सूली चढ़ि जैबो है सहज घनो,
सोऊ अति सहज सती कौ तन दाहिबो;
सीस पै सुमेरु धारि धायबो सहज, अरु
सहज लगै है बहु सातों सिंधु थाहिबो।
सहज बड़ो है प्रीति करिबो, बिचारौ जीय,
सहज दिखात चित्त दो दिन कौ चाहिबो;
'रसिकबिहारी' यही सहज नहीं है, मीत!
एक-सो सदाहीं साँचे नेह कौ निबाहिबो॥

दीनदयालु गिरि भी प्रेम-निर्वाहको अत्यन्त कठिन कह रहे हैं। कहते हैं कि प्रेम है तो अत्यन्त मृदुल, पर अन्ततक उसका निवाहना बड़ा कठिन है—

छल-बंचक-हीन चलै पथ याहि प्रतीति-सुसंबल चाहनो है।
तहँ संकट-बायु बियोग-लुऐं दिलकों दुख-दावमें दाहनो है॥
नद सोक बिषाद कुग्राह ग्रसैं खर धारहि तौ अवगाहनो है।
हित 'दीनदयाल' महा-मृदु है, कठिनै अति अंत निबाहनो है॥

कितनी कठिन समस्या है! प्रेमके पथपर चले, तो छल-कपट-रूपी ठग साथ न हों; विश्वासरूपी मार्ग-व्यय भी चाहिये। इस पथमें कष्टोंकी हवा है, विरहकी लूएँ चलती हैं और हृदयको दुःख-दावाग्निमें दग्ध करना पड़ता है। यहाँ शोकका नद है, जहाँ विषादके भयंकर घड़ियाल पकड़ लेते हैं, और कठोरताकी तेज़ धाराको थहाना पड़ता है। प्रेम है तो अत्यन्त सुकोमल, किन्तु अन्ततक उसका एकरस निभाना महान् कठिन है।

इसी तरह वोधाने भी ऐसी ही अनेक कठिनाइयोंका दिग्दर्शन कराते हुए अन्तमें यही निश्चय किया है—

एक हि ठौर अनेक मुसकिल यारी कै मीतसों प्रीति निबाहिबो।

प्रेम करनेमें अपना क्या जाता है। मुफ्त ही आशिक़ वन जानेमें अपना क्या बिगड़ता है। पर, हाँ, आगे कठिनाई है। प्रेमका निभाना सुगम नहीं। वहाँ साँस फूलने लगती है, जी घबराने लगता है—

नेहा सब कोऊ करै कहा करेमें जात।
करिबो और निबाहिबो बड़ी कठिन यह बात॥

—बोधा

× × × ×

कुछ भी हो, अब तो नेह निभाना ही है। भारी भूल होगी, ऐसा

कहीं सचमुच कर न बैठना। प्रेमके निभानेमें शरीरतकसे हाथ धो बैठोगे। इसकी चिन्ता नहीं, शरीर रहे या जाय। कोई फ़िक्र नहीं, मन भी हाथसे छूट जाय, दिल भी ज़ख़्मी हो जाय, तन भी उसीमें लग जाय। यह सिर भी हँसते-हँसते प्रेम-भगवान्‌के चरणोंपर चढ़ा दिया जायगा। जैसे बने तैसे अब तो प्रेमको अन्ततक निभाना ही है—

नेह निभाये ही बनै, सोचे बनै न आन।
तन दे, मन दे, सीस दे, नेह न दीजै जान॥

—कबीर

प्रेमियो! यह निश्चय कर लो कि—

मन भावै सुजान सोई करियो, हमैं नेह कौ नातो निबाहनो है।

—ठाकुर

और जो सब कुछ सहनेको तैयार नहीं हो, तो प्रेमका स्वाँग रचा ही क्यों! प्रेमका निभाना जो नहीं जानता उसे स्नेह-नदीमें धँसना ही न चाहिये—

कछु नेह-निबाह न जानत हे, तौ सनेहकी धारमें काहे धँसे?

—आनन्दघन

बल्कि अब तारीफ़ तो इसमें है कि तुम्हारे अहदे-मुहब्बतका टूटना मुश्किल ही नहीं, ग़ैरमुमकिन माना जाय। इसी अहदपर चलनेमे प्रेमियो! तुम्हारी शेरदिली है, इसी प्रणके पालनेमें तुम्हारा परम पुरुषार्थ है। प्रेमके जीवनमें कभी कोई ज़रूरत आ पड़े तो उस प्यारे पर्पाहेको अपना गुरु बना लेना। क्योंकि आदिसे अन्ततक प्रेमका एकरस निभाना एक चाह-भरा चातक ही जानता है।

रटत-रटत रसना लटी, तृषा सूखिगे अंग।
'तुलसी' चातक-प्रेम कौ नित नूतन रुचिरंग॥
बरषि परुष पाहन पयद, पंख करौ टुक-टूक।
'तुलसी' परी न चाहिए चतुर चातकहि चूक॥



प्रेम और विरह

सद्गुरु कबीरकी एक साखी है—

विरह-अगिन तन मन जला, लागि रहा ततजीव।
कै वा जानै बिरहिनी, कै जिन भेंटा पीव॥

विरहकी अग्निसे जब स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही शरीर भस्मीभूत हो चुके, तब कहीं इस प्रेमविभोर जीवका उस परम प्रियतत्त्वसे तादात्म्य हुआ। इस विरहानल-दाहका आनन्द या तो विरहिणी ही लूटती है और या वह सुहागिनी, जिसकी अपने वियुक्त प्रियतमसे भेंट हो चुकी है। महात्मा कबीरकी एक और साखी विरह-तत्त्वका समर्थन कर रही है—

विरहा कहै कबीरसों, तू जनि छाड़ै मोहि।
पारब्रह्मके तेजमें, तहाँ ले राखौं तोहि॥

इसमें सन्देह नहीं कि आत्यन्तिक विरहासक्ति ही प्रेमकी सबसे ऊँची अवस्था है। प्रेमकी परिपुष्टि विरहसे ही होती है, विरह एक तरहका पुट है। बिना पुटके वस्त्रपर रंग नहीं चढ़ता। सूरदासजीने क्या अच्छा कहा है--

ऊधो, बिरहा प्रेम करै।
ज्यों बिनु पुट पट गहै न रंगहि, पुट गहे रसहि परै॥

जबतक घड़ेने अपना तन, अपना अहंकार नहीं जला डाला, तबतक कौन उसके हृदयमें सुधा-रस भरने आयगा? विरहाग्निमें जलकर शरीर मानो कुन्दन हो जाता है। मनका वासनात्मक मैल

जलाकर उसे विरह ही निर्मल करता है—

बिरह-अगिन जरि कुंदन होई। निरमल तन पावै पै सोई॥

—उसमान

बिना विरहके प्रेमकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसी तरह बिना प्रेमके विरहका भी अस्तित्व नहीं है। जहाँ प्रेम है, वहाँ विरह है। प्रेमकी आगको विरह-पवन ही प्रज्वलित करता है। प्रेमके अंकुरको विरह-जल ही बढ़ाता है। प्रेम-दीपककी बातीको यह विरह ही उसकाता रहता है—

जहाँ प्रेम तहँ बिरहा जानहु। बिरह-बात जनि लघु करि मानहु॥
जेहि तन प्रेम-आगि सुलगाई। बिरह पौन होइ दे सुलगाई॥
प्रेम-अँकूर जहाँ सिर काढ़ा। बिरह-नीर सौं छिन-छिन बाढ़ा॥
प्रेम-दीप जहँ जोति दिखाई। बिरह देइ छिन-छिन उसकाई॥

—उसमान

इसीसे तो कहा गया है कि—

धन सो धन जेहि बिरह बियोगू। प्रीतम लागि तजै सुख-भोगू॥

—नूरमुहम्मद

विरह यदि ऐसा ही सुखदायी है, तो फिर विरही दिन-रात रोया क्यों करता है? यह न पूछो; भाई, विरहकी वेदना मधुमयी होती है। उसमें रोना भी रुचिकर प्रतीत होता है। अपने बिछुड़े हुए प्यारेका ध्यान आते ही हृदयमें एक ज्वाला उठती है, फिर भी वह विरही उसीका ध्यान करता रहता है। प्रेम-रत्नके जौहरी जायसीको इस जलने-भुननेकी अच्छी जानकारी थी। उस विरहानुभवी साधकने क्या अच्छा कहा है—

लागिउँ जरै, जरै जस भारू। फिरि-फिरि भूँजेसि, तजिउँ न बारू॥

भाड़की जलती बालूमें अनाजका दाना डालकर कितनी ही बार भूनो, वह बराबर उछलता ही रहेगा, उस प्यारी बालूको छोड़-कर बाहर न जायगा। विरह-दाहमें वियुक्त प्रियका ध्यान चन्दन और कपूरसे भी अधिक शीतल लगता है। इसीसे उस दाहमें दग्ध होनेको विरही प्रेमीका चित्त सदा व्याकुल और अधीर रहा करता है—

जरत पतंग दीपमें जैसे, औ फिरि-फिरि लपटात।

—सूर

विरहीके रुदनको कोई क्या जाने। मौलाना रूमकी रोती हुई बाँसुरी कहती है—'जिसका हृदय वियोगके मारे टुकड़े-टुकड़े न हो गया हो, वह मेरा अभिप्राय कैसे समझ सकता है? यदि मेरी दरदभरी दास्तां सुननी है, तो पहले अपने दिलको किसी प्यारेके वियोगमें टुकड़े-टुकड़े कर दो, फिर मेरे पास आओ, तब मैं बताऊँगी कि मेरी क्या हालत है। मैंने अच्छे-बुरे सभीके पास जाकर अपना रोना रोया, पर किसीने भी ध्यान न दिया—सुना और सुनकर टाल दिया। जिन्होंने सुना और ध्यान न दिया मैं उनको बहरा जानती हूँ, और जिन्होंने चिल्लाते देखा, पर न जाना कि क्यों चिल्ला रही है, मैंने समझ लिया कि वे अन्धे हैं। मेरे रोनेके रहस्यको एक वही जान सकता है जो आत्माकी आवाज़को सुनता तथा पहचानता है। वास्तवमें, मेरा रुदन आत्माके रुदनसे जुदा नहीं है।'

तब विरहीके रोनेको आनन्ददायी क्यों न कहें। धन्य है वह, जो प्रियतमके वियोगमें इस बाँसुरीकी तरह दिन-रात रोया करता है—

धन सो धन जेहि बिरह-बियोगू। प्रीतम लागि तजै सुखभोगू॥

× × × ×

युगोंसे कसक सो रही है। इसीसे जीव भी बेहोश पड़ा है और सुरत भी सो रही है। कौन इन्हें जगावे। द्वारपर खड़े प्यारे स्वामीसे कौन इस जीवको मिलावे। बस, विरह ही कसकको जगा सकता है और कसक जीवको जगा सकती है, और सुरतको जीव जगा लेगा। संतवर दादूदयाल कहते हैं—

विरह जगावै दरदको, दरद जगावै जीव।
जीव जगावै सुरतको, पंच पुकारै पीव॥

ऐसी महिमा है महात्मा विरह-देवकी। प्रियविरह निश्चयपूर्वक सुरत और जीवका सद्गुरु है। जिसने इस महामहिमसे गुरु-मन्त्र ले लिया, उसका उसी क्षण प्रेम-देवसे तादात्म्य हो गया। जिसने यह दुस्साध्य साधन साध लिया, उसे आत्म-साक्षात्कार हो गया। पर विरहात्मक प्रेमका साधक यहाँ मिलेगा कहाँ? इस लेन-देनकी दुनियाँ-में उसका दर्शन दुर्लभ है। शायद ही लख-करोड़में कहीं एकाध सच्चा विरही देखनेमें आये। उसकी पहचान भी बड़ी कठिन है। उसका भेद पा लेना आसान नहीं। संत चरणदासने विरह-साधनामें मत-वाली विरहिणीकी कैसी सच्ची तसवीर खींची है—

गदगद बानी कंठमें, आँसू टपकैं नैन।
वह तो बिरहिन रामकी, तलफति है दिन-रैन॥
वह विरहिन बौरी भई, जानत ना कोइ भेद।
अगिन बरै, हियरा जरै, भये कलेजे छेद॥
जाप करै तो पीवका, ध्यान करै तो पीव।
जिव विरहिनका पीव है, पिव बिरहिनका जीव॥

वह प्यारे रामकी विरहिणी है। उस प्यारेकी दीदारकी ही उसे चाह है। वह एक प्यासी पपीही है। एक दरद-रँगीली दीवानी है।

व्यथा कैसे कहे—गला भर आया है, आँखोंसे झरने झरते हैं। दिन-रात बेचारी तड़पती ही रहती है। अरे, वह तो पगली है, पगली। ऐसी पगली कि उसके पागलपनेका भेद ही आजतक किसीको नहीं मिला। उस दीवानीके दिलमें एक आग बल रही है। जिगर जल रहा है। कलेजेके अंदर छेद-ही-छेद हो गये हैं। जाप करती है, तो प्यारेका और ध्यान धरती है तो प्यारेका। उस विरहिणीका जीव आज उसका प्रियतम हो रहा है और उसका प्रियतम हो गया है उसका जीव। जीवपर प्यारेकी छाया पड़ रही है और प्यारेपर जीवकी झाईं झलक रही है! 'जीव और पीव' में कैसा गज़बका तादात्म्य हुआ है!

प्यारेका उसे दिखायी देना क्या था, उससे बिछुड़कर ख़ुद उसे अपने आपसे भी जुदा कर देना था। मीरसाहबने क्या अच्छा कहा है—

दिखाई दिये यूँ कि बेख़ुद किया,
हमें आपसे भी जुदा कर चले!

ख़ूब दिखायी दिये! अपनी जुदाईके साथ-साथ बेख़ुदी भी हमें देते गये। अच्छा हुआ, एक बला टली। अपना एक मन था, वह भी हाथसे चला गया। मनसे भी छुट्टी पा ली। अब मनवाले उस बेमन-वालेकी व्यथा जानने आये हैं! पर क्या मोहितका मर्म मोहक समझ सकेगा? कभी नहीं—

कान्ह परे बहुतायतमें, इकलैनकी वेदन जानौ कहा तुम?
हौ मनमोहन, मोहे कहूँ न, बिथा बिमनेनकी मानौ कहा तुम?
बौरौ बियोगिनि आय सुजान है, हाय कछू उर आनौ कहा तुम?
आरतिवंत पपीहनकों घनआनँदजू! पहिचानौ कहा तुम?

—आनन्दघन

हाँ, सचमुच उस बेदिलका भेद तुम्हें न मिलेगा। क्या हुआ जो तुम दिलदार हो। उस दीवानेने तो हसरतेदीदारपर ही अपने दिलको न्योछावर कर दिया है। अब शायद ही वह तुम्हारा दर्शन कर सके, क्योंकि वह बेचारा प्रेमी, दिलके न होनेसे, आज ताक़ते-दीदार भी खो चुका है—

दिलको नियाज़ हसरते दीदार कर चुके,
देखा तो हममें ताक़ते दीदार भी नहीं!

—ग़ालिब

उसकी इस भारी बेवकूफ़ीपर तुम्हें मन-ही-मन हँसी तो ज़रूर आती होगी, सरकार! पर ज़रा उस बेदिलकी आँखोंसे देखो क्या नज़र आता है! वह पगला कहता है कि एक घड़ी तनिक अपने आपसे बिछुड़ देखो, आप ही विरहका सब भेद खुल जायगा—

कैसो सँजोग बियोग धौं आहि, फिरौ 'घनआनँद' ह्वै मतवारे।
मो गति बूझि परै तबहीं, जब होहु घरीकहूँ आपतें न्यारे॥

बात वही है कि प्रियसे बिछुड़ना अपने आपसे बिछुड़ जाना है। और जिसने अपने आपसे बिछुड़ना नहीं जाना, वह उस प्यारेके विरह-रसका अधिकारी ही नहीं है। अरे भाई, हसरतेदीदारपर अपनी खुदीको न्योछावर कर देनेवाला ही तो यह कहनेका साहस करेगा कि—

बिरह-भुवंगम पैठिकै किया कलेजे घाव।
बिरही अंग न मोड़िहै ज्यों भावै त्यों खाव॥

—कबीर

कुछ ठिकाना! कितना साहसी और शूर होता है विरही!

× × × ×

व्यापकताकी प्रत्यक्षानुभूति विरह-वेदनामें ही होती है। विरहीके प्रति सभी सहानुभूति प्रकट करते हैं या उसकी दृष्टि ही कुछ

ऐसी हो जाती है कि सारा संसार उसे अपने ही समान विरहाकुल दिखायी देता है। विरह-दग्धकी दृष्टिमें धुएँसे बादल कोयलेकी तरह काले हो जाते हैं, राहु-केतु भी झुलस जाते हैं, सूर्य तप्त हो उठता है, चन्द्रमाकी कलाएँ जलकर खण्डित हो जाती हैं और पलासके फूल तो अंगारोंकी भाँति उस आगमें दहकने लगते हैं। तारे जल-जलकर टूट पड़ते हैं। धरती भी धायँ-धायँ जलने लगती है। हमारे प्रेमी जायसीने इस विश्वव्यापी विरह-दाहका कैसा सकरुण वर्णन किया है—

अस परजरा बिरहकर गठा। मेघ स्याम भये धूम जो उठा॥
दाढ़ा राहु, केतु गा दाधा। सूरजु जरा, चाँद जरि आधा॥
औ सब नखत-तराईं जरहीं। टूटहिं लूक, धरति महँ परहीं॥
जरै सो धरती ठावहिं-ठाँऊ। दहकि पलास जरै तेहि दाऊ॥

ये सब उस विरहीके दुःखमें दुखी न हुए होते, उसके साथ इन सबोंने समवेदना प्रकट न की होती तो बेचारा कबतक अकेला ही उस आगमें जलता रहता। वह जला और उसने सारी प्रकृति ही दहकती हुई देखी। वह रोया और उसने सारे विश्वको अपने साथ फूट-फूटकर रोता हुआ पाया। हाँ, सच तो है, उस विरह-दग्धके रक्ताश्रुओंसे आज सभी भीग-भीगकर लाल हो रहे हैं, सभी उसके साथ हृदयका रुधिर आँखोंसे टपका रहे हैं—

नैननि चली रकत कै धारा। कंथा भीजि भयेउ रतनारा॥
सूरज बूड़ि उठा होइ ताता। औ मजीठ टेसू बन राता॥
भा बसंत, राती बनसपती। औ राते सब जोगी-जती॥
भूमि जो भीजि भयेउ सब गेरू। औ राते तहँ पंखि-पखेरू॥
ईंगुर भा पहार जो भीजा। पै तुम्हार नहिं रोवँ पसीजा॥

विरहीके रक्तमय आँसुओंमें सारा संसार रँग गया है। कैसी करुण-कलापिनी कल्पना है! विरहकी कैसी विशद विश्व-व्यापकता है!

निस्सन्देह प्रिय-विरह समस्त प्रकृतिमें भर जाता है। अणु-परमाणुतक विरही दिखायी देता है। सूरकी एक सूक्ति है—

ऊधो, यहि ब्रज बिरह बढ़्यो।
घर बाहिर, सरिता, बन-उपबन, बल्ली-द्रुमन चढ़्यो॥
बासर-रैन सधूम भयानक, दिसि-दिसि तिमिर मढ़्यो।
द्वन्द करत अति प्रबल होत पुर, पयसों अनल डढ़्यो॥
जरि कित होत भसम छिन महियाँ हा, हरि मंत्र पढ़्यो।
'सूरदास' प्रभु नँदनंदन बिनु नाहिन जात कढ़्यो॥

जो इस विरहानलसे जलते-जलते बच गया, उसपर आश्चर्य होता है—

मधुबन ! तुम कत रहत हरे ?
बिरह-वियोग स्यामसुन्दरके ठाढ़े क्यों न जरे ?

अस्तु, जो भी हृदयवान् होगा वह अवश्यमेव विरहीके प्रति सहानुभूति दिखायेगा। हृदय-हीनकी बात दूसरी है। हृदयकी विशालता, सच पूछो तो, एक विरहीमें ही देखी गयी है। उसके हृदयमें होता है अपने प्यारेका ध्यान और उस ध्यानमें होती है अखिल विश्वकी व्यापकता। फिर क्यों न उसके व्यथित हृदयके साथ समस्त सृष्टि समवेदना प्रकट किया करे ? विरह-दशामें सारा संसार ही अपना सगा प्रतीत होने लगता है। सबके सामने हृदय खुला हुआ रक्खा रहता है। कुछ ऐसा लगा करता है कि सभी उस प्यारेको प्यार करनेवाले हैं, सभी उस दिलवरके दीदारके प्यासे हैं। जिसकी हमें चाह है, इन्हें भी उसीकी है। शायद इन सबको उस लापतेका पता भी मालूम हो। विरहिणी गोपिकाएँ अपने वियुक्त प्रियतमका पता, देखो, पशु-पक्षी, मधुप, लता-विटप, नदी, पृथिवी आदि सभीसे पूछ रही हैं—

विरहाकुल ह्वै गईं सबै पूछति बेली बन।
को जड़, को चैतन्य, न कछु जानत बिरही जन॥
हे मालति! हे जाति! जूथिके! सुनि हित दै चित।
मान-हरन मन-हरन लाल गिरधरन लखे इत?
हे चंदन दुख-दंदन, सबकी जरनि जुड़ावहु।
नँद-नंदन, जगबंदन, चंदन हमहिं बतावहु॥
पूछो री! इन लतनि, फूलि रहिं फूलनि जोई।
सुंदर पियके परस बिना अस फूल न होई॥
हे सखि! ये मृग-बधू इन्हैं किन पूछहु अनुसरि।
डहडहे इनके नैन अबहिं कहुँ देखे हैं हरि॥
हे असोक! हरि सोक लोक-मनि पियहि बतावहु।
अहो पनस! सुभ सरस मरत तिय अमिय पियावहु॥
हे जमुना! सब जानि-बूझि तुम हठहि गहति हौ।
जो जल जग-उद्धार ताहि तुम प्रगट बहति हौ॥
हे अवनी! नवनीत-चोर चित-चोर हमारे।
राखे कितहुँ दुराय बता देउ प्रान-पियारे॥

—नन्ददास

भला, पूछो तो, ये ललित लताएँ क्यों फूलोंसे फूल रही हैं। यह निश्चय है कि बिना प्यारेका स्पर्श किये इनमें ऐसी प्रफुल्लता आ ही नहीं सकती। इन लहलही लताओंने अवश्य ही प्रियतमका स्पर्श-सुख प्राप्त किया है। यही कारण है कि ये फूली नहीं समातीं। और, ये सुकुमारी मृग-वधूटियाँ? धन्य इनके भाग्य! इनकी कैसी डहडही आँखें हैं! अभी-अभी इन सुहागिनियोंने प्यारे श्यामसुन्दरको कहीं देखा है। बिना नन्दनन्दनकी प्यारी-प्यारी झलक पाये नयनोंमें यह डहडहापन कैसे आ सकता है?

चाह-भरी चातकी चन्द्रावली भी उस काले छलियाके पास अपनी विरह-व्यथाका सँदेसा भेजना चाहती है। वह भी आज यह भेद-भाव भूल गयी है कि कौन जड़ है और कौन चैतन्य है! कैसी पगली है—

अहो पौन ! सुख-भौन, सबै थल गौन तुम्हारो।
क्यों न कहौ राधिका-रौन सों मौन निवारो॥
अहो भँवर ! तुम स्यामरंग मोहन-ब्रत-धारो।
क्यों न कहौ वा निठुर स्याम सों दसा हमारो?
हे सारस ! तुम नीकें बिछुरन-बेदन जानौ।
तौ क्यों प्रीतम सों नहिं मेरी दसा बखानौ॥
हे पपिहा ! तुम 'पिउ पिउ पिउ' पिय रटत सदाई।
आजहुँ क्यों नहिं रटि-रटि कैं पिय लेहु बुलाई॥

—हरिश्चन्द्र

और नहीं तो, पूज्य पवनदेव, कृपाकर मेरा इतना काम तो कर ही दो। जहाँ कहीं भी मेरे प्यारे हों, उनके पैरोंकी थोड़ी-सी धूल मुझे ला दो। उसे मैं इन जलती हुई आँखोंमें आँजूँगी। हाँ, विरह-व्यथामें वह प्यारी धूल ही सञ्जीवनीका काम देगी—

बिरह-बिथाकी मूरि, आँखिनमें राखौं पूरि,
धूरि तिन पायन की, हा हा, नेकु आनि दै।

—आनन्दघन

वियोग-शृङ्गारके मुख्य कवि जायसीने भौंरे और कौएके द्वारा एक विरहिणीका सँदेसा उसके प्रियतमके पास बड़ी ही विदग्धतासे भेजवाया है। प्रिय-वियोगिनी केवल इतना ही कहलाना चाहती है—

पिउ सों कहेहु सँदेसड़ा, हे भौंरा, हे काग।
सो धन बिरहै जरि मुई, तेहिक धुवाँ हम्ह लाग॥

इस 'सँदेसे' में सर्वव्यापिनी सहानुभूतिकी कैसी सुन्दर व्यञ्जना हुई है !

× × × ×

हाय री प्रिय-स्मृति ! तब क्या था और अब क्या है ! जो कृष्ण कभी आँखोंके आगेसे न टलते थे, सदा पलकोंपर रहते थे, हा ! आज उनकी कहानी सुननी पड़ रही है ! क्या-से-क्या हो गया है आज !

जा थल कीनें बिहार अनेकन, ता थल काँकरी बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना सों करी बहुबातन, ता रसना सों चरित्र गुन्यो करैं॥
'आलम' जौनसे कुंजनमें करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं।
नैननमें जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं॥

—आलम

हमें और क्या चाहिये। उनसे हम कुछ न माँगेंगी। न जाने वे क्या जानकर संकोच कर रहे हैं। क्यों नहीं आते प्यारे श्याम! क्या कभी आयँगे हमारे हृदयरमण कृष्ण ?

सखि, क्या कहा ? तनिक फिर तो कह, फिर मृदु गिरा सुनूँ तेरी ,
सहसा बधिर हो गई हूँ मैं, मिटा मनोज्वाला मेरी ,
पावेगा यह दग्ध हृदय क्या फिर वह रत्न महा अभिराम ?
हा हा ? पैरों पड़ती हूँ मैं, सच कह, फिर आवेंगे श्याम ?

—'मधुप'

क्या वह इतना भी जानता होगा कि हम उसकी पगली वियोगिनी हैं ? सुनो—

न कामुका हैं हम राज-वेशकी,
न नाम प्यारा 'यदुनाथ' है हमें।
अनन्यतासे हम हैं व्रजेशकी
विरागिनी, पागलिनी, वियोगिनी॥

—हरिऔध

पथिक ! अब वीर-वर-वियोगकी अजेय सेनासे आवृत मुझ निस्सहायका यह अन्तिम सन्देश वहाँतक ले जाओ। कहना कि उसे अचानक ही उस सेनाने घेर लिया है। उस शूर-शिरोमणिके विकट कटकका सामना करना आसान नहीं। बचनेका अब उपाय भी कोई नहीं है। उसे अब सब तरहसे हारा हुआ ही समझो। फिर भी, प्यारे, तुम्हारे द्वारपर, समय रहते, उसकी सुनवायी न हुई, तो वह प्रेमका प्रण पालनेवाला विरही बाहर निकलकर एक मोर्चा तो लेगा ही और प्रेमके रणाङ्गणपर जूझकर धूलमें मिल जायगा। फिर, प्यारे ! तुम्हारे उस विस्मृतकी यह कहानी दुनियाँमें चल जायगी। तो क्या अब यही कराना चाहते हो ?

राति-द्योस कटक सजेही रहै, दहै दुख,
कहा कहौं गति या बियोग बजमारेकी।
लियौ घेरि औचक अकेलो कै बिचारो जीव,
कछु न बसाति यौं उपाय बलहारेकी॥
जान प्यारे ! लागो न गुहार तौ जुहार करि
जूझिहै निकसि टेक गहे पन-धारेकी।
हेत-खेत धूरि चूरि-चूरि ह्वै मिलैगी, तब
चलेगी कहानी घनआनँद तिहारेकी॥

—आनन्दघन

आकर टुक एक झलक दिखा दी तो अच्छा ही है, नहीं तो मरना तो है ही। तुम्हारे दर्शनकी अभिलाषा लिये हुए ही मरेंगे। उस घड़ी भी ये आँखें हसरते दीदारमें खुली रहेंगी। सच मानो, प्यारे !

देख्यो एक बारहूँ न नैन भरि तुम्हैं, यातैं
जौन-जौन लोक जैहैं तहीं पछितायँगी;

बिना प्रान-प्यारे भये दरस तुम्हारे, हाय !
देखि लीजो आँखें ये खुली ही रहि जायँगी ॥
—हरिश्चन्द्र

कौन आँखें खुली रह जायँगी ? अरे, वही विरागिनी आँखें, जो विरहका कमण्डलु लिये दिन-रात तुम्हारे दर्शनकी मधुकरी भीख द्वार-द्वार माँगा करती हैं—

बिरह-कमंडलु कर लिये, बैरागी दो नैन ।
माँगैं दरस-मधूकरी, छके रहैं दिन-रैन ॥
—कबीर

हाँ, वियोगिनीकी वही विरागिनी योगिनी आँखें, जो—

बरुनी बघम्बरमें गूदरी पलक दोऊ
कोए राते बसन भगोहैं भेष रखियाँ;
बूड़ी जलहीमें, दिन-जामिनिहू जागैं, भौहैं,
धूम सिर छायो बिरहानल बिलखियाँ ।
अँसुआ फटिक-माल, लाल डोरी सेल्ही पैन्हि,
भई हैं अकेली तजि चेली संग सखियाँ;
दीजिए दरस 'देव', कीजिए सँजोगिनि ए
जोगिनि है बैठी हैं बियोगिनिकी अँखियाँ ॥

दे दे कोई इन योगिनियोंको प्रेम-रसकी मधुमयी मधुकरी भिक्षा। नीरस ज्ञानकी बातोंसे इनकी भूख शान्त होनेकी नहीं—

अँखियाँ हरि-दरसनकी भूखी ।
कैसे रहैं रूप-रस-राची, ये बतियाँ सुनि सूखी ॥
—सूर

× × × ×

भूल होगी, भारी भूल होगी ! तुम्हारे पास अभी क्यों कोई सँदेसा भिजवाया जाय। क्यों तुम्हें उलाहना दें। हमारी विरह-दशा

अभी पराकाष्ठाको पहुँची ही कहाँ। अभी तुम्हारी प्यारी यादपर हमने यह घायल दिल क़ुर्बान नहीं किया। प्यारे, अभी तुम्हारी यादमें यहाँ फ़ना हुआ ही क्या है ? विरह तो वह, जो विरहीके समस्त अहंकारको प्रियतमकी प्रतीक्षामें लय कर दे। सो वह बात अभी यहाँ कहाँ ? तुम्हें यहाँतक खींच लानेकी हमारे दिलमें अभीतक वह ताक़त ही नहीं आयी। पहले अपने दिलके घरमें तुम्हारी लगनकी वह आग लगा लें, जो यहाँका सब कुछ खाक कर दे, तब कहीं तुम्हारे पास कोई सँदेसा भेजें, तब तुम्हारी निठुराईपर तुम्हें उलाहना दें। अभीसे यह क्यों कहें कि—

थक गये हम करते-करते इन्तज़ार;
एक क़यामत उनका आना हो गया !

तबतक यही हसरत क्यों न दिलमें रक्खी जाय कि—

ख़ुदा करे, कि मज़ा इन्तज़ारका न मिटे,
मेरे सवालका वह दें जवाब बरसोंमें।

क्योंकि—

है वस्लसे ज़ियादा मज़ा इन्तज़ारका।

मिलनकी अपेक्षा प्रिय-मिलनकी प्रतीक्षामें कहीं अधिक आनन्द है। खैर, हमारे सवालका जवाब वह चाहे जब दें, पर उन्हें यह याद तो ज़रूर दिलाते रहें कि—

प्रेम-प्रीति कौ बिरवा गयेउ लगाय,
सींचनकी सुधि लीजौ, मुरझि न जाय।
—रहीम

इन आँखोंने विरहकी एक बेलि बोई है। वह आँसुओंसे सींची गयी है, और उसकी जड़ अब पातालतक पहुँच गयी है। कैसी अलौकिक लगन-लता है वह !

मेरे नैना बिरहकी बेलि बई।
सींचत नीर नैनके, सजनी ! मूल पताल गई॥
बिगसति लता सुभाय आपने, छाया सघन भई।
अब कैसे निरुवारौं, सजनी ! सब तन पसरि छई॥

—सूर

इसे कैसे सुलझायँ ! यह बेलि तो रोम-रोममें उलझ गयी है। इसे लहलही भी कैसे बनाये रक्खें। हमारे पास अब नयननीर भी तो नहीं है। दोनों नाले आज सूखे पड़े हैं। अरे भाई, कैसे सींचें इसे ! प्रेम-जलसे सींचो, प्रेम-जलसे—

हृदय-कियारी माँझ सींचौ प्रेम-जीवन सौं;
खेल मति जानौ, यह बेल बिरहाकी है।

—बलवीर

अरे, हम क्या सींचें इस बेलिको ! वही आकर इसे जो सींच जाय, तो शायद यह कुछ लहलही हो जाय—

अबहुँ बेलि फिर पलुहै, जो पिय सींचै आइ।

—जायसी

सच्चे प्रेमियोंका वियोग विलक्षण होता है। वियोग होते हुए भी उनमें वियोग नहीं होना। दोनों ही प्रेमकी डोरीमें बँधे रहते हैं। कितने ही दूर वे प्रेमी क्यों न चले जायँ, उनके हृदय वैसे ही मिले रहेंगे। प्रेममें ज़रा-सी भी कमी न आयगी। बड़ी अद्‍भुत है प्रेमकी डोरी। प्रेमियोंका वियोग भी रहस्यमय है—

अदभुत डोरी प्रेमकी, जामें बाँधे दोय।
ज्यों-ज्यों दूर सिधारिए, त्यों-त्यों लाँबी होय॥
त्यों-त्यों लाँबी होय, अधिकतर राखै कसिकैं।
नेह न्यून है सकत नेकु नहिं, दूरहु बसिकैं॥

विधिना देत बिछोह, कहूँ तासों कर जोरी।
रखियो छेम-सनेत, प्रेमकी अद्भुत डोरी॥

—देवीप्रसाद 'पूर्ण'

एक कहीं है तो दूसरा कहीं है, पर प्रेमके एक ही बाणसे दोनों-के दिल एक साथ बिंधे हुए हैं। क्या कहें हम इस तीरे इश्कको!

हम तड़पते हैं यहाँ पर, वाँ तड़पता यार है,
एक तीरे इश्क है, औ दो-दिलोंके पार है।

अब, इसे वियोग कहें या संयोग? भिन्न होते हुए भी दोनों अभिन्न हैं! सुना जाता है कि विरहीको दयालु दाताने दो अजीब खिलौने बख़्श दिये हैं—आँसू और आह! ख़ूब बहला सकता है इन खिलौनोंसे वह पगला अपना मचला हुआ दिल। अब और क्या चाहता है? चाहता क्या है, कुछ नहीं। पर उसके पास आज वे मन-बहलावकी चीज़ें हैं कहाँ? न आँखोंमें आँसू हैं, न दिलमें आह। हाँ, भाई! सच तो कहते हैं—

'दर्द' अपने हालसे तुझे आगाह क्या करे,
जो साँस भी न ले सके, वह आह क्या करे?

अब तो आहसे भी वह दिल बहलनेका नहीं। यही हाल आँसूका भी है। आँखोंके वे झरने कभीके बन्द हो गये। अब तो वहाँ सिर्फ़ एक जलन है। या वह ना-उम्मेदी, जिसके आगे वह जोशे-जुनूँमें मस्त विरही घुटने टेके हुए यह कह रहा है—

सँभलने दे मुझे, ऐ ना-उमेदी, क्या क़यामत है,
कि दामाने ख़याले यार छूटा जाय है मुझसे।

—ग़ालिब

मुझे ज़रा, सँभलने तो दे, मेरी ना-उमेदी ! बड़ी आफ़त है। क्या करूँ, मेरे प्यारेका ध्यानरूपी दामन तेरे मारे मेरे हाथसे छूटा जा रहा है।

ओह ! कैसी होगी उस पगले वियोगीकी ना-उमेदी ! जिसकी बड़ी-से-बड़ी उमेद 'मरना' हो, ज़रा उसकी ना-उमेदी तो देखो कितनी बड़ी होगी—

मुनहसर मरने पै हो जिसकी उमेद,
ना-उमेदी उसकी देखा चाहिए।

—ग़ालिब

पर यह ना-उमेदी सदा ना-उमेदी ही न रहेगी। इस निराशासे ही किसी दिन आशाका उदय होगा। मान लो कि विरहकी निराशामें एक दिन मौत भी आ जाय, तो भी कुछ बिगड़नेका नहीं; क्योंकि वह मौत एक असाधारण मौत होगी। वह मौत, मौतकी मौत होगी। अजी, कह देना उस घड़ी—

मौत यह मेरी नहीं, मेरी क़ज़ाकी मौत है,
क्यों डरूँ इससे कि फिर मरकर नहीं मरना मुझे।

ठीक है, पर यह क्या बात है, जो विरहमें मतवाले प्रेमी अक्सर मरनेकी बात उठाया करते हैं? क्या सचमुच वे लोग, अन्तमें, मर जाते या मर सकते हैं? इसमें सन्देह नहीं कि वे मरना जानते तो हैं, पर मर नहीं सकते, क्योंकि मरना उनके वशका नहीं। उनके प्राणोंको एक ओरसे तो प्रिय-दर्शन-प्यासी आँखें रोके रहती हैं और दूसरी ओरसे उनका हसरत-भरा घायल दिल ! अब, बोलो, वे कैसे और कहाँसे निकल जायँ ?

नाम-पाहरू दिवस-निसि, ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन-निज-पद-जंत्रित, जाहिं प्रान केहि बाट॥

—तुलसी

क्षणमात्रको भी वह ध्यान हृदयसे नहीं टलता है—

चलत चितवत दिवस जागत सुपन सोवत रात।
हृदय तें वह स्याम मूरति छिन न इत-उत जात॥

—सूर

दिन-रात तुम्हारा प्यारा नाम पहरा दिया करता है, तुम्हारा ध्यान अन्तर्द्वारका कपाट है और वहाँ तुम्हारे चरणोंकी ओर लगे नेत्रोंने ताला लगा रक्खा है; अब बताओ प्राण किस मार्गसे निकलें? प्राण अब भी निकलनेको अधीर तो बहुत हो रहे हैं, पर निकलें कैसे? ये हठीली आँखें जब उन्हें निकलने दें—

बिरह-अगिन तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माहँ सरीरा॥
नयन स्त्रवहिं जल निज हित लागी। जरइ न पाव देह बिरहागी॥

—तुलसी

तुम्हारा विरह अग्निके समान है। उसमें यह रूई-जैसा शरीर एक क्षणमें ही जलकर भस्म हो जाय, क्योंकि मेरी साँसोंकी हवा उस आगको और भी प्रज्वलित कर रही है, पर पापी शरीर जलने नहीं पाता, ये स्वार्थी नेत्र निरन्तर वहाँ जल बरसाते रहते हैं।

कह नहीं सकते कि विरहकी अग्नि क्या है—

धनि बिरही औ धनि हिया, जहँ अस अगिन समाइ।

—जायसी



प्रेमाश्रु

प्रेमका आँसू खुद छलककर न जाने और क्या-क्या छलका जाता है। उस एक ही बूँदमें सारा-का-सारा भाव-सिन्धु समाया हुआ है। अकथनीय है उस प्यारी बूँदकी महिमा। जिस आँखने प्रेमका आँसू नहीं बहाया, उसके 'मीन-कञ्ज-खञ्जन' समान होनेसे कोई लाभ? उस नीरस आँखका तो फूट जाना ही अच्छा, प्रेमी हरिश्चन्द्रने सच कहा है—

फूट जायँ वे आँखें जिनसे बँधा अश्कका तार नहीं।

अथवा—

फूट जाये आँख वह जिसमें कभी,
प्रेमका आँसू उमड़ आता नहीं।

—हरिऔध

उस्ताद ज़ौक़ भी तो यही बात कह रहे हैं—

जो चश्म कि बेनम हो, वो हो कोर तो बेहतर।

इससे सराहना तो उसी आँखकी होनी चाहिये, जो प्रेमके आँसुओंसे सदा भींगी और भरी रहे। प्रेमपूर्ण करुणा-कणोंको बिखेरने-वाली आँख ही सौन्दर्यकी प्रभा धारण कर सकती है। बेनम-चश्मको हम कमलकी पँखड़ी कैसे कहें!

प्रेमियोंको या उनके आँसुओंको तुम करुणा-तरङ्गिणीमें कलोल करते हुए क्यों नहीं देखते? कवियोंकी बात दूसरी है। उन्हें अपनी प्रतिभाके बलसे कलाका प्रदर्शन करना है। आँसुओंको वे लोग मोतीके

दाने कहें या ओसकी बूँदें, हमें कोई आपत्ति नहीं। किसी तरह हो, उन्हें दिखाना है अपना कला-कौशल, उन्हें प्रफुल्लित करना है कोविदोंका मनोमुकुल, सो खुशीसे किये जायँ। हम क्या कहें, हम तो प्रेमियोंके आँसुओंको आँसू ही कहेंगे। हाँ, आँसूको आँसू न कहकर और क्या कहें। बक़ौले हरिऔध किसी प्रेमीके जिगरपर एक फफोला-सा पड़ गया था। वही आज अचानक फूटकर बह रहा है। हा! उसका इतना बड़ा अरमान आज कुछ बूँदें बनकर निकल पड़ा है—

था जिगरपर जो फफोला-सा पड़ा,
फूट करके वह अचानक बह गया।
हाय! था अरमान जो इतना बड़ा,
आज वह कुछ बूँद बनकर रह गया॥

अब बताओ, जिगरी फफोलेके मवादको हम किस अनोखी सूझसे मोतीका दाना कहें? खैर, अच्छा हुआ, जो फफोला फूट गया, दर्द कुछ कम हो गया। रो लेनेसे दिलका गुबार ज़रूर कुछ-न-कुछ धुल जाता है। इससे—

चल दिल, उसकी गलीमें रो आवें,
कुछ तो दिलका ग़ुबार धो आवें!

—हसन

अच्छा, भाई, रो लो। अगर तुम्हारे दिलका गुबार इस तरह कुछ धुल जाय, तो जाओ, उस गलीमें ज़रा रो आओ। पर वहाँ जाकर इतना ज़्यादा क्यों रोया करते हो! क्या दो-चार बूँद आँसू गिरानेसे काम न चल जायगा! नहीं, हरगिज़ नहीं—

आह! किस ढबसे रोइये कम-कम,
शौक़ हदसे ज़ियादा है हमें।

—मीर

अरे, दो बूँद आँसुओंसे कहीं दिलकी आग बुझी है ?

मुत्तसिल रोते ही रहें तो बुझे आतिश दिलकी,
एक-दो आँसू तो और आग लगा जाते हैं !

—मीर

× × × ×

आँसू भी कैसे चुलबुले होते हैं ! आँखोंमें छलकते ही दिले आशिक़का सारा भेद खोलकर रख देते हैं । कैसा लड़कपन है इन भोले-भाले आँसुओंमें । सुकवि दर्दका एक शैर है—

ऐ आँसुओ, न आवे कुछ दिलकी बात लबपर ।
लड़के हो तुम, कहीं मत अफ़साये राज़ करना ॥

कहते हैं—तुम अभी बच्चे हो, कहीं दिली प्रीतिका भेद न खोल देना । पर वे तुम्हारी नसीहत क्यों मानने चले ? जिसे घरसे निकाल दोगे, वह भला तुम्हारा कोई भेद छिपाये रक्खेगा ! रहीमने कहा है—

'रहिमन' अँसुआ नयन ढरि, जिय-दुख प्रगट करेइ ।
जाहि निकारौ गेह तें, कस न भेद कहि देइ ॥

अजी, खोल देने दो भेद । यहाँ डर ही किस बातका है । जब रोना ही है, तब खूब दिल खोलकर रो लें । इन्हीं आँसुओंकी बदौलत तो आँखोंमें यह प्रकाश बना हुआ है । मुबारक हो, प्रेमियोंके चुलबुले आँसुओंका बचपन । परमात्मा न करे कि कभी ये प्यारे मनचले आँसू सूख जायँ । इनके सूखते ही आँखोंके दिये बुझ जायँगे, अँधेरा छा जायगा । हमारे मीर साहब कहते हैं—

सूखते ही आँसुओंके नूर आँखोंका गया,
बुझ ही जाते हैं दिये जिस वक़्त सब रोग़न जला ।

दिन-रात इसी तरह बहते रहें। जबतक प्यारे न आवें, कम-से-कम तबतक तो इनका बहना बन्द न हो। न जाने कबसे यह लालसा है कि वह दिन कब आयगा, जब ये प्रेममें पागल आँसू प्रियतमके चरणोंको पखारेंगे—

यों रस भीजे रहैं 'घन आनँद' रीझैं सुजान! सुरूप तिहारैं।
चायनि बावरे नैन कबै अँसुवानिसौं रावरे पाय पखारैं॥

जिस दिन ये उन प्यारे पैरोंको पखारेंगे, उसी दिन इन्हें हम बड़भागी कहेंगे। क्योंकि उस दिन अपने पटके अञ्चलसे प्रियतम इन्हें पोंछ देंगे। धन्य!

आँसुनकों अपने अँचरानसों लालन पोंछि करैं बड़भागी॥

—हरिश्चन्द्र

पर शायद ही इस जीवनमें ये कभी बड़भागी हो पायँ। उनके यहाँ पधारनेकी कोई आशा नहीं। तब इन अभागे आँसुओंकी पहुँच उन चरणोंतक कैसे हो सकेगी? एक उपाय है। यदि परोपकारी मेघ किसी तरह इन आँसुओंको लेकर प्यारेके आँगनपर टुक बरसा दें, तो इनकी साध अवश्य पूरी हो जाय। चाहें तो वे कर सकते हैं, क्योंकि दूसरोंके ही लिये उन्होंने शरीर धारण किया है—

पर-काजहिं देहकों धारि फिरौ परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधाके समान करौ, सब ही बिधि सज्जनता सरसौ॥
'घनआनँद' जीवन-दायक हौ, कछु मेरियौ पीर हियें परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजानके आँगन, मो अँसुवानकों लै बरसौ॥

इतना उपकार यदि दयालु मेघोंने कर दिया, तो समझ लो, इनका जीवन सफल हो गया। उस आँगनपर इन्हें प्रियचरण तो किसी तरह छूनेको मिल जायँगे। अतएव प्रेमी फिर एक बार मेघोंसे हाथ जोड़कर विनय करता है कि—

कबहूँ वा बिसासी सुजानके आँगन, मो अँसुवानकों लै बरसौ ।

× × × ×

पर खेदका विषय है कि कुछ कवि-कोविदोंने इन ग़रीब आँसुओं-का एक तरहसे मज़ाक उड़ाया है । इन करुणाकणोंको अतिशयोक्ति अलंकारसे अलंकृत करनेमें सरस्वतीके उन दुलारे सुपूतोंने कमाल किया है । क्या कहा जाय उनकी विचित्र प्रतिभाको ! देखिये, महाकवि विहारीने नीचेके दोहेमें कैसी कमनीय काव्य-कला दिखायी है—

गोपिनुके अँसुवनि-भरी, सदा असोस अपार ।
डगर-डगर नै ह्वै रही, बगर-बगर कैं बार ॥

डगर-डगरमें, गली-गलीमें, घर-घरके द्वारपर गोपिकाओंके आँसुओं-से भरी हुई कभी न सूखनेवाली एक अपार नदी बन गयी है ।

मीरसाहबने भी रो-रोकर अपने यारकी गलियोंमें कई बार दरियाकी धारें बहायी थीं ।

उन्हीं गलियोंमें जब रोते थे हम 'मीर'
कई दरियाकी धारें हो गई हैं ।

पर नेकदिल नज़ीरको अपनी प्यारी बस्तीका अब भी बहुत कुछ ख़याल है । वह ग़रीबोंके घरोंकी ख़ैर मनाते हैं । उन्हें डुबोना नहीं चाहते । इसीलिये आप अपने यारकी गलीमें रोने नहीं जाते । अगर कहीं वहाँ जाकर हज़रतने रो दिया, तो हर एक घरके आस-पास पानी-ही-पानी हो जायगा । कहते हैं—

रोऊँगा आके तेरी गलीमें अगर मैं, यार !
पानी-ही-पानी होगा हरेक घरके आसपास ।

मेहरबान ! खुदाके वास्ते ऐसा भूलकर भी न कीजियेगा ।
अब कविवर तोषका अत्युक्ति-पाण्डित्य देखिये । इनका साधारण नदी-

नालेसे काम न चलेगा। तोषको इन सबसे सन्तोष नहीं। यह तो आँसुओंका एक महासागर बनाकर ही दम लेंगे। सारे ब्रह्माण्डको ही जलमय कर देंगे। बलिहारी !

गोपिनुके अँसुवान कौ नीर पनारे भये, बहिकैं भये नारे।
नारेनहू सों भईं नदियाँ, नदियाँ नद ह्वै गये काटि कगारे॥
बेगि चलौ तौ चलौ ब्रजकों, कवि तोष कहैं ब्रजराज दुलारे !
वै नद चाहत सिंधु भये, अब नाहिं तो ह्वै है जलाहल सारे॥

मीरसाहबकी भी एक शर्त है। सुनिये—

शर्त्त यह अब्रमें हममें है, कि रोवेंगे कल,
सुबह उठते ही आलमको डुबोवेंगे कल।

रहने भी दीजिये अपनी यह शर्त, जनाब ! गरीब आलमने आपका ऐसा क्या बिगाड़ा है, जो उसे आप कल सुबह ही डुबो देनेको कमर कस रहे हैं ?

ऊपरकी इन तमाम पंक्तियोंको पढ़ या सुनकर आपका सरस हृदय किस भावसे प्रभावित हुआ है ? कवियोंकी इस अतिरञ्जनासे थोड़ी देरके लिये आपका मनोरञ्जन भले ही हो जाय, पर प्रेम-पूर्ण करुणाधारामें भी आपका सरस हृदय डूबकर तन्मय होगा, इसमें हमें महान् संदेह है। यदि आँसुओंकी कविताने हमारी आँखोंसे दो बूँद आँसू न टपका दिये, तो वह कविता ही क्या हुई ! मनोरञ्जनके लिये और भी तो अनेक रस हैं, बेचारे करुणरसको तो कृपाकर कलाकार कवियोंको अपने भाग्यपर यों ही छोड़ देना चाहिये। कवि-श्रेष्ठ कालिदासने मेघदूतमें एक स्थलपर लिखा है—

त्वामप्यश्रुं जललवमयं मोचयिष्यत्यवश्यं
प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा।

अर्थात्—

तेरे हू आँसू, सखा, देगी अबस बहाय।
सरस हृदय जन होत हैं, बहुधा मृदुल सुभाय॥

—लक्ष्मणसिंह

'कई दरियाकी धारें हो गई हैं' अथवा *'वै नद चाहत सिन्धु भये, अब नाहिं तौ है हैं जलाहल सारे'* या *'डगर-डगर नै ह्वै रही, बगर-बगर कैं बार'* अथवा *'पानी-ही-पानी होगा हरेक घरके आस-पास'* या *'सुबह उठते ही आलमको डुबोवेंगे कल'* आदि अतिशयोक्ति-पूर्ण पंक्तियाँ भी क्या,

तेरे हू आँसू, सखा, देगी अबस बहाय।

अजी, रामका नाम लो। यहाँ वह बात कहाँ है!

× × × ×

कवियो! आँसुओंको ओसकी बूँदें क्यों कहते हो। ओसकी बूँदोंको आँसू कहो तो एक बात है। हाँ, सचमुच ये ओसकी बूँदें नहीं हैं। किसी विरही प्रेमीके साथ रो-रोकर रातने ये आँसू गिराये हैं, क्योंकि ये तो तुम जानते ही हो कि—

सरस हृदय जन होत हैं बहुधा मृदुल सुभाय॥

फिर भी तुम रात्रिके इन अश्रु-बिन्दुओंको ओस-कण कहते हो!

ओस-ओस सब कोइ कहै, आँसू कहै न कोय।
मो बिरहिनके सोकमें रैन, रही है रोय॥

—आसी

कवीन्द्र रवीन्द्र इस मञ्जुल भावको और भी सुन्दरताके साथ अंकित कर रहे हैं। सुनिये—

"In the moon thou sendest thy love-letters to me," said the night to the sun, "I leave my answers in tears upon the grass."

सूर्यसे रात्रि कहती है—'चन्द्रमाके द्वारा तुम मुझे प्रेम-पत्र भेजा करते हो। मैं तुम्हारे उन पत्रोंके उत्तर घासपर अपने आँसुओंमें छोड़ जाती हूँ।'

कैसा मर्मस्पर्शी भाव है! आँसुओंको ओसकी बूँदें मानने, और ओसकी बूँदोंको आँसू माननेमें, कवियो, पृथ्वी-आकाशका अन्तर है या नहीं? पहले भावमें केवल मनोरञ्जन है और दूसरेमें रसात्मक हृदय-स्पर्श।

इसी तरह नीचेके इन दो भावोंमें भी कितना बड़ा अन्तर अन्तर्हित है। एक तो वही मीर साहबकी बात है, यानी, '*सुबह उठते ही आलमको डुबोवेंगे हम*' और दूसरा भाव यह है। अब स्वाभाविकता उसमें है या इसमें।

अँसुवनिके परबाहमें अति बूड़िबे डेराति।
कहा करै, नैनानिकों नींद नहीं नियराति॥

आँसुओंके प्रवाहमें कहीं डूब न जाय, इस डरसे, क्या करे, बेचारी नींद आँखोंके पास आती तक नहीं। रोनेवालोंको सोना कहाँ। कवि-कुल-गुरु कालिदासजी भी यही शिकायत कर रहे हैं—

मत्संयोगः क्षणमपि भवेत् स्वप्नजोऽपीति निद्रा-
माकाङ्क्षन्ती नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम्।

अर्थात्—

चाहति तनिक नींद झुकि आवै। मति सपने अपनो पति पावै॥
पै अँसुवा नैनन भरि लेहीं। लगन पलक छिनहूँ नहिं देहीं॥

—लक्ष्मणसिंह

न आवे नींद, ऐसी कुछ जरूरत भी नहीं। आँसुओंका प्रवाह न रुकना चाहिये, क्योंकि—

पूरोत्पीडे तडागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।
शोके क्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते॥

—भवभूति

तालाब जब लबालब भर जाता है, तब बाँध तोड़कर उसका पानी बाहर निकाल देना ही बचावका सुगम उपाय होता है। इसी तरह अत्यन्त शोक-क्षोभित व्याकुल मनुष्यके हृदयको अश्रुपात ही विदीर्ण होनेसे बचा लेनेका एकमात्र उपाय है।

वह प्रवाह कैसे रुक सकता है। दिलने आँसुओंका एक भारी ख़ज़ाना जमा कर रखा है। वहाँ पानी-ही-पानी भरा है। सो अश्रु-प्रवाह किसी भाँति रुकनेका नहीं। डर इतना ही है कि कहीं वह प्रवाह प्यारेकी याद दिलसे धोकर न बहा दे। यह न कर सकेगा। यह उसकी ताक़तसे बाहरकी बात है—

याद उसकी दिलसे धो दे, ऐ चश्मेतर, तो मानूँ,
अब देखनी मुझे भी तेरी रवानियाँ हैं।

—हाली

बहने दो, प्रेमाश्रु-प्रवाह बहने दो। प्रेमके आँसू बहानेसे ही वह प्रियतम मिलेगा। रोनेवाले ही उसे भाते हैं, हँसनेवाले नहीं। अपनी रुचि ही तो है। इससे, भाई! उसके प्रेममें मस्त होकर तुम तो खूब रोये जाओ—

'कबिरा' हँसना दूर कर, रोनेसे कर प्रीति।
बिन रोये क्यों पाइये प्रेम-पियारा मीत॥

आँसुओंकी महिमा कौन गा सकता है ! अपनी यह अश्रु-धारा हमें बड़ी प्यारी लगती है, क्योंकि यह हमें उस प्यारे निठुरकी प्रीतिके सुन्दर उपहारमें मिली है—

क्यों न हो हमारी अश्रु-धार अति प्यारी हमें,
वह तो तुम्हारी प्रीतिका ही उपहार है।

—गोपालशरणसिंह

और इन आँसुओंसे हमारी इज्ज़त-आबरू है—

किसीको किसी तरह इज्ज़त है जगमें,
मुझे अपने रोनेसे ही आबरू है।

—दर्द

सच मानिये, ये प्यारे आँसू न होते, तो आज हमारे ज़ख़्मी जिगरके सैकड़ों टुकड़े हो गये होते—

हम कहेंगे, क्या, कहेंगे यह सभी
आँखके आँसू न होते ये अगर;
बावले हम हो गये होते कभी
सैकड़ों टुकड़े हुआ होता जिगर।

—हरिऔध

हमारे पापोंको धोकर हमें यदि किसीने शुद्ध किया तो इन प्रेमके आँसुओंने ही। गालिबने क्या अच्छा कहा है—

रोनेसे और इश्क़में बेबाक हो गये,
धोये गये हम इतने कि बस पाक हो गये।



प्रेमीका हृदय

प्रेम-शून्य हृदयको हम कैसे हृदय कहें। हृदय तो वही, जो प्रेम-रससे परिपूर्ण हो। सच पूछा जाय तो प्रेमका दूसरा नाम हृदय है, और हृदयका दूसरा नाम प्रेम। हृदयवान् अवश्य प्रेमी होगा और प्रेमी ज़रूर सहृदय होगा। प्रेमकी पीरका मर्म हृदयवान् ही जानता है। इश्क़की दीवानगीका मज़ा दिलदार ही उठा जानता है। अजी, जिस दिलमें किसीके लिये दीवानगी न हो, वह दिल, मेरी अदना रायमें, दिल ही नहीं। कहा भी है—

वह सर नहीं, जिसमें कि हो सौदा ना किसीका,
वह दिल नहीं, जो दिल न हो दीवाना किसीका।

कितना करुणार्द्र और कोमल होता है प्रेमीका प्रमत्त हृदय ! भावुकता-ही-भावुकता भरी होती है उसके अमल अन्तस्तलमें। प्रेमकी सरसता उस पगलेके हृदयमें इतनी अधिक भर जाती है कि वह उसकी मस्तानी, रँगीली आँखोंमें छलकने लगती है। अहा ! कैसा होता होगा वह प्रेम-पूर्ण हृदय, कैसी होती होंगी वह मतवाली आँखें !

हिरदै माहीं प्रेम जो नैनों झलकै आय।
सोइ छका, हरि-रस-पगा, वा पग परसों धाय॥

—चरणदास

क्यों न उस मतवाले दिलवालेके पैर चूम लिये जायँ। क्यों न उस दर्दवन्त सन्तकी जूतियाँ उठाकर सरपर रख ली जायँ।

× × × ×

भाई, इसमें सन्देह ही क्या कि हृदय न होता तो प्रेम भी न होता—

होता न अगर दिल तो मुहब्बत भी न होती।

आफ़त इतनी ही है कि अपना होकर भी वह प्रेम-मतवाला हृदय किसी दिन अपना नहीं रह जाता। बेचारे दिलवालेको जबरन बेदिल हो जाना पड़ता है। गोया दिलका रखना कोई जुर्म है। कहाँ जाता है, क्या होता है, यह कौन जाने—

किस तरह जाता है दिल, बेदिलसे पूछा चाहिए।

—मजहर

सुना है कि उसे अपने प्यारे दिलके छिन या लुट जानेपर भी दिली दीवानगीका एक ख़ास आनन्द मिला करता है। यह भी सुना गया है कि उसकी सबसे पवित्र वस्तु किसी हठीले देवताके चरणोंपर चढ़ जाती है, उसकी सबसे महँगी चीज़ किसी प्यारे गाहकके हाथमें पहुँच जाती है। उसे अपने बेज़ार दिलकी क़ीमत भी खासी अच्छी मिल जाती है। ख़ासकर उस दिलका दर्द तो उस अनोखे गाहकको बहुत पसन्द आता है। एक बेदिलने क्या अच्छा कहा है—

दर्दे दिल कितना पसन्द आया उसे,
मैंने जब की आह, उसने वाह की।

ख़ैर, अच्छा ही हुआ, जो ऐसा दर्दीला दिल बिक गया, छिन गया या लुट गया। सचमुच ऐसा दिल एक आफ़त ही है। उस्ताद ज़ौक़ने कहा है—

दिलका य हाल है, फट जाय है सौ जायसे और,
अगर यक जायसे हम उसको रफ़ू करते हैं।

अरे, रफ़ू करके उस फटे-कटे दिलका करते हो क्या! ऐसा हृदय तो जान-मानकर गँवाया गया है। बात यह है न, कि मर-मिटकर ही अपनी कोई प्यारी चीज़ हासिल होती है। दिल इसीलिये दे दिया गया है कि प्रियतमके मार्गके प्रत्येक रज-कणमें वह समा जाय, या उस प्यारेकी गलीका वह खुद ही ज़र्रः-ज़र्रः बन जाय। खूने जिगरसे लिखी हुई 'जिगर' की सरस सूक्ति तो देखिये—

यों मिले इश्क़में मिटकर मुझे हासिल मेरा,
ज़र्रः-ज़र्रः तेरे कूचेका बने दिल मेरा।

हृदयका कैसा दिव्य रूपान्तर हो जाता होगा उस दिन। दिलको इस तरह गँवा देनेका यह गहरा भेद खुल जानेपर किस दिलवालेके दिलमें बेदिल हो जानेकी एक मीठी हूक न उठती होगी!

× × × ×

निर्मल तो बस प्रेमीका ही हृदय होता है। उसे हम एक स्वच्छ दर्पण कह सकते हैं—

हिरदै भीतर आरसी, मुख देखा नहिं जाय।
मुख तो तबहीं देखसी, दिलकी दुविधा जाय॥

—कबीर

दुविधा दूर हो जाय तो हम न केवल अपनी ही सूरत, बल्कि अपने मित्रका भी चित्र उस दर्पणमें देख सकते हैं। कैसा सच्चा है वह दिलका आईना—

दिलके आईनेमें है तसवीरे यार,
जब जरा गर्दन झुकाई देख ली।

अपना सच्चा रूप और उस सिरजनहार साईंकी सूरत हृदय-दर्पणमें हम प्रेमकी मदिरा पीकर ज़रूर देख सकते हैं। धन्य है प्रेमीका हृदय-मुकुर, जिसमें उस प्यारे मित्रकी झाईं सदा झिलमिलाया करती है। वह तसवीर दिलके आईनेमें उतर कैसे आती है! कहाँसे आकर वह अपनी अलबेली तसवीर दिलपर खिंचा जाता होगा! भीतरके कपाट तो सदा बन्द ही रहते हैं। दिल खुलता ही कब है?

खुलता नहीं दिल बन्द ही रहता है हमेशा,
क्या जाने कि आ जाता है तू इसमें किधरसे।

—ज़ौक़

कविवर विहारी अपने आश्चर्यको और भी अनोखे ंगसे प्रकट कर रहे हैं ! कहते हैं—

देखौं जागत वैसिये, साँकर लगी कपाट।
कित ह्वै आवतु जातु भजि को जाने किहिं बाट॥

कौन जाने, वह काला चोर किधर होकर आता है और दिलपर अपना चित्र खिंचाकर किस राहसे कब भाग जाता है !

× × × ×

हाय री, प्रेममय हृदयकी विरल वेदना ! कितनी करुणा और सरसता वहा करती है तेरी धवलधाराके साथ ! किसे थाह मिली है तेरी तरुण तरलताकी। कौन यथार्थ वर्णन कर सकता है तेरी मधुमयी मनोज्ञताका ! स्वयं हृदय भी शक्तिहीन हो गया है। दिलमें भी अब ताक़त नहीं, जो अपनी वेदनाका चित्र खींच-कर किसीको दिखा सके। उसे पड़ी ही क्या अपनी तसबीर खिंचाने और फिर उसे दुनियाँको दिखानेकी। प्रेमीके पास सिवा उसके वेदनामय हृदयके और है ही क्या ! अपने प्रियतमके प्रीत्यर्थ यही प्रेमीकी सबसे प्यारी वस्तु है, सबसे पवित्र भेंट है। उसे आप प्रीतिके उपहारमें देते हुए अपने प्रेम-पात्रसे किस सादगीके साथ कहते हैं—

मैं जाता दिलको तेरे पास छोड़े '
मेरी याद तुझको दिलाता रहेगा।

—दर्द

यही पागल हृदय प्रेमीका हृदय है। यही दिल वह दिल है जो किसीका दीवाना हो चुका है। यह वही दिल है जिसपर कविने कहा है—

दिल वही दिल है कि जिस दिलमें तेरी याद रहे।



प्रेमीका मन

क्यों बेचारे मनके ही मत्थे सारे दोष मढ़ रहे हो ? मन क्या दोषोंका ही आगार है, गुण क्या उसमें एक भी नहीं ? क्या वह केवल बन्धनका ही कारण है, मुक्तिका हेतु नहीं है ? माना कि वह चञ्चल है, चुलबुला है, एक ठौर रमता नहीं, पर क्या उसे तुम प्रेमकी डोरीसे बाँधकर किसी ऐसी जगह ठहरा नहीं सकते, जहाँसे भागनेका वह फिर कभी नाम न ले ? यह ठीक है कि वह रूईकी तरह व्यर्थ ही जहाँ-तहाँ उड़ता फिरता है, वज़नमें बहुत ही हलका है, फिर भी उसका नाम चालीस सेरा 'मन' रख दिया गया है—

उड़त-फिरत जो तूल सम जहाँ-तहाँ बेकाम।
ऐसे हरुये कौ धरयौ कहा जानि 'मन' नाम ॥

—रसनिधि

पर वह मन हाथमें आ सकता है, वशमें किया जा सकता है। मन-पक्षी तभीतक इधर-उधर उड़ता-फिरता है, जबतक वह विषय-वासनाओंमें लिप्त हो रहा है। प्रेम-रूपी बाजके चक्करमें आते ही वह चञ्चल पक्षी अपनी सारी उछल-कूद भूल जाता है—

मन-पंछी तबलगि उड़ै विषय-बासना माहिं।
प्रेम-बाजकी झपटमें जब लगि आयो नाहिं ॥

—कबीर

प्रेमका बाज उसे मारता नहीं, उसका केवल काया-कल्प कर देता है। एक ही झपटमें कौएको हंस बना देता है। कबीर साहब कहते हैं—

पहले यह मन काग था, करता जीवन-घात ।
अब तो मन हंसा भया, मोती चुग-चुग खात ॥

अब आ गया होगा सारा भेद समझमें । मनको कौन बुरा कहेगा ? कहा है—

'कबिरा' मन परबत हता, अब मैं पाया कानि ।
टाँकी लागी प्रेमकी, निकसी कंचन-खानि ॥

प्रेमकी टाँकी लगानेकी ही देर है । जितना आनन्दरूपी कञ्चन चाहो उतना ले सकते हो । अतएव मन बन्धनका ही नहीं, मोक्षका भी कारण है । विषयी मन जीवको जगज्जालमें फँसाता है, तो प्रेमी मन उसे बन्धन-मुक्त कर देता है ।

× × × ×

निस्सन्देह विषय-विहारी मन महान् मोहकारी और दारुण दुःखदायी है । विषयोंकी ओर उसे क्यों जाने देते हो ? उसे तो जितनी जल्दी हो सके अथाह प्रेम-पयोधिमें डुबा दो, नहीं तो पीछे तुम भी महाकवि देवकी तरह पछताते ही रह जाओगे—

ऐसो जो हौं जानतो, कि जैहै तू बिषैके संग,
एरे मन मेरे, हाथ-पाँव तेरे तोरतो ;
आजुलौं हौं कत नर-नाहनकी नाहीं सुनि,
नेहसों निहारि हारि बदन निहोरतो ।
चलन न देतो देव चंचल अचल करि
चाबुक चितावनीन मारि मुँह मोरतो;
भारी प्रेम-पाथर नगारो दै गरे सों बाँधि
राधा-बर-बिरुदके बारिधिमें बोरतो ॥

कहते हैं—–मैं यह जानता होता कि तू मुझे त्यागकर विषयोंके हाथ चला जायगा, तो रे मेरे मन ! मैं तो तभी तेरे हाथ-पैर तोड़कर तुझे लूला-लँगड़ा कर डालता । तेरे कारण आजतक न जाने कितने नर-पतियोंकी नाहीं सुननी पड़ी है । सो तो न सुननी पड़ती, उनके मुखकी ओर तो न ताकना पड़ता । ऐसा जानता तो तेरी सारी चञ्चलता भुला देता, तुझे अचल कर देता । चेतावनीके चाबुक मार-मारकर तुझे विषय-पथसे लौटा ही लेता । अरे, बड़ी भूल हुई । तुझे तो मैं डंकेकी चोटसे तेरे गलेमें प्रेमका भारी पत्थर बाँधकर श्रीराधिका-रमण कृष्णके विरद-वारिधिमें डुबा देता तो अच्छा होता ।

इसमें सन्देह नहीं कि मन है महान् बलवान् । उसका निग्रह करना अति कठिन है, वह मदोन्मत्त मातङ्ग है । निर्भय विषय-वनमें विचर रहा है । कौन उसे बाँधकर वशमें कर सकता है ? यह बात सहज तो नहीं है । कठिन अवश्य है, पर बाँधा जा सकता है । प्रेमकी मजबूत जंजीरें पैरोंमें डाल दो, आप ही सारी निरङ्कुशता भूल जायगी । हाँ, यह साँकड़ ही ऐसी है—

मन-मतंग मद-मत्त था फिरता गहर गँभीर ।
दोहरी तेहरी चौहरी परि गईं प्रेम-जँजीर ॥

—कबीर

अभीतक तो यह मन मोह-पङ्कमें ही फँसा है, प्रेम-सरोवरके समीप गया ही कब है । भगवान्‌के चरणरूपी कमलोंके वनमें उसने कब क्रीड़ा की है ? उस अनुराग-सरोवरमें एक बार प्रवेश भर कर पाय, फिर उसमेंसे कभी निकलनेका नहीं । वह जगह ही ऐसी है । अभीतक लोक-सौन्दर्यपर ही तुम्हारा सतृष्ण मन मोहित रहा आया है, प्रेम-सरोवरमें इसने अभी अवगाहन किया ही कब है ? अभीतक इसने रूप-तरंगोंके ही साथ केलि-कलोल किया है, अभी यह चाहके प्रवाहमें नहीं बहा है । प्रेम-प्रवाहमें मग्न मन कुछ और ही होता है ।

सांसारिक रस तो हैं ही क्या, प्रेम-हीन निर्गुण ब्रह्म-रस भी उसे नीरस ही प्रतीत होता है। वेदान्तवादी महात्मा उद्धव विरहिणी व्रजाङ्गनाओंको निर्गुण ब्रह्मोपासना आज बड़े सस्ते भावपर बेच रहे हैं, पर वे गँवार गोपियाँ उसे मूलीके पत्तोंके भी भावपर नहीं ले रही हैं। वे उसके बदलेमें उनका कृष्णानुरक्त मन चाहते हैं। सो असम्भव है। देना भी चाहें तो उनके पास उनका मन है कहाँ! वह तो प्यारे कृष्णके साथ कभीका चला गया। अब उद्धवके ब्रह्मको बेचारी क्या दें! दस-बीस मन तो उनके हैं नहीं! मन तो एक ही होता है--

ऊधो मन न भये दस-बीस।
एक जु हुतो सो गयो स्याम-सँग को आराधै ईस?

—सूर

जिस मनपर प्रेमका गहरा रंग चढ़ चुका, उसपर अब शुष्क शास्त्र-ज्ञानका रंग कैसे चढ़ सकेगा! कहाँ सरस प्रेम, कहाँ नीरस ज्ञान!

सूरदास यह कारी कामरि चढ़ै न दूजो रंग।

× × × ×

हमारा यह मन मोह कैसे छोड़ सकता है। यह तो जन्मसे ही मोही है, निर्मोही कैसे हो सकेगा। सौन्दर्योपासक तो एक नंबरका है। आँखोंमें किसीका सुन्दर रूप समाया और यह उसका बेदाम-का गुलाम बन गया! सौन्दर्योपासनका अपना स्वभाव तब कैसे छोड़ सकता है! अपने दृग-दीवानोंको मन महाराज भला बरखास्त कर सकते हैं! विहरणशील यह है ही। यह भी आदत इसकी छुड़ाई जा रही है! सो असम्भव है। एकान्तवास यह सैलानी मन कर ही नहीं सकता। यह भी कहा जाता है कि यह किसीको अपने हृदयमें धारण

न किया करे। न यह किसीके हृदयमें रमे, न किसीको अपने हृदयमें रमाये। ये सब साधनाएँ इस बेचारेसे सधनेकी नहीं। हाँ, एक रास्ता अभी है। वह यह कि—

मनमोहन सों मोह करि तूँ घनस्याम निहारि।
कुंजबिहारी सों बिहरि गिरधारी उर धारि॥

—विहारी

रे मन! तुझे मोह-त्यागकी आवश्यकता नहीं है। यदि तुझे किसीसे मोह करना ही है, तो प्यारे मन-मोहनसे मोह कर। देख, जगत्‌में जितने मोहक पदार्थ हैं, वे सब परिणाममें रंग-रस-हीन जँचते हैं, किन्तु विश्व-मोहन श्रीकृष्णका मोह, वस्तुतः प्रेम, सदा एकरस रहता है। सौन्दर्योपासना भी मत छोड़। यदि तू किसीकी सुन्दरता देखना चाहता है, तो श्रीघनश्यामका रूप-रस पान कर। उनका सौन्दर्य अनन्त और नित्य है; और सौन्दर्य तो अन्तमें क्षीण और नष्ट हो जाता है। यदि तेरी इच्छा किसीके साथ विहार करनेकी है तो कर, कोई रोकता नहीं। पर श्रीकुञ्जविहारीके साथ विहार कर। क्योंकि उस विहारीका ही विहार सदा एक-सा आनन्द-दायी है, और विहारोंसे तो अन्तमें, विराग हो जाता है। और यदि तू किसीको हृदयमें धारण करनेकी अभिलाषा करता है, तो कर, कोई तेरा बाधक नहीं। पर गिरिधारीको धारण कर, क्योंकि वह परम भक्त-वत्सल हैं। जिसने गोवर्धनगिरि धारण करके इन्द्रके क्रोधसे व्रजकी रक्षा की वही एक धारण करने योग्य है। सो, हे मन!

मनमोहन सों मोह करि तूँ घनस्याम निहारि।
कुंजबिहारी सों बिहरि गिरधारी उर धारि॥



प्रेमियोंका सत्सङ्ग

प्रेमी रैदास आज फूले नहीं समाते हैं। प्रेम-मग्न होकर आप गा रहे हैं—

आज दिवस लेऊँ बलिहारा,
मेरे गृह आया पीवका प्यारा।

बलिहारी! आज मेरे घर प्रियतमका एक प्यारा पधारा है। धन्य है आजका मङ्गलदिवस! उसके स्वागत-सत्कारसे आज मुझे अवकाश ही कहाँ। आज मेरे यहाँ महामहोत्सव है। सुनूँ, उस प्रेम-पुरीसे वह क्या सँदेशा लेकर आया है!

कृष्ण-सखा उद्धवका दर्शन पाकर गोपियोंने भी तो गद्गद होकर कहा था—

ऊधो, हम आजु भईं बड़भागी।
जैसे सुमन-गंध लै आवतु पवन मधुप अनुरागी॥
अति आनंद बढ़यौ अँग-अँगमें, परै न यह सुख त्यागी।
बिसरे सब दुख देखत तुमकौं, स्यामसुँदर हम लागी॥

—सूर

उद्धव! तुम्हें देखकर आज हमने मानो अपने प्यारे कृष्णको ही देख लिया। हमें आज उन नेत्रोंका दर्शन मिल रहा है, जिन्होंने कृष्णके रूप-रसका अहोरात्र पान किया है। तुम हमारे प्यारेके प्यारे हो। भले पधारे हो। विराजो, व्रज-राज-कुमारका सँदेसा सुनाकर हमें कृतार्थ करो। तुम्हारे सत्सङ्ग-लाभसे कौन कृत कृत्य न हो जायगा?

प्यारे कृष्णकी परमानुरागिणी गोपियोंके अपूर्व सत्सङ्गसे विज्ञवर उद्धव भी कृतार्थ हो गये। प्रेमियोंका सङ्ग बड़े-बड़े ज्ञानियोंको भी क्या-

से-क्या कर देता है, इसे आप उद्धवके ही मुखसे सुनें । प्रेम-प्रतिमा व्रजाङ्गनाओंसे श्रीकृष्णके परम मित्र उद्धव, सुनिये, क्या कहते हैं——

तुम्हरे दरस भगति मैं पाई । वह मत त्याग्यौ, यह मति आई ॥
तुम मम गुरु, मैं शिष्य तुम्हारो । भगति सुनाय जगत निस्तारो ॥

—सूर

अलौकिक प्रभाव है प्रेमियोंके सत्सङ्गका । उद्धवजी महाराज क्या बनकर तो व्रजमें आये थे, और क्या होकर चले ! क्या हुआ उनका वह सब अत्युच्च अध्यात्मवाद ? अच्छा मूँड़ा वेदान्त-केसरीको उन गँवार गोपियोंने !

× × × ×

उन्हींसे प्रीति करो जो अपने प्रियतमके प्यारे हों, प्रेमकी मदिरामें चूर रहते हों, आठों पहर मस्तीमें झूमते रहते हों, इश्क़के रसमें छके रहते हों । भाई, प्रभुके ऐसे ही लाड़लोंका सङ्ग करो——

आठ पहर जो छकि रहैं, मस्त आपने हाल ।
'पलटू' उनसे प्रीति कर, वे साहिबके लाल ॥

पर ऐसे ऊँचे प्रेमी मिलते कहाँ हैं । क्षणमात्र भी ऐसे उन्मत्त प्रेमीका साथ हो जाय, तो प्रेमका निगूढ़ रहस्य समझनेमें फिर देर ही कितनी लगे । देखते-ही-देखते कुछ-का-कुछ हो जाय । पर वह रामका लाड़ला कहीं दिखायी भी तो दे । क्या करें, ऐसा प्रेमी कहीं आजतक मिला ही नहीं——

प्रेमी ढूँढ़त मैं फिरौं, प्रेमी मिला न कोय ।

यदि कहीं मिल जाय, तो फिर क्या पूछना——

प्रेमीसे प्रेमी मिलै, सहज प्रेम दृढ़ होय ।

—कबीर

यों तो बहुतेरे दुनियावी आशिक़ मिले, पर उस मालिकका सच्चा आशिक़ तो हमें कोई नहीं मिला—

दिल मेरा जिससे बहलता, कोई ऐसा न मिला;
बुतके बन्दे मिले, अल्लाहका बन्दा न मिला।

—अकबर

इसीसे अब यहाँ जी नहीं लगता—

इन उजड़ी हुई बस्तियोंमें जी नहीं लगता,
है जीमें वहीं जा बसें वीराना जहाँ हो।

—मीर

इन बने हुए प्रेमियोंके साथ रहनेमें अब दिल घबरा-सा रहा है। क्या समझ रक्खा है इन भले आदमियोंने प्रेमको! ऐसे तो पचासों मिलते हैं, पर वैसा एक भी नहीं मिलता। किसके आगे यह दर्द-भरा दिल खोलकर रक्खा जाय; किसके दरपर अपना रोना रोया जाय। सुननेवाले बहुत हैं, पर सुनकर मर्मतक पहुँचनेवाला कहाँ है! हाँ, हँसनेवाले यहाँ बहुत हैं। इसीसे तो जीमें आता है कि—

रहिए अब ऐसी जगह चलकर, जहाँ कोई न हो,
हमसख़ुन कोई न हो, औ हमज़बाँ कोई न हो।
बेदरो-दीवार-सा इक घर बनाना चाहिए,
कोई हमसाया न हो औ पासबाँ कोई न हो।
पड़िए गर बीमार तो कोई न हो तीमारदार,
और अगर मर जाइये तो नोहाख़्वाँ कोई न हो।

—ग़ालिब

चलें किसी ऐसी जगह चलकर डेरा डाल दें, जहाँ कोई न हो। न हमारी बात कोई समझे, न हम किसीकी समझें। रहनेको कोई ऐसा घर बना लें, जिसमें न तो दर हो, न दीवार! वहाँ न कोई संगी-साथी हो, न कोई पास-पड़ोसी। कभी वहाँ बीमार पड़ जायँ

तो कोई दवा-दारू या सेवा-शुश्रूषा करनेवाला भी न हो। और जो मर जायँ तो वहाँ कोई रोनेवाला न हो।

माना कि संसारमें भोग-विलासोंके पर्याप्त साधन हैं, सभी प्रकारके सुख सुलभ हैं, और अपने अनेक सगे-सम्बन्धी तथा मित्र भी हैं, पर तो भी हृदयमें प्रेममूलक शान्ति नहीं है। सब कुछ होते हुए भी इस जीवनमें प्रेमके अभावने समस्त सुखोंपर पानी फेर दिया है। जहाँ अपना प्यारा प्रेमी है, वहाँ कुछ न होते हुए भी सब कुछ है, जहाँ वह नहीं, वहाँ सब कुछ होते हुए भी कुछ नहीं है। अधिक क्या कहें, प्रेम-शून्य स्वर्ग भी तुच्छ है, और प्रेम-पूर्ण नरक भी महिमामय है। कहा है—

प्रियतम नहीं बजारमैं, वहै बजार उजार।
प्रियतम मिलै उजारमैं, वहै उजार बजार॥

—अहमद

और भी—

कहा करौ बैकुण्ठ लै कलपबृच्छकी छाहँ।
'रहिमन' ढाँक सुहावने जहँ प्रीतम-गल-बाहँ॥

प्रेमियोंका साथ छूटना कितना कष्टप्रद है, इसे कबीरके ही रहस्यमय शब्दोंमें सुनिये—

राम बुलावा भेजिया, कबिरा दीन्हा रोय।
जो सुख प्रेमी-संगमैं, सो बैकुण्ठ न होय॥

प्रेमियोंके सत्सङ्गका सुख वहाँ कहाँ है। वह सत्सङ्ग-सुख छोड़कर कौन स्वर्गके भोग भोगने जाय। वैकुण्ठके देव-भवनोंकी अपेक्षा प्रेमीका यह पर्ण-कुटीर कहीं अधिक सुखदायी है।



कुछ आदर्श प्रेमी

पक्षी है तो क्या हुआ ? हम तो उसे, जिसे विरहिणी नायिकाओंके वकीलोंने 'पापी' का ख़िताब दे रक्खा है, एक ऊँचा प्रेम-प्रण निबाहनेवाला प्राण मानते हैं। प्रेमकी सारी निधि क्या अकेले मनुष्यके ही हिस्सेमें आ गयी है ? चातककी चोटीली चाहका मर्म जिसने समझ लिया उसे प्रेमका तत्त्व प्राप्त हो गया, ऐसी हमारी दृढ़ धारणा है। कैसी अनुपमेय प्रेमानन्यता है उस पवित्र पक्षीकी। प्रेमी पपीहा प्रेमपर जीना ही जानता है, और मरना भी जानता है। प्रेमके रणाङ्गणपर हमें तो एक वही सच्चा प्रण-वीर देखनेमें आया है; मरते मर जायगा, पर अन्ततक अपना प्रण भंग न करेगा। क्या ही ऊँचा प्रेम-प्रण है !

पपिहा पनकों ना तजै, तजै तो तन बेकाज।
तन छूटै तो कछु नहीं, पन छूटै अति लाज॥

—कबीर

प्रेमकी प्यासमें कितनी तड़प है, इसे वह पपीहा ही जानता है। कूप, नदी, तालाब, कुण्ड आदि जलाशय उसके किस कामके ? समुद्रतक तो उसकी प्यास बुझा नहीं सकता। वह तो केवल स्वातिजलका ही प्यासा है। उसकी करुणा-भरी 'पीउ, पीउ' की पुकार प्रिय पयोदतक जाय या न जाय, पर वह किसी भाँति प्रेम-

प्रणमें पिछड़नेवाला प्राणी नहीं। पियेगा तो स्वातिका ही जल पियेगा, नहीं तो प्यासा ही प्राण त्याग देगा। वाह रे, प्रणवीर !

सुन रे तुलसीदास, प्यास पपीहहि प्रेमकी।
परिहरि चारिहु मास जो अँचवै जल स्वातिकौ॥

एक बहेलियेने किसी पपीहेको बाण मार दिया। घायल पक्षी छटपटाता हुआ गङ्गामें गिरा। पर उस प्यासे चातकने मरते समय भी, जगत्पावनी जाह्नवीके जलमें अपनी चाह-भरी चोंच न डुबोयी। टेक निबाहते हुए ही शरीर छोड़ दिया—

ब्याधा बध्यौ पपीहरा, परयौ गंग-जल जाय।
चोंच मूँदि पीवै नहीं, पिऊँ तो मो प्रन जाय॥

—तुलसी

मरणके उपरान्त भी अन्य जलकी चाह न की, पुत्रको भी बार-बार यह सिखावन दे गया—

'तुलसी' चातक देत सिख, सुतहि बार-ही-बार।
तात ! न तरपन कीजियो बिना बारि-धर-धार॥

धन्य है प्रेमी पपीहेको ! यों तो कितने रंग-रंगके विहङ्ग वनमें उड़ते फिरते और पोखरियोंका पानी पीते हैं, पर, चातक ! तुम्हें कौन पा सकता है; तुम तो तुम्हीं हो—

डोलत बिपुल बिहंग बन, पियत पोखरनि बारि।
सुजस-धवल चातक नवल, तुही भुवन दस-चारि॥

—तुलसी

कितना पवित्र प्रेम है पपीहेका ! कवि-रत्न सत्यनारायणकी यह क्या अच्छी उक्ति है—

चित्र-बिचित्र पवित्र प्रेम प्रनकर मनभावन।

सुनत परमरस-ऐन बैन पपिहाके पावन ॥
तृन-सम हू नहि गिनत सकल निज तन मन धन है।
पूरन प्रेमी परमासय पपिहाकौ प्रन है ॥
प्रेम-प्रथा अनुकरन-जोग थिर चित चातककी।
जिहि सुनि छाती परै न तन प्रवसन पातककी ॥

अब मेघ महाराजकी भलमनसाहत देखिये। आपकी दृष्टिमें चातकके प्रेमका कुछ भी मूल्य नहीं है। वह बेचारा 'पीउ-पीउ' पुकारता मरा जाता है, आप घमण्डमें घुमड़-घुमड़कर उसकी ओर हेरतेतक नहीं ! हाँ, गर्जतर्जकर डाँट-डपट बेशक बता देते हैं। मौजमें आकर कभी-कभी उस गरीबपर पत्थर भी बरसा देते हैं, बिजली भी गिरा देते हैं। प्रेमकी कैसी अच्छी क़द्र करते हैं ये श्रीमान् मेघ महोदय ! पर धन्य वह पपीहा ! उसकी प्रीति तो और भी अधिक बढ़ जाती है ! एकाङ्गी प्रेमकी परीक्षामें कितना ऊँचा उतरता है वह दीन पक्षी !

पबि, पाहन, दामिनि, गरज, झरि झकोर खरि खीझि।
रोस न प्रीतम-दोस लखि 'तुलसी' रागहि रीझि ॥

वारिद-वर बताओ तो भला, पपीहेने तुम्हारा ऐसा क्या बिगाड़ा, जो उसपर इतने रुष्ट हो रहे हो ? उसपर क्या इसीलिये ज़ुल्म कर रहे हो कि तुमपर उसका प्रेम है ? प्रेमका क्या उसे यही पुरस्कार दिया जा रहा है ? खैर, तुम्हें तो हम क्या कहें; पर उस प्रेमी पपीहेके, जी चाहता है, पैर चूम लें। हाँ, धन्य तो उस चातकको ही है—

जगको, घन ! तुम देत हौ, गजके जीवन-दान।
चातक प्यासे रटि मरे, तापर परे पखान॥
तापर परे पखान, बानि यह कौन तिहारी।
सरित-सरोवर-सिंधु तजे, इन तुमहि निहारी॥
बरनै दीनदयाल, धन्य कहिए यहि खगको।
रह्यो रावरे आस, जनमभरि तजि सब जगको॥

बलिहारी ! अरसिकोंको तो भरपेट पानी देते हो, और इस अनन्य रसिकको एक बूँद भी नहीं देते उलटे पत्थर मारते हो ! इसीको सरसता और रसिकता कहते हैं ! तुम्हारे आगे प्रेम-गाथाका गाना व्यर्थ है !

इन आरतिवंत पपीहनिकों, 'घनआनँदजू' पहिचानौ कहा तुम !

मीन क्या आदर्श प्रेमी नहीं है ? क्यों नहीं, उसकी प्रीति तो अतुलनीय है। अकथनीय है। प्रीति-प्रीति तो सभी चिल्लाते फिरते हैं, प्रीति करते भी अनेक प्रेमी हैं; पर प्रीतिका मर्म मीनने ही समझा है—

सुलभ प्रीति प्रीतम सबै, कहत करत सब कोइ।
'तुलसी' मीन पुनीत तें, त्रिभुवन बड़ी न कोइ॥

यों तो कहनेको जलके अनेक जीव हैं; मगर भी पानीमें रहता है, साँप भी पानीमें रहता है; मेढकका भी वहीं घर है, कछुएका भी वहीं रहना होता है। और भी अनेक जीवोंका जल ही गृह है और जल ही जीवन है। पर मीनका उससे जो प्रेम है, वह दूसरे जल-चरोंमें कहाँ ? और जीवोंका तो जल केवल घर है, जीवन है; पर मीनके लिये तो वह जीवनका भी जीवन है, प्राणोंका भी प्राण है—और न जाने क्या है—

मकर, उरग, दादुर, कमठ, जल जीवन जल गेह।
'तुलसी' एकै मीनकौ, है साँचिलो सनेह॥

सच्चा स्नेह न होता, तो अपने प्यारेसे बिछुड़ते ही वह मछली अपने प्राण कैसे त्याग देती ? वियोग तो, बस, मीनका ही है। जबतक अपने प्रियके साथ है, तभीतक उसका जीवन है। प्रिय-विहीन जीवनका उसकी दृष्टिमें कोई मूल्य ही नहीं। कबीरने सच कहा है—

अधिक सनेही माछरी, दूजा अलप सनेह।
जबही जल ते बीछुरै, तबही त्यागै देह॥

जबतक जीवन-धन, तबतक जीवन। प्रियतम और जीवन दो भिन्न वस्तुएँ तो हैं नहीं। अभिन्नको कौन भिन्न कर सकता है ? इसीसे—

बिरही मीन मरत जल बिछुरे, छाँड़ि जियनकी आस।
—सूर

जलमें विष ही क्यों न घुला हो, पर मछलीको तो वह जीवन-दाता अमृत ही है—

देउ आपने हाथ जल, मीनहि माहुर घोरि।
'तुलसी' जियै जो बारि बिनु, तो तु देहु कबि खोरि॥

दही और दूधसे भरे हुए भारी-भारी सागर उसके किस कामके ? उसकी लौ तो केवल जलसे लगी हुई है, सो एक छोटी-सी पोखरीमें ही उसे असीम आनन्द मिल रहा है। पर जलको उसके प्रेमकी ऐसी कोई पर्वा नहीं। कितनी मछलियाँ उसके निर्दय अङ्कपर नित्य जालमें फँसती और मरती हैं, पर जलाशयको तनिक भी दुःख नहीं होता। वह तो ज्यों-का-त्यों मौजमें लहराता रहता है !

मीन बियोग न सहि सकै, नीर न पूछै बात।
देखि जु तू ताकी गतिहि, रति न घटै, तन जात॥

—सूर

तब भी मीनके प्रेममें कमी नहीं आने पाती। धन्य है उस अनन्य प्रेमीका एकाङ्गी प्रेम!

'जीवन हो मेरो' यह भाषत सकल नेही,
पालिबो सहज नाहीं कठिन करार कौ;
पैयतु हैं यामें, यातें गैयतु जगत जसु,
दूजो न करैया कोउ ऐसे निरधार कौ।
वाहि कछु, देखिए, न रंच परवाह परी,
वाहवा इकंगी ह्वै तरैया प्रेम-धारकौ;
होतही बिहीन देह देय तजि प्राननिकों
देख्यौ मैं 'नवीन' यों सनेह मीन-वार कौ।

जीते जी तो प्यारे जलको छोड़ेगी ही क्यों, मरनेपर भी मछली उसे ही चाहती और उसीका प्रेम माँगती है। मरकर काटे जानेपर भी पानीसे ही स्वच्छ होती है और पकाकर खाये जानेपर जलकी ही चाह करती है। रहीमने कहा है—

मीन काटि जल धोइये, खाये अधिक पियास।
'रहिमन' प्रीति सराहिये मुएहु मित्रकी आस॥

एक और सज्जन इसका समर्थन कर रहे हैं—

प्रेमी प्रीति न छाड़हीं, होत न प्रनते हीन।
मरे परे हू उदरमें जल चाहत है मीन॥

यही कारण है कि सूरदासजीने विरहिणी व्रजाङ्गनाओंके अश्रु-पूर्ण नेत्रोंकी, अन्य सब उपमाओंको तुच्छ ठहराकर, एक मीनकी ही उपमा सार्थक मानी है। कहते हैं—

उपमा एक न नैन गही।
कबिजन कहत-कहत चलि आए, सुधि करि काहु न कही॥
ब्रज-लोचन बिनु लोचन कैसे, प्रतिदिन अति दुख बाढ़त।
'सूरदास' मीनता कछू इक जल भरि संग न छाड़त॥

× × × ×

अब उस ज़रा-से पतंगेको लीजिये। वह भी एक आदर्श प्रेमी है। यदि मीनका विछोह बेजोड़ है, तो पतंगेका मिलन अद्वितीय है। सुकवि रघुनाथने कहा है—

जब कहूँ प्रीति कीजै, पहिले ते सीखि लीजै,
बिछुरन मीनकी, औ मिलन पतंगकी।

वास्तवमें, पतंगका प्रिय-मिलन अद्वितीय है। लौ लगाकर लौसे लपट जाना एक पतंग ही जानता है। उसका प्रेमालिङ्गन अनुपम है। प्रेमाग्निमें अपने अस्तित्वको नष्ट कर देना सिवा उसके और कौन जानता है? सुकवि जिगरने क्या अच्छा कहा है—

ख़ाके परवानः से आती हैं सदाएं पैहम,
ज़िंदगी है ग़मे दिलवरमें फ़ना हो जाना।

पतंगेकी ख़ाकसे बराबर यह आवाज़ उठ रही है कि ग़मे दिलवरमें फ़ना हो जानेका ही नाम ज़िन्दगी है, प्यारेके वियोग-दुःखमें अपने अस्तित्वको नष्ट कर देना ही जीवन है। कैसी ऊँची और पवित्र भावना है। दिल चाहता है कि उस प्रेमके फ़कीरकी यह सदा हम भी गली-गली लगाते फिरें—

ज़िंदगी है ग़मे दिलवरमें फ़ना हो जाना।

ज़िन्दगीकी उलझन इस तरह प्रेमकी लौमें फ़ना हो जानेसे ही सुलझेगी। क्यों न हमलोग पतंगेके जीवन-दानसे प्रेमका यह पवित्र

पाठ पढ़ लें! चातक और मीनके प्रेमकी भाँति पतंगेका भी प्रेम एकाङ्गी है। अपने प्रियतमकी लापरवाही और निठुराईको वह भी कभी ध्यानमें नहीं लाता। उसे तो लपककर उस लौसे लपट जानेसे मतलब है। उसे यह जाननेका अवकाश कहाँ कि दीपक भी उसे चाहता है, या नहीं। कविवर नवीनकी इसपर क्या बढ़िया सूक्ति है—

काननते धाय-धाय आवत अरंग रंग,
नैननि निहारि धारि धारना उमंगकी;
सोचै न सम्हारै न विचारै प्रान-लोग नेही,
सूरते सरस हद्द हिम्मत विहंगकी।
जेतो औढ़ो बूड़ौ तेतो तिरत, तमासो यह,
मौजमें 'नवीन' नेह-समुद-तरंगकी॥
अंगके मिलावत ही अंग जरि जात संग,
देखहु इकंगी प्रीति दीपक-पतंगकी॥

जिसने प्रेमकी आगमें अपने आपको खाक कर दिया, वही प्यारेका अनन्त आलिङ्गन पानेका अधिकारी है। यह मिल-भेंटनेका गहरा भेद पतंगेने ही जाना है।

× × × ×

और वह चकोरी! क्या कहना, उसकी भी प्रीति अनुकरणीय है। प्रेम-रसका पीना चकोरीने ही जाना। उसकी तल्लीनता, तन्मयता देखते ही बनती है। तुलसी साहबकी एक साखी है—

'तुलसी' ऐसी प्रीति कर, जैसे चंद चकोर।
चोंच झुकी गरदन लगी, चितवत वाही ओर॥

सारी रात प्यारे चाँदकी ओर एकटक देखते रहना क्या कोई साधारण साधना है? सच पूछो तो यह योगकी त्राटक मुद्रा है।

बड़े-बड़े योगी भी दृष्टि-साधनामें उसकी बराबरी न कर सकेंगे। कितनी अधीरता और व्याकुलता है उसकी लगनमें! उसका दिन न जाने कैसे कटता होगा। सारा दिन साँस गिनते-गिनते जाता होगा। प्रिय-दर्शनकी आशा उसे अत्यन्त अधीर बना देती है। दिनमें बिछोहकी व्याकुलता और रातमें दीदारकी बेहोशी। उसे क्या मालूम कि रात कैसे निकल गयी। क्या ही गहरी तल्लीनता है! 'नेह-निदान' में सुकवि नवीन लिखते हैं—

साँसैं गनि काटै दिन आस पै उदासी बिनु,
रैनके प्रकास लावै ढोरी मीत ओरीकी;
छाड़ि लोक-लाजै औ बिसारि सब काजै, गाजै
चाहै चुपचापन चितौन चख-चोरीकी।
नेहके नगारे दैकैं चुगत अँगारे, देखौ,
प्यारेके उज्यारे हित बँधी प्रेम-डोरीकी;
निबह अभंगी जाय नेक न दुअंगी कहूँ,
ऐसी इकअंगी चाह चंदसौं चकोरीकी॥

यहाँ भी वही एकाङ्गी प्रीति है। तो क्या सभी आदर्श प्रेमियोंका प्रेम एकाङ्गी ही होता है? इसमें सन्देह ही क्या। प्रेमी, एकाङ्गी प्रेमकी अवस्थामें ही, अपने प्रेमास्पदके चरणोंपर अपना प्यारे-से-प्यारा जीवन-कुसुम चढ़ा सकता है। इसी अवस्थामें उसके प्रेमका पूर्ण विकास होता है।

अच्छा, चकोरीके आग खानेमें क्या रहस्य है? यह भी क्या कोई प्रेम-साधना है? हाँ, अवश्य, यह भी एक साधना है और बड़ी ऊँची साधना है। इस विचारसे चकोरी अङ्गार खाती है कि मैं भस्म हो जाऊँ, कदाचित् उस भस्मको शिवजी अपने ललाटपर

लगा लें और वहाँ प्यारे चन्द्रसे मेरी भेंट हो जाय ! धन्य है उसकी यह प्रिय दर्शनाभिलाषा !

प्रियसों मिलौं भभूति बनि ससि-सेखरके गात ।
यहै बिचारि अँगारकों चाहि चकोर चबात ॥

अङ्गार चबानेका, लो, यह जवाब है । अब भी कुछ शंका है ?

चकोरी ! इतनी अधीर मत हो । धीरज धर । सदा यह अँधेरी रात न रहेगी । धीरे-धीरे इसी तरह पूर्णिमा आ जायगी और तेरा प्रियतम तुझे दर्शन देगा—

सोच न करै चकोरि ! चित, कुहू-कुनिसा निहारि ।
सनै-सनै ह्वैहै उदै राकाससि तम टारि ॥
राका-ससि तम टारि, दूरि दुख करिहै तेरो ।
धीर धरै किन, बीर, कहा अकुलाय घनेरो ॥
बरनै दीनदयाल, लखैगी तू भरि लोचन ।
जो तेरो प्रिय-प्रान, मिलैगो सो, अब सोच न ॥

× × × ×

परेवा भी एक ऊँचा प्रेमी है । प्रीतिकी दौड़में वह किसी प्रेमीसे पीछे रह जानेवाला नहीं । आकाशमें कितना ही ऊँचा क्यों न उड़ रहा हो, पर अपनी प्यारी परेईको जालमें फँसी हुई देखकर तत्क्षण प्रेमाबीर हो आप भी वहीं गिर पड़ता है । वह वियोग-व्यथा सह ही नहीं सकता—

प्रीति परेवाकी गनौ, चाह चढ़त आकास ।
तहँ चढ़ि तीय जु देखही, परत छाड़ि उर स्वास ॥

—सूर

दाम्पत्य-जीवनका सुख कबूतर-कबूतरीने ही जाना है । हाँ, और किसे नसीब होगा ऐसा सहज सुख । कविवर विहारीने अपने

इस दोहेमें परेवाके सुखमय जीवनकी कैसी सराहना की है—

पट्ट पाँखै, भखु काँकरै, सपर परेई संग।
सुखी, परेवा, पुहुमि पै, एकै तुही विहंग॥

भाई परेवा! पृथिवीपर एक तू ही सुखी है। वस्त्र तो तेरा पंख ही है, जो सदा तेरे पास रहता है और कंकड़ ही तेरा भक्ष्य है, जो सर्वत्र मिल सकता है। न तुझे वस्त्रकी ही कमी है, न भोजनका ही अभाव है, और, यह तेरी सहचारिणी प्यारी परेई तेरे साथमें है ही। अब दाम्पत्य-जीवनमें और क्या सुख चाहिये?

और, कपोत-व्रत तो अनुपम है ही। वाह!

है इत लाल कपोत-व्रत, कठिन प्रेमकी चाल।
मुखते आह न भाखहीं, निज सुख करहिं हलाल॥

—हरिश्चन्द्र

तब क्यों न इस पक्षीको हम एक आदर्श प्रेमीके रूपमें देखें?

× × × ×

और, वह भोला-भाला हिरण! रागके उस अद्वितीय अनुरागी-को कौन भूल सकता है, स्वयं उसका प्रियतम राग ही बहेलियेका रूप धारणकर क्यों न उसे बाण मार दे, पर वह तो अपने प्यारेके प्रेम-रसका प्यासा ही रहेगा, उस प्रेमीका मुग्ध मन प्रीतिसे मुड़ेगा नहीं। यदि ऐसा हो, तो निर्मल प्रेमपटपर दाग न पड़ जाय! धन्य है उस सरलहृदय हिरणको!

आपु व्याध कौ रूप धरि कुहो कुरंगहिं राग।
'तुलसी' जो मृग-मन मुरै परै प्रेम-पट दाग॥

वाह रे प्रणय-वीर! रण-धीरता तेरी ही है—

सुमिरि सनेह कुरंगकौ स्रवननि राच्यौ राग।
धरि न सकत पग पछमनो, सर सनमुख उर लाग॥

—सूर

बलिहारी ! कविवर नवीन भी कुरंगके एकाङ्गी प्रेमपर मुग्ध हो रहे हैं—

बीनके सुनत बैन कानन अचेत ह्वैकैं,
कानन तें धाय ओप आनन उमंगकी;
प्राननिकी हानि न बिचारै, बँध्यौताननि सों,
बाननि बिंधत न सँभारै सुधि अंगकी।
जान न सराह्यौ, न अजाननके भाव कछु
ताकी तरलाई नेह-समुद-तरंगकी;
नेही जब रँगि रहै रागके सुरंग, जामें
नेक न दुरंग ऐसी लगन कुरंगकी॥

× × × ×

मयूरका भी प्रेम अकृत्रिम और अप्रतिम है। श्यामघनकी वह हृदय-हारिणी छवि मयूरके मनपर न जाने क्या जादू डाल देती है। अपने प्रियतमको नाच-नाचकर रिझाना उस प्रेमोन्मत्त पक्षीने ही जाना है। श्याम नीरदकी कमनीय कान्ति देखते ही उसका एक-एक पंख प्रफुल्लित और पुलकित हो जाता है। उसकी प्यासी आँखोंमें न जाने कितनी प्रेम-मदिरा भर जाती है। श्यामघनसे उसकी इतनी अधिक प्रीति होनेसे ही प्यारे घनश्यामने उसके पंखोंका मुकुट अपने मस्तकपर धारण किया है। धन्य प्रेमोन्मत्त मयूरका भाग्य !

मोर सदा पिउ-पिउ करत, नाचत लखि घनस्याम।
यासों ताकी पाँखहूँ, सिर धारी घनस्याम॥

—अम्बिकादत्त व्यास

'मोरशिखा' नामकी एक बूटी होती है। उसमें जड़ नहीं होती। पर बरसात आते ही वह सूखी हुई बूटी पनप उठती है।

श्यामघनकी प्रेममयी ध्वनि सुनकर जड़ मोरशिखा भी ललकसे लहलही हो जाती है। यह नामका प्रभाव नहीं तो क्या है ? जब जड़ 'मोर' का यह हाल है, तब चैतन्य मोरके आनन्दका कुछ पार !

'तुलसी' मिटै न मरि मिटेहुँ, साँचो सहज सनेहु।
मोरसिखा बिनु मूरि हू पलुहत गरजत मेहु॥

मोरकी नाईं हमारे मन-मोर भी किसी घनको देखकर क्या कभी आनन्दातिरेकसे नाचने लगेंगे ? बड़भागी तो हमारे हरिश्चन्द्र हैं। धन्य !

भरित नेह-नवनीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ लखि नाचत मन मोर॥

× × × ×

और भी, प्रेम-जगत्में, कितने ही आदर्श प्रेमी हैं। उस चाह-भरे चुम्बकका लोहेको खींचकर हृदयसे लगा लेना कौन नहीं जानता। क्षीरके प्रति नीरका प्रेम क्या साधारण कोटिका है ? मिट्टी और पानीकी प्रीति क्या कोई मामूली प्रीति है ? मिट्टीका घड़ा ही स्नेहालिङ्गन देकर जलके हृदयको ठण्डा करता है। कनककलशमें उसे वह सुख कहाँ ?

देखौ, जाकौ प्रेम जासु सँग ताहि तौन ही भावै।
जल जुड़ात माटीकी गगरी सोन-कलस गरमावै॥

—प्रयागनारायण

इन आदर्श प्रेमियोंके प्रेमका हमलोग भी क्या कभी अनुकरण कर सकेंगे ?



दूसरा खण्ड

विश्व-प्रेम

पहले तुम किसी एकको अपना एकमात्र जीवनाधार प्रेम-पात्र मान लो, अनन्यभावसे उसी एकके हो जाओ। निश्चय ही, उसके प्रति तुम्हारा अनन्त और अप्रतिम प्रेम धीरे-धीरे अखिल संसारको तुम्हरा प्रीति-भाजन बना लेगा। तुम तब प्राणिमात्रमें, चराचर जगत्में, अपने प्रियतमका ही रूप प्रत्यङ्कित पाओगे। अणु-अणुमें अपने प्रेम-पात्रको ही प्रतिविम्बित देखोगे। उस दिन अनायास ही यह भेद खुल जायगा कि—

मैं समुझ्यौ निरधार, यह जग काँचो काँच-सौ।
एकै रूप अपार, प्रतिबिंबित लखियतु जहाँ॥

—बिहारी

अपने प्यारेके अगाध प्रेम-पयोधिमें तुम अनायास ही इस विस्तीर्ण विश्वको 'जल-विन्दुवत्' विलीन कर लोगे। चार्ल्स किंग्सले महोदयने एक ही प्रेम-पात्रके द्वारा अखिल विश्वकी प्रेम-प्राप्ति इस प्रकार व्यक्त की है—

Be sure that to have found the key to one heart is to have the key to all; that truly to love is truly to know; and truly to love one is the first step towards truly loving all who bear the same flesh and blood with the beloved.

यह तो निश्चित बात है कि किसी एकके अन्तस्तलका मर्म समझ लेना चराचर जगत्का रहस्य जान लेना है। सच्चा प्रेम ही सच्चा ज्ञान है। किसी एकसे सच्चा प्रेम करना जीवमात्रके साथ प्रेम

करनेकी पहली सीढ़ी है; क्योंकि अखिल विश्वके प्राणियोंमें तुम्हारे उस प्राणप्यारेका ही तो रक्त प्रवाहित हो रहा है।

सबमें वही हक़ीक़त दिखलायी दे रही है।

—मीर

अपने प्रियतमको यदि तुम सरसे पैरतक, शिखसे नखतक, विश्व-व्याप्तिके भावसे एक बार भी देख लो, तो ज़र्रे-ज़र्रेमें, अणु-अणुमें तुम्हें अखिल ब्रह्माण्ड-नायक परब्रह्मका दर्शन हो जाय। मीरकी यह दृढ़ धारणा है—

सरा पा में उसके नज़र करके तुम,
जहाँ देखो अल्लाह अल्लाह है॥

नज़रमें वह प्यारा एक बार समा भर जाय, फिर तो वही-वही जहाँ-तहाँ दिखलायी देगा—

समाया है जबसे तू नज़रोंमें मेरी,
जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है।

जब चराचरमें, घट-घटमें, मेरा ही प्यारा राम रम रहा है, तब इस विश्व-ब्रह्माण्डकी प्रत्येक वस्तुसे मैं क्यों न प्रेम करूँ? अरे, जितने यहाँ रूप हैं, सब उसी हृदय-रमणके तो विविध रूप हैं, और जितने यहाँ रंग हैं, सब उसी प्यारे रँगीलेके जुदे-जुदे रंग हैं। उस प्यारेके प्यारसे ही यह विश्व इतना प्यारा लग रहा है—

पाई जाती जगत जितनी वस्तु हैं जो सबोंमें,
मैं प्यारेको विविध रँग औ रूपमें देखती हूँ।
तो मैं कैसे न उन सबको प्यार जीसे करूँगी?
यों है मेरे हृदयतलमें विश्वका प्रेम जागा॥

अपने प्रेम-पात्रमें ही मुझे जगत्पतिका दर्शन हो रहा है—

पाती हूँ विश्व प्रियतममें, विश्वमें प्राण-प्यारा,
ऐसे मैंने जगत-पतिको श्याममें है विलोका।

—हरिऔध

अगर तू सचमुच ही प्रेमी है तो अपने प्रियतमको इस रंग-बिरंगी दुनियाके हर रंगमें देखा कर, क्योंकि उस रँगीले रामके ही तो ये सारे रंग हैं—

हर आनमें, हर बानमें, हर ढंगमें पहचान;
आशिक है तो दिलबरको हर एक रंगमें पहचान।

—नज़ीर

अपने प्रिय प्रेमास्पदके सम्बन्धसे प्रत्येक वस्तु प्यारी देख पड़ती है। जहाँ-जहाँ उसके चरण पड़ते हैं, वहाँ-वहाँकी धूल भी तीर्थ-रेणु-सी प्रतीत होती है। अनुराग-मूर्ति भरतकी भव्य भावना तो देखिये। इसे कहते हैं अपने प्रियतमको चराचरमें रमा हुआ देखना—

कुस साथरी निहारि सुहाई। कीन्ह प्रनाम प्रदच्छिन जाई॥
चरन रेख रज आँखिन्ह लाई। बनइ न कहत प्रीति अधिकाई॥

—तुलसी

आप श्रीरामचन्द्रजीकी कुश-शय्या देखकर उसकी प्रदक्षिणा करते हैं। जहाँ-जहाँ उनके चरणोंके चिह्न मिलते हैं, तहाँ-तहाँकी पवित्र धूल आँखोंसे लगाते हैं। धन्य है प्रियके पदारविन्दोंकी वह धूल! उस धूलके लिये कितने पगले नहीं ललचाये रहते। एक कृष्णानुरागिनी गोपिका, पवनसे अपने प्रियतमके पैरोंकी धूल, देखिये, किस लालसाके साथ मँगा रही है—

बिरहबिथाकी मूरि आँखिनमें राखौं पूरि—
धूरि तिन पायनकी, हा हा, नैकु आनि दै।

—आनन्दघन

महाकवि ग़ालिबका भी एक ऐसा ही भाव है । कहते हैं—

जहाँ तेरा नक़्श क़दम देखते हैं,
ख़याबाँ-ख़याबाँ इरम देखते हैं ।

प्यारे, जहाँ तेरा चरण-चिह्न हम देखते हैं, उस स्थानको हम स्वर्गसे भी बढ़कर समझने लगते हैं । वह स्थान किस तीर्थ-स्थानसे कम पुण्य-क्षेत्र है ? मीरने खूब कहा है——

आँखें लगी रहेंगी बरसों वहीं सभोंकी,
होगा क़दमका तेरे जिस जा निशाँ ज़मींपर ।

अस्तु, अब महात्मा भरत उस भाग्यवती कुश-शय्याके समीप आभूषणोंसे गिरे हुए दो-चार सोनेके सितारे देखते हैं, और उन्हें जनक-तनया सीताके ही तुल्य पूज्य समझकर अपने माथेपर भक्ति-पूर्वक रख लेते हैं । बलिहारी !

कनक बिंदु दुइ चारिक देखे । राखे सीस सीय सम लेखे ॥

—तुलसी

वाह री, प्रेमकी विस्तीर्णता ! कनक-बिन्दुओंतकमें आपको श्रीसीताजीकी समानता दिखायी देती है । इसी तरह श्रृङ्गवेरपुरके राम-घाटपर आप श्रीरामका ही मानो प्रत्यक्ष दर्शन कर रहे हैं——

राम घाट कहँ कीन प्रनामू । भा मन मगन मिले जनु रामू ॥

—तुलसी

कुशल-समाचार पूछनेपर जो पथिक भरतसे यह कहते हैं कि हाँ, हमलोगोंने चित्रकूटमें उन विश्व-विमोहन वनवासियोंको देखा है, उन्हें आप राम और लक्ष्मणके ही समान प्रिय समझते हैं——

जे जन कहहिं कुसल हम देखे । ते प्रिय राम लखन सम लेखे ॥

—तुलसी

और, चरण-चिह्नोंकी उस प्यारी धूलको तो आप माथेपर चढ़ा-चढ़ा और हृदय और नेत्रोंसे लगा-लगाकर अघाते ही नहीं। धन्य !

हरषहिं निरखि राम-पद-अंका। मानहुँ पारसु पायेउ रंका ॥
रज सिर धरि हिय नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं ॥

—तुलसी

भरतका कैसा पवित्र, उच्च और विस्तृत प्रेम है ! प्रत्येक वस्तुमें वे अपने हृदयाधार रामकी ही प्रतिमूर्ति देखते हैं। अणु-अणुमें उन्हें अपने प्यारेकी ही झलक दिखायी देती है। कैसा दिव्य तादात्म्य है। निश्चयतः भरत साकार प्रेम थे। उनमें चराचर जगत्‌को प्रेममय कर देनेकी विलक्षण शक्ति थी—

देखि भरत-गति अकथ अतीवा। प्रेम-मगन मृग खग जड़ जीवा ॥

—तुलसी

महात्मा भरतके अन्तस्तलमें इतना विशद विश्व-प्रेम यदि केन्द्रीभूत न हुआ होता, तो गोसाईंजीका यह दिव्य भक्ति-उद्गार हमें आज सुननेको कहाँ मिलता—

होत न भूतल भाव भरतको। अचर सचर; चर अचर करत को ?॥

× × × ×

विरहिणी व्रजाङ्गनाएँ भी अन्तमें विश्व-प्रेमकी पराकाष्ठाको पहुँच गयी थीं, उनकी दृष्टिमें समस्त सृष्टि श्याममयी हो गयी थी। और इसी प्रिय-भावनाकी व्यापकतासे वे समस्त संसारको प्यार करने लगी थीं। जो मेघ एक दिन उन्हें मत्त-मतंगोंकी भाँति भीषण देख पड़ते थे, जो वारिद—

कारे तन अति चुवत गंड मद, बरसत थोरे थोरे।
रुकत न पवन-महावत हू पै, मुरत न अंकुस मोरे ॥

—सूर

वे ही नीरद आज सुन्दर श्यामके रूप-साम्यके कारण कितने प्यारे लग रहे हैं कि कुछ कहते नहीं बनता—

आजु घन स्यामकी अनुहारि।
उनै आये साँवरे, सखि! लेहि रूप निहारि॥
इन्द्र धनुष मनु पीत बसन छबि, दामिनि दसन बिचारि।
जनु बग-पाँति माल मोतिनकी, चितै लेति चित हारि॥

—सूर

जिस पपीहेके नामके साथ कभी 'पापी' का विशेषण लगाया जाता और जिसका इन शब्दोंसे स्वागत-सत्कार किया जाता था कि—

रे पापी, तू पंखि पपीहा, क्यों 'पिउ-पिउ अधिरात पुकारत?

उसीको आज व्रज-बालाओंके मुखसे यह शुभाशीर्वाद मिल रहा है—

बहुत दिन जीवौ पपिहा प्यारो।
बासरि रैनि नाम लै बोलत, भयौ बिरह-जुर कारो॥

—सूर

प्रेमकी इस विश्व-विहारिणी भावनामें चर और अचर सभी अपने आत्मीय और प्राण-प्रिय लगने लगते हैं। उद्धवके प्रेमाश्रुपूर्ण नेत्रोंको देखकर प्रिय-विरहाकुल व्रज-वासियोंने कहा था कि आज हमारी प्यासी आँखोंका अहोभाग्य, जो उन आँखोंकी प्रेम-सुधा पी रही हैं, जिन्होंने प्यारे कृष्णके रूप-रसका दिनरात अतृप्त पान किया है। कृष्ण-सखाको देखकर वे कहते हैं—

तुम्हरो दरसन पाय आपनो जनम सफल करि जान्यौ।
'सूर' ऊधो सों मिलत भयौ सुख, ज्यों चख पायो पान्यौ॥

वास्तवमें व्रजाङ्गनाएँ प्रेम-रसकी अद्वितीय अधिकारिणी थीं। 'गोपी-प्रेमकी धुजा' —इस उक्तिमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं है।

त्रिलोक-वन्दनीया गोपिकाओंने ही व्रज-धामको विश्व-प्रेमका एक सुरम्य स्थल बनाया है ।

× × × ×

तुम्हारी अन्तरात्मामें भाई ! अगणित झरोखे होने चाहिये । इसलिये कि लीलामयी प्रकृति अपनी प्रेम-किरणोंका सौन्दर्य-प्रकाश उन अनन्त झरोखोंमें होकर तुम्हारे अन्तस्तलपर बिखेरती रहे । पर, ऐसा तुम एकबारगी न कर सकोगे । विश्व-प्रेम तो प्रेमकी अति सीमा है । पहले तो किसी एक ही झरोखेसे प्रेम-किरणोंका प्रवेश कराना होगा, किसी एकहीके साथ अनन्य भावसे लौ लगानी होगी । फिर उस प्रेमपात्रकी प्रीतिका क्रम-क्रमसे प्रसार और प्रस्तार करना होगा । उसकी प्रेम-वृद्धिके लिये ही तुम्हें अपने भाव विश्वव्यापी बनाने होंगे, या उस प्यारेकी ही खातिर तुम्हें प्राणिमात्रको प्यार करना होगा । शाक्य-कुमार सिद्धार्थ विश्व-प्रेम सिद्ध करनेके लिये केवल इसी कारणसे अधीर हो रहे थे कि उनका अपनी प्राणप्रिया यशोधरापर अत्यन्त प्रगाढ़ प्रेम था । उस प्रेमको और भी अनन्त और असीम बनानेके लिये ही उन्हें 'प्रव्रज्या' की शरण लेनी पड़ी, पूर्ण यौवनावस्थामें संन्यासी होना पड़ा । यदि वे अपनी अन्तरात्मामें प्रेम-प्रवेशके अर्थ अगणित झरोखे न बना लेते, तो कदाचित् कुछ दिनोंमें उनके अन्तरालयका प्रथम प्रणय-द्वार भी बंद हो जाता । कुमार सिद्धार्थ अपनी हृदय-वल्लभा यशोधरासे कहते हैं—

सबसों बढ़िकैं सदा तुम्हें चाह्यों औ चहिहौं,
सबके हित जो बस्तु रह्यौं खोजत औ रहिहौं ।
ताहि तिहारे हेतु खोजिहौं अधिक सबन सों ,

धीरज यातें धरौ छाँड़ि चिन्ता सब मन सों।
सबसों बढ़िकैं प्रीति करी, तुमसों मैं प्यारी !
कारण, मेरी प्रीति सकल प्राणिन पै भारी।

—रामचन्द्र शुक्ल

समस्त प्राणियोंपर भगवान् बुद्धका यदि प्रेम-भाव न होता, तो बोधिद्रुमके समीपका वह अलौकिक दिव्य दृश्य हमारे हृदय-पटलपर आज काहेको अङ्कित होता। अहा !

मृग बराह औ बाघ आदि सब बन-पशु बैर बिसारि,
ठाढ़े जहँ-तहँ चकित चाह भरि, प्रभुमुख रहे निहारि।
फन उठाय नाचत उमंग भरि, निकसि बिलन सों ब्याल,
जात पंख फरकाय संग, बहुरंग बिहंग निहाल।
सावज डारि दियो निज मुखतें, चील मारि किलकार,
प्रभु-दर्शनके हेतु गिलाई, कूदति डारनि डार।
देखि गगन-घनघटा मुदित ज्यों, नाचत इत-उत मोर,
कोकिल कूजत, फिरत परेवा, प्रभुके चारों ओर।
कीट पतंगहु परत मुदित लखि, नभ थल एक समान,
जिनके कान सुनत ते सिगरे, यह मृदु मंगल गान।
'हे भगवन् ! तुम जगके साँचे मीत उबारनहारे,
काम, क्रोध, मद, संशय, भ्रम, भय, सकल दमन करि डारे।

—रामचन्द्र शुक्ल

संसीमसे असीमकी ओर, सान्तसे अनन्तकी ओर यदि कोई प्रेमके कठिन पन्थसे गया, तो भगवान् बुद्धदेव ही गये। विश्व-प्रेमके अलौकिक आलोकमें हमें तो एक बुद्धकी ही प्रतिमूर्ति स्पष्टतया देख पड़ी है।

× × × ×

सबसे ऊँचे दरजेका प्रेमी अपने प्रेम-पात्रको विश्व-व्याप्त प्रेमके द्वारा केवल अपनी ही दृष्टिमें नहीं, बल्कि सारी दुनियाकी नज़रमें परमात्मा बना जाता है। यह लोकोत्तर चमत्कार उपास्यमें उपासककी परम तल्लीनताका ही अन्यतम फल है। उपासक अपने उपास्यको ईश्वरके रूपमें देखता है और देखता है उसे चराचर जगत्‌में रमा हुआ। यही कारण है कि उसका प्यारा प्रेमपात्र अखिल विश्वके सामने परमात्माके रूपमें दिखायी देता है। एक ऊँचा प्रेमी अपने प्रियतमसे कह गया है—

परस्तिश की याँ तक कि, ऐ बुत, तुझे,
नज़रमें सबोंकी ख़ुदा कर चले।

—मीर

ज़रूर इस बुतपरस्तीपर, ऐ ज़ाहिद तेरी सारी हक़परस्ती निसार होनेको छटपटा रही होगी।

जिस प्रेमको हमने विश्व-व्यापी नहीं बना लिया, वह, निस्सन्देह एक दिन नष्ट होनेको है। वह बूँद, जो समुद्र नहीं बन गयी, ज़रूर एक दिन ख़ाकमें मिल जायगी। ग़ालिबने कहा है—

ख़ाकका रिज़्क है वह क़तरा की दरिया न हुआ।

अब ज़रा, विश्व-प्रेमी स्वामी रामतीर्थकी मस्तीभरी अकबरदिलीको देखिये। राम बादशाह गा रहा है—

हर जान मेरी जान है, हर एक दिल है दिल मेरा,
हाँ, बुलबुलो गुल, महरो महकी आँखमें है तिल मेरा।
हिंदू, मुसल्माँ, पारसी, सिख, जैन, ईसाई, यहूद,
उन सबके सीनोंमें धड़कता एक-सा है दिल मेरा।



दास्य

दास्य-रतिमें प्रेमीके मनमें ममताका सञ्चार होता है। 'प्रभु मेरे हैं, और मैं प्रभुका हूँ' यह आनन्दमयी ममता प्रेमीके हृदय-सागरको सदैव विलोडित करती रहती है। सेवकमें ही नहीं, यह ममत्व सेव्यमें भी होता है। जैसे भक्त भगवान्‌की सेवा करता है, वैसे भगवान् भी अपने हृदयदुलारे प्रिय भक्तकी सेवा करनेमें आनन्दानुभव करते हैं। अर्जुनसे भगवान् कृष्णने कहा है—

हम भक्तनके, भक्त हमारे।
सुन अर्जुन, परतिज्ञा मेरी, यह व्रत टरत न टारे॥

तथैव—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

महान् गहन है सेवकका धर्म। योगियोंको भी अगम्य है यह सेवा-धर्म। सेवा और स्वार्थमें स्वभाव-सिद्ध वैर है। स्वामीका स्वार्थ ही सेवकका स्वार्थ है। स्वामीके प्रति निःस्वार्थ भक्ति-भावना ही सच्ची सेवा है। 'प्रभु सदा मुझे अपनाये रहें'—यही सेवकका एकमात्र स्वार्थ है। स्वामीकी सेवा ही उसका सबसे बड़ा हित है। कितना ऊँचा आत्मनिवेदन है इस सेवा-भावनामें!

सेवक-हित साहिब-सेवकाई। करइ सकल सुख-लोभ बिहाई॥

—तुलसी

इसके विरुद्ध—

जो सेवक साहिबहिं सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥

—तुलसी

स्वामीके स्वार्थसे भिन्न उसका अपना कोई स्वार्थ है ही क्या ! जब नृसिंह भगवान्‌ने भक्तवर प्रह्लादसे वर माँगनेको कहा, तब आप बोले—

नान्यथा तेऽखिलगुरो घटेत करुणात्मनः ।
यस्तु आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् ॥
अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः ।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव ॥
यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ ।
कामानां यदसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम् ॥

हे जगद्गुरो ! तुम करुणारूप हो, तुम्हारा इस प्रकार अपने दासोंको विषयोंकी ओर प्रवृत्त करना असम्भव है । जो तुम्हारा दुर्लभ दर्शन पाकर तुमसे विषय-जन्य सुख माँगता है, वह सेवक नहीं, बनिया है । मैं जैसे तुम्हारा निष्काम सेवक हूँ, वैसे तुम भी मेरे अभिसन्धि-शून्य स्वामी हो । अतः राजा और उसके सेवककी भाँति हमलोगोंमें अभिसन्धिकी कोई आवश्यकता नहीं है । हे वरदानियोंमें श्रेष्ठ ! यदि मुझे तुम मनोवाञ्छित वर देना ही चाहते हो, तो यही एक वर दो कि मेरे हृदयमें कभी विषय-वासनाओंका अङ्कुर न उगे ।

सांसारिक अभिलाषाओंका अङ्कुर सच्चे भक्तके हृदय-स्थलमें जम ही नहीं सकता, क्योंकि राग-द्वेषादि तभीतक जीवकी सद्वृत्तियोंको लूटते रहते हैं, घर तभीतक उसे जेलखाना है और मोह तभीतक उसके पैरकी बेड़ी है, जबतक नाथ ! वह तुम्हारा दास नहीं हो गया—

तावद्रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम् ।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जनाः ॥

जिसका तुमसे स्वाभाविक प्रेम हो गया, जो तुमसे सिवा तुम्हारी कृपाके और कुछ नहीं चाहता, उसके हृदयमें भला रागादि लुटेरे अपना अड्डा जमायँगे ! उसका मनोमन्दिर तो प्रभो ! तुम्हारा खास निवास-स्थान है—

जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम्हसन सहज सनेहु ।
बसहु निरन्तर तासु मन, सो रावर निज गेहु ॥

—तुलसी

जहाँ राम हैं, वहाँ कामका क्या काम ? काम वहीं रहेगा, जहाँ राम न होंगे—

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम ।
एक संग नहिं रहि सकैं, 'तुलसी' छाया-घाम ॥

नाथ ! मैं-मैं और अनन्य दास ! असम्भव है, मेरे लिये असम्भव है अनन्य दासत्वकी प्राप्ति । अनन्य दासका लक्षण तो तुमने भक्ताग्रगण्य मारुतिसे कुछ ऐसा कहा था—

सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमन्त ।
मैं सेवक सचराचर-रूप स्वामि भगवन्त ॥

—तुलसी

मैं तो जन्म-जन्मका अपराधी हूँ, कृतघ्न हूँ, नखसे शिखतक विकारोंसे भरा हुआ हूँ । सच पूछो तो विनती करना तो दूर है, मैं तुम्हें अपना मुँह दिखाने लायक भी नहीं हूँ । कबीरने बिल्कुल सच कहा है—

क्या मुख लै बिनती करौं, लाज लगत है मोहि ।
तुम देखत औगुन करौं, कैसे भावौं तोहि ॥

पर सुना है कि तुम्हारी कृपा अनन्त है । केवल उसीका मुझे

बल-भरोस है। अब मेरे अपराधों और अपनी कृपाकी ओर देखकर जो तुम्हें अच्छा लगे सो करो—

औगुन किये तो बहु किये, करत न मानी हार ।
भावै बन्दा बकसिये, भावै गरदन मार ॥

—कबीर

विश्वास तो यही है कि तुम अपने सेवकको दण्डित न करोगे, उसके अगणित अपराधोंको क्षमा ही कर दोगे, क्योंकि तुम मेरे ग़रीब-निवाज मालिक ही नहीं हो, मेरे पिता भी हो। मेरी लाज तुम्हारे ही हाथमें है—

औगुन मेरे बापजी, बकस गरीबनिवाज ।
जो मैं पूत कपूत हौं, तऊ पिताको लाज ॥

—कबीर

कुछ भी हो, मेरे मालिक, अब मैं तुम्हारी नौकरी छोड़नेवाला नहीं। हाथमें आया यह दाव कैसे छोड़ दूँ, स्वामी !

तुम्हरी भक्ति न छोड़हूँ, तन मन सिर किन जाव ।
तुम साहिब मैं दास हूँ, भलो बनो है दाव ॥

—चरणदास

सीस झुकाऊँगा तो तुम्हारे ही आगे, दीन वचन कहूँगा तो तुम्हींसे और लड़ूँ-झगड़ूँगा तो तुम्हारे ही साथ। अब तो मैं तुम्हारे ही चरणोंके अधीन हूँ—

सीस नवै तो तुमहिंकों, तुमहि सूँ भाखूँ दीन ।
जो झगरूँ तो तुमहि सूँ, तुव चरनन-आधीन ॥

—दयाबाई

अब तो तुम्हारे दरपर अड़कर बैठ गया हूँ, मेरे स्वामी ! मनमें यह धारणा दृढ़ हो गयी है कि—

द्वार धनीके पड़ि रहै, धका धनीका खाय ।
कबहुँक धनी निवाजई, जो दर छाँड़ि न जाय ॥
—कबीर

सो, अब—

हरि, कीजत विनती यहै, तुमसौं बार हजार ।
जिहिं तिहिं भाँति डर्‌यौ रहौं, पर्‌यौ रहौं दरबार ॥
—बिहारी

मैं यह भी नहीं जानता कि तुम्हें कैसे पुकारा जाता है । क्या कहकर तुम्हें पुकारूँ ! कभी-न-कभी तो कृपा करोगे ही । द्वारपर धरना दिये बैठा हूँ । देखूँ, कब निहाल करते हो—

केहि बिधि रीझत हौ प्रभू, का कहि टेरूँ नाथ !
लहर-मिहर जबहीं करौ, तबहीं होउँ सनाथ ॥
—दयाबाई

तुम्हारी निराली रीझका ही एकमात्र भरोसा है । यह तो मानी हुई बात है कि पतितोंपर ही तुम रीझते हो । धन्य है तुम्हें और तुम्हारी अनोखी रीझको ! हरिश्चन्द्रने क्या अच्छा कहा है—

भरोसो रीझन ही लखि भारी ।
हमहूँकों विश्वास होत है मोहन पतित-उधारी ॥
जो ऐसो स्वभाव नहिं होतो, क्यों अहीर-कुल भायो !
तजिकैं कौस्तुभ-सो मनि गर क्यों गुंजा-हार धरायो !
क्रीट मुकुट सिर छाँड़ि पखौआ मोरन कौ क्यों धार्‌यो !
फेंट कसी टेंटिनपै, मेवन कौ क्यों स्वाद बिसार्‌यो !
ऐसी उलटी रीझ देखिकैं उपजति है जिय आस ।
जग-निन्दित हरिचन्दहुकों अपनावहिंगे करि दास ॥

बलिहारी ! कैसी उलटी रीझ है तुम्हारी ! कैसी ही हो, हम-जैसे पापियोंके तो बड़े कामकी है । इतना तो मुझे विश्वास है कि

मैं तुम्हें एक-न-एक दिन रिझाकर ही रहूँगा । मैं पापियोंकी दौड़में किसीसे पीछे रहनेवाला नहीं । सबसे दो क़दम आगे ही देखोगे । पतित मैं, कलंकी मैं, अपराधी मैं, हीन मैं, दीन मैं, बताओ, मैं क्या नहीं हूँ ! किस रिझवार पापीसे कम हूँ ! आश्चर्य यही है कि तुम अबतक मुझपर रीझे नहीं ! इससे या तो मैं पतित नहीं, या तुम पतितपावन नहीं । या तो मैं ग़रीब नहीं, या तुम ग़रीब-निवाज नहीं । हो सकता है कि तुम पतित-पावन और ग़रीब-निवाज न हो, पर यह कभी सम्भव नहीं कि मैं पतित और ग़रीब न होऊँ । मुझे अपने ऊपर अविश्वास या सन्देह हो ही नहीं सकता । तब तो नाथ ! यही प्रतीत होता है कि तुम्हारा विरद ही झूठा है । न तुम अब वैसे पतित-पावन ही रहे और न वह ग़रीब-निवाज ही । तो फिर क्यों ऐसे झूठे और निस्सार नाम रखा लिये हैं ! क्या कहें, क्या न कहें !

दीन-दयालु कहाइकैं धाइकैं, दीनन सों क्यों सनेह बढ़ायो ?
त्यों 'हरिचन्दजू' बेदनमें करुनानिधि नाम कहौ क्यों गनायो ?
ऐसी रुखाई न चाहिए तापै कृपा करिकैं जेहिकों अपनायो ?
ऐसो ही जोपै स्वभाव रह्यो तौ 'ग़रीब-निवाज' क्यों नाम धरायो ?

हे प्रभो ! मेरी नीचता देखकर संकोच न करो । इस अपार भव-सरितसे पार कर दो—

तारे तुम बहु पथिनकों, यह नद-धार अपार ।
पार करौ इहि दीनकों, पावन खेवनहार ॥
पावन खेवनहार तजौ जनि क्रूर कुबरनैं ।
बरनैं नहीं सुजान, प्रेम लखि लेहिं सुबरनैं ॥
बरनैं दीनदयाल, नाव गुन हाथ तिहारे ।
हारेको सब भाँति सु बनिहैं पार उतारे ॥

मैं तुम्हारी सेवा-पूजा करना क्या जानूँ, भगवन् ! मैं एक दरजेका कामचोर तुम्हारी नौकरी कैसे बजा सकता हूँ । यदि पूछो, तो फिर तू जानता क्या है, तो जानता सिर्फ़ इतना हूँ कि मैं तुम्हारा एक नमकहराम नौकर हूँ । सुना है कि तुम मुझे बरख़ास्त कर रहे हो । ग़रीबपरवर, क्या यह सच है ! कहीं ऐसा काम सचमुच कर न बैठना, मेरे मालिक ! और चाहे जो सज़ा दे दो, पर अपने चरण न छुड़ाओ, मेरे स्वामी ! तुम्हें छोड़ यहाँ मेरा और कौन है ! मेरे-जैसे तो तुम्हें सैकड़ों मिल जायँगे——

तुमकूँ हम-से बहुत हैं, हमकूँ तुम-से नाहिं ।
'दादू' कूँ जनि परिहरौ, रहु नित नैनन माहिं ॥

जो कहीं मुझे अपनी नौकरीसे अलग कर दिया, तो फिर मैं कहाँ मारा-मारा फिरूँगा ? लोग क्या कहेंगे, जरा ख़याल तो करो । मेरी नहीं, इससे तुम्हारी ही हँसी होगी, स्वामी !

दीन-दयालु सुनें जबतें, तबतें मनमें कछु ऐसी बसी है ।
तेरो कहायकैं जाउँ कहाँ, तुम्हरे हितकी पट खैंचि कसी है ॥
तेरो ही आसरो एक 'मलूक' नहीं प्रभु सो कोउ दूजो जसी है ।
एहो मुरारि, पुकारि कहौं अब, मेरी हँसी नहिं तेरी हँसी है ॥

और तो नहीं, पर मेरे एक इस विषयकी तुम भलीभाँति परीक्षा ले सकते हो कि धक्के-मुक्के खानेपर भी मैं तुम्हारे द्वारसे हटता हूँ या नहीं । चाहो तो मेरे इस गुणको अपनी कसौटीपर अभी कस लो——

तू साहिब, मैं सेवक तेरा । भावै सिर दै सूली मेरा ।
भावै करवत सिरपर सारि । भावै लेकरि गरदन मारि ॥
भावै चहुँदिसि आगि लगाइ । भावै काल दसौ दिसि खाइ ॥
भावै गिरिवर गगन गिराइ । भावै दरिया माहिं बहाइ ॥
भावै कनक-कसौटी देहु । 'दादू' सेवक कसि कसि लेहु ॥

अब तो तुम भलीभाँति समझ गये होगे कि मैं तुम्हारा सेवक तो निस्सन्देह हूँ, पर सेवा करना नहीं जानता, या जानकर करना नहीं चाहता। है भी यही बात। माफ़ करना, मुझे नमकहरामीमें ही मज़ा आता है। मुझे विश्वास नहीं होता कि तुम मुझे नौकरीसे पृथक् कर दोगे। क्या सचमुच ही अपने चरणोंसे मुझे अलग कर दोगे? हाहा! नाथ, ऐसा न करना। तुम्हारे क़दमोंकी गुलामी बड़े भाग्यसे मिली है। इस गुलामीको ही मैं आज़ादी समझता हूँ, और ऐसा समझना ही आज मेरे जीवनका सबसे बड़ा सत्य है। एक तो तुम मुझे निकालोगे नहीं, दूसरे, मान लो, निकाल भी दिया तो मैं यह द्वार छोड़कर कहीं जाऊँगा नहीं। जानेको कहीं कोई ठौर-ठिकाना भी तो हो, प्रभो!

तुम जहाज, मैं काग तिहारो, तुम तजि अनत न जाउँ।
जो तुम प्रभु जू! मारि निकासो, और ठौर नहिं पाउँ॥

इससे, सरकार, मुझे बरख़ास्त कर देनेका विचार तो अब छोड़ ही दो।

नाथ! मुझे तो इसीका आज बड़ा अभिमान है कि तुम मेरे स्वामी हो और मैं तुम्हारा सेवक हूँ। तुम चन्दन हो और मैं पानी हूँ। तुम श्यामघन हो और मैं तुम्हें देख-देखकर थिरकनेवाला मोर हूँ। प्यारे! तुम पूर्ण चन्द्र हो और मैं तुम्हारा चाह-भरा चकोर हूँ। तुम दीपक हो और मैं तुम्हारे प्रेममें बलनेवाली बाती हूँ। तुम मोती हो और मैं धागा हूँ। और प्रभो! तुम सुवर्ण हो और मैं तुमसे मिलनेवाला सुहागा हूँ। अपने इस अभिमानको, नाथ, मै स्वप्नमें भी न छोड़ूँगा। अब संत रैदासजीकी विमल वाणीमें इस भक्ति-भावनाको सुनें—

अब कैसे छुटै नामरट लागी ।
प्रभुजी, तुम चन्दन हम पानी । जाकी अँग-अँग बास समानी ॥
प्रभुजी, तुम घन हम वनमोरा । जैसे चितवत चंद चकोरा ॥
प्रभुजी, तुम दीपक हम बाती । जाकी ज्योति बरै दिन राती ॥
प्रभुजी, तुम मोती हम धागा । जैसे सोनहिं मिलत सोहागा ॥
प्रभुजी, तुम स्वामी हम दासा । ऐसी भक्ति करै रैदासा ॥

तुम मेरे सेव्य हो और मैं तुम्हारा सेवक हूँ—बस, हम दोनोंमें यही एक सम्बन्ध अनन्तकाल-पर्यन्त अक्षुण्ण बना रहे । पूरी कर देनेको कहो तो दासकी एक अभिलाषा और है । वह यह है—

अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूयः ।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणानां गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः ॥

अर्थात्, हे भगवन् ! मैं बार-बार तुम्हारे चरणारविन्दोंके सेवकोंका ही दास होऊँ । हे प्राणेश्वर ! मेरा मन तुम्हारे गुणोंका स्मरण करता रहे । मेरी वाणी तुम्हारा कीर्तन किया करे और मेरा शरीर सदा तुम्हारी सेवामें लगा रहे ।

किसी भी योनिमें जन्म लूँ, 'त्वदीय' ही कहा जाऊँ; मुझे अपना कहीं और परिचय न देना पड़े । सेवकको इससे अधिक और क्या चाहिये । अन्तमें यही विनय है, नाथ !

अर्थ न धर्म न काम-रुचि, गति न चहौं निर्बान ।
जन्म जन्म रति राम-पद , यह बरदान न आन ॥
परमानंद कृपायतन, मन परिपूरन काम ।
प्रेम-भगति अनपायिनी, देहु हमहिं श्रीराम ॥

—तुलसी

क्यों नहीं कह देते कि 'एवमस्तु !'

दास्य और सूरदास

दास्य-प्रेमके कुशल कलाकारोंमें तुलसीके बाद सूरका ही स्थान है। जैसे वात्सल्यप्रेममें सूरके बाद तुलसीका नाम लिया जाता है, वैसे ही दास्य-प्रेममें तुलसीके बाद सूरका नम्बर आता है। कहीं-कहीं तो वात्सल्यकी भाँति दास्यमें भी इन युगल महात्माओंका भावसाम्य देखते ही बनता है। अन्तर केवल इतना ही है कि तुलसीकी दास्य-रति विशुद्ध दास्य-रति है और सूरकी कुछ सख्य-रति-मिश्रित। अस्तु, विनयकी दीनता, मानमर्षता आदि सप्त भूमिकाओंका भक्तवर सूरदासने भी सुचारु चित्रण किया है। दैन्य तो बड़ा ही भावमय है। सूरका यह दैन्य, देखिये कैसा हृदयस्पर्शी है! कहते हैं—

नाथ जू, अबकै मोहिं उबारो।
पतितनमें विख्यात पतित हौं, पावन नाम तुम्हारो॥
बड़े पतित नाहिन पासंगहुँ, अजामेल को बिचारो।
भाजै नरक नाम सुनि मेरो, जमहु देय हठि तारो॥

नाथ! आज है तुम्हारी उद्धारिणी शक्तिकी कठिन परीक्षा! देखना है, आज मेरा तुम कैसे उद्धार करते हो। मैं कोई ऐसा-वैसा पापी तो हूँ नहीं। मैं एक प्रसिद्ध पातकी हूँ, प्रसिद्ध। असाधारण पापी हूँ। सचमुच, महाराज! मैं एक अनुपम अद्वितीय पतित हूँ। बड़े-से-बड़े पापी भी मेरे पापोंकी तोलमें पसंगा ठहरेंगे। वह बेचारा अजामेल, अरे, वह है ही क्या। मेरा ब्रह्माण्ड-विख्यात नाम सुनकर बड़ेसे भी बड़े नारकीय भयभीत हो भाग जाते हैं। और, यमराज अपने नरक-नगरके फाटकपर ताला लगा देता है। प्रभो! मैं ऐसा महान् पातकी हूँ। आजतक जितने कुछ पापियोंका तुमने उद्धार किया है, उन सबका मैं सम्राट् हूँ। ऐसा कौन प्रतापी पातकी है, जो मेरी बराबरी

कर सके। मैं समस्त पापियोंपर विजय प्राप्त कर चुका हूँ। अब भी नित्य नये-नये पाप करता हूँ। मेरी सवारीके साथ-साथ सहज भावसे ही पातकोंकी चतुरङ्गिणी सेना आगे-आगे चलती है। और काम, क्रोधके रणवाद्य बजते जाते हैं। निन्दाका राजछत्र मेरे मस्तकपर लगा रहता है। मेरा दम्भ-दुर्ग बड़ा दृढ़ है। उसके चारों ओर कपटका कोट बना हुआ है। मेरे उन दुर्जय-दुर्गद्वारोंका किसे पता है? मेरा विश्वविजयी नाम सुनकर नरक भी थरथर काँपने लगता है। यमपुरमें तहलका मच जाता है। ऐसा हूँ मैं पापाधिराज!

प्रभु! मैं सब पतितन कौ राजा।
को कर सकत बराबरि मेरी, पाप किये तरताजा॥
सहज सुभाव चलै दल आगे, काम क्रोधको बाजा॥
निन्दा छत्र ढुरै सिर ऊपर, कपट कोट दरवाजा।
नाम मोर सुनि नरकहु काँपै, यमपुर होत अवाजा॥

मेरा अटल अचल साम्राज्य तृष्णाके देशमें अवस्थित है। अनेक मनोरथ ही मेरे महारथी योद्धा हैं, जो इन्द्रियरूपी खड्गोंको लिये रहते हैं। काम मेरा महामन्त्री है और क्रोध है मेरा प्रतीहार। आज मैं अहङ्काररूपी मत्त मातङ्गपर आरूढ होकर दिग्विजय करने निकला हूँ। देखो, मेरे गर्वोन्नत मस्तकपर लोभका विशाल क्षत्र तना हुआ है। असत्सङ्गतिकी मेरी कैसी अपार सेना है! मद, मोह और दोष ही मागध और वन्दीजन हैं, जो सदा मेरा गुण-गान करते रहते हैं। मेरा अजेय पाप-गढ़ बड़ा ही सुदृढ़ है। किस योद्धामें ऐसी शक्ति है, जो उससे मेरे पाप-गढ़का फाटक तोड़ सके?

पतितोद्धारक! तुम आज मेरी उपेक्षा करते हो! मुझे तारनेमें लापरवाही दिखाते हो! अच्छी बात है, किये जाओ उपेक्षा। देखता हूँ मैं आज तुम्हारी पतितपावनता। लो, होशयार हो जाओ—

आजु हौं एक एक करि टरिहौं।
कै हमहीं कै तुमहीं माधव! अपुन भरोसे लरिहौं॥

यह मानी हुई बात है कि अन्तमें पराजय तुम्हारी ही होगी। इससे अपने विरदकी लाज रखना चाहो तो अब भी कुछ बिगड़ा नहीं, अजामिल-जैसे क्षुद्र पापियोंसे मुझे ऊँचा पातकी मानकर फौरन ही तारनेका फ़र्मान जारी कर दो। क्या कहा कि कुछ सोच-विचारकर हुक्म देंगे? यह खूब रही! क्या आप अपनी क़ानूनकी किताब देखकर फैसला सुनाना चाहते हैं? शायद आप यह बार-बार सोचते होंगे कि मैं कैसा पापी हूँ। अजी, कोई मामूली पापी नहीं हूँ। पापियोंका एक शाहंशाह हूँ। छोड़ दो अपनी यह इंसाफ़की जिद, फेंक दो यह पुरानी सड़ी-गली क़ानूनकी किताब। अब विचार क्या करते हो? मेरे बारेमें सोचते-सोचते थक जाओगे। माथेपर पसीना आ जायगा। यह क्या हठ करते हो, साहब! सीधी तो बात है। अपने विरदकी ओर देखो। मुझे तुमने जो न तारा तो, हजरत! तुम्हारा यह 'पतितपावनता' का विरद, लो, आज तुम्हारे हाथसे गया—

मेरी मुकुति बिचारत हौ, प्रभु, पूछत पहर घरी।
स्रमतें तुम्हैं पसीना ऐहै, कत यह जकनि करी॥
'सूरदास' विनती कहा बिनवै, दोषहिं देह भरी।
अपनो बिरद सँभारहुगे तब यामें सब निनुरी॥

बस, इसीमें मेरी-तुम्हारी सदा निभ सकेगी। करना चाहो तो अब भी फैसला कर सकते हो; मौक़ा अभी हाथसे निकला नहीं। बोलो, तारते हो या नहीं?

× × × ×

नाथ! तुम मुझे अपना मानो या न मानो, पर हूँ मैं तुम्हारा ही। भला हूँ तो तुम्हारा और बुरा हूँ तो तुम्हारा। मेरी लाज तुम्हारे ही हाथ है। यह हो नहीं सकता कि मैं तो कहा जाऊँ बुरा और

तुम बने रहो भले। मैं तो अब सब छोड़-छाड़कर तुम्हारी शरणमें आ गया हूँ, तुम्हारे चरणोंको आज पकड़ लिया है। सो, अब इस दासको अंगीकृत करो, इसपर अपनी छाप लगा दो। जैसे तुम रखोगे, वैसे रहूँगा। मैं तुम्हारी कोई ख़ास कृपा नहीं चाहता। तुमसे क्या छिपा है। घट-घटकी जानते हो। अपना सुख-दुःख इस मुँहसे क्या कहूँ। बस; यही विनय है—

> कमलनयन, घनस्याम, मनोहर, अनुचर भयो रहौं।
> 'सूरदास' प्रभु भक्त-कृपानिधि ! तुम्हरे चरन गहौं॥

अङ्गीकारभर कर लो, नाथ ! मैं तुम्हारी हर तरहकी रज़ामें राज़ी रहूँगा—

> जैसहि राखौ तैसहि रहौं।
> जानत हौ सुख-दुख सब जनके, मुख करि कहा कहौं॥

क्या इसलिये नहीं अपना रहे हो कि मैं अवगुणोंका आगार हूँ ? सो तो निस्सन्देह हूँ, नाथ ! मेरे दोषोंका कुछ पार ! पर तुम्हें इस सबसे क्या ?

> प्रभु, मेरे अवगुन न विचारो।
> धरि जिय लाज सरन आयेकी रवि-सुत-त्रास निवारो॥
> जो गिरि-पति मसि घोरि उदधिमें, लै सुरतरु निज हाथ।
> ममकृत दोष लिखौ बसुधा भरि, तऊ नहीं मिति नाथ॥

समुद्ररूपी दावातमें गिरि-राजकी स्याही घोलकर यदि पृथिवीरूपी पत्रपर मेरे किये हुए पापोंको लिखने बैठ जाओ, तो भी, प्रभो, तुम्हें उनकी मिति न मिलेगी। अतः मेरे दोषोंकी ओर देखना व्यर्थ है। तुम तो बस अपने 'पतितोद्धार' के प्रणको पूरा करो। तुम्हारा नाम समदर्शी है। प्रभो ! गुण और अवगुण तुम्हारी दृष्टिमें बराबर हैं। दासके दोष तभीतक दोष हैं, जबतक उसे स्वामीने अङ्गीकृत नहीं कर लिया—

प्रभु, मेरे औगुन चित न धरो।
समदरसी प्रभु, नाम तिहारो, अपने पनहिं करो॥
इक लोहा पूजामें राखत, इक घर बधिक परो।
यह दुविधा पारस नहिं जानत, कंचन करत खरो॥
इक नदिया इक नार कहावत मैलो नीर भरो।
जब मिलिकैं दोउ एक बरन भये सुर-सरि नाम परो॥

दोषी, अपराधी, पातकी, नारकीय मैं तभीतक हूँ, जबतक मुझे तुमने अपनी अभयप्रद शरणमें नहीं ले लिया। यह तो मान चुका हूँ कि मुझसे अगणित अपराध हुए, हो रहे हैं और होंगे, क्योंकि यह तो मेरा स्वभाव है। पर तुम्हें ऐसा न चाहिये। नाथ! तुम्हें मेरे अपराधोंको अपने वात्सल्य-पूर्ण हृदयमें स्थान न देना चाहिये। करुणासागर! दास-को इतना कठोर दण्ड क्यों दे रहे हो?

माधवजू! जो जनतें बिगरै।
तउ कृपालु करुनामय केसव, प्रभु नहिं जीय धरै॥
जैसे जननि-जठर-अन्तरगत सुत अपराध करै।
तउ पुनि जतन करै अरु पोषै, निकसे अंक भरै॥
जद्यपि मलय-बृच्छ जड़ काटत, कर कुठार पकरै।
तऊ सुभाय सुगंध सुसीतल रिपु-तन-ताप हरै॥
करुनाकरन दयालु दयानिधि, निज भय दीन डरै।
इहि कलिकाल-ब्यालमुख-ग्रासित 'सूर' सरन उबरै॥

बालक कितने ही अक्षम्य अपराध करे, माता-पिता उसे त्याग नहीं देते। तनिक सोचनेकी बात है, यदि वे ही उसे छोड़ दें, तो उस बेचारेका फिर पालन-पोषण कौन करेगा? क्या मैं आज तुम्हारी गोदमें बैठनेका भी अधिकारी नहीं? करुणालय, यह निष्ठुरता तुम्हें शोभा नहीं देती। न जाने, तुम आज मेरे साथ कैसा कुछ व्यवहार कर रहे हो। तुम-सा स्वामी ऐसा व्यवहार करेगा, यह मुझे आशा

न थी। तुम्हें छोड़ यह अनाथ अब किसके द्वारपर जाय? किसका होकर रहे? प्रभो! सेवककी वेदना जाननेवाले एक तुम्हीं हो। पर, न जाने, आज तुम्हारी करुणा कहाँ चली गयी! मेरी बार तुम ऐसे निठुर, न जाने क्यों, बन गये! क्या करूँ, कुछ समझमें ही नहीं आता। मुझे ही अपनानेमें आज यह हिचकिचाहट हो रही है। कहीं अपना विरद तो नहीं भूल गये! यदि सचमुच भूल गये, तो फिर हो चुका! तब तो अब हमलोगोंका खूब उद्धार होगा नाथ!

जो पै तुमहीं बिरद बिसारो।
तौ कहौ, कहाँ जाउँ, करुनामय कृपन करमकौ मारो॥
अगनित गुन हरि नाम तुम्हारे, आज अपन पन धारो।
'सूरदास' प्रभु, चितवत काहे न, करत-करत स्रम हारो॥

× × × ×

यह तो अब निश्चय हो गया है कि अपने निज पुरुषार्थसे मैं कुछ न कर सकूँगा। उस दिन उन पापियोंकी देखा-देखी, बिना विचारे मैं भी अघ-सागरमें तैरने लगा। वे सब अच्छे तैराक थे, सो तैर-तारकर पार लग गये। पर मुझे उन सबोंने बीचमें ही, बिना किसी सहारेके, बिल्कुल अकेला छोड़ दिया––

मो देखत सब हँसत परस्पर तारी दै-दै धीट।
कीनी कथा पाछिलनुकी-सी, गुर दिखाय दइ ईंट॥

अब क्या करूँ, नाथ! मेरा तो कोई भी कहीं आधार नहीं। तुम्हारे नामका अवलम्बन होता, तो क्यों इस तरह पापपयोधिमें डुबकियाँ खाता फिरता? लो, अब डूबा, बस अब डूबा––

तुम कृपालु करुनामय केसव, अब हौं बूड़त माहँ।
कहत 'सूर' चितवौ अब स्वामी, दौरि पकरि ल्यौ बाहँ॥

बचा लो नाथ, बचा लो। क्यों व्यर्थ मेरी ही बार इतनी देरी लगा रहे हो?

कबहूँ नाहिन गहरु कियो।
सदा सुभाव-सुलभ-सुमरन-बस, भगतनि अभय दियो॥
'सूरस्याम' सर्वग्य कृपा-निधि, करुना-मृदुल हियो।
काके सरन जाउँ जदुनन्दन! नाहिन और बियो॥

दूसरा ऐसा कौन शरणागत-पालक है, जिसके पैरोंको जाकर पकड़ूँ? कोई और मुझे अपनी शरणमें ले लेता, तो हे अशरण-शरण! तुम्हें आज इतना कष्ट देता ही क्यों—

जो जग और बियो हौं पाऊँ।
तौ यह बिनती बार-बारकी हौं कत तुमहिं सुनाऊँ?
सिव बिरंचि सुर असुर नाग मुनि सुतौ जाँचि जन आयो।
भूल्यौं भ्रम्यौं तृषातुर मृग-लौं, काहू स्रम न गँवायो॥

सो, अब तो—

कीजै प्रभु! अपने बिरदकी लाज॥

मैं यह कब कहता हूँ कि मेरे साथ न्याय किया जाय? लोग बस, यही कहेंगे न, कि तुमने 'सूर' को तारकर अन्याय किया? थोड़ी-सी बदनामी ही होगी। सो, सह लेना। बात कैसी तुम्हारे दासकी रह जायगी। अपने सेवकके हितके लिये स्वामी क्या नहीं करता। तुम सब कर सकते हो। तुम स्याहसे सफ़ेद और सफ़ेदसे स्याह सब कर सकते हो। तुम्हारा किया हुआ अन्याय भी न्याय ही कहा जायगा। पर इसे अन्याय कहनेका साहस करेगा कौन? देखा जाय तो ऐसा अन्याय, वस्तुतः न्याय, तुमने बहुतोंके साथ किया है। सैकड़ों बार अपने सेवकोंका तुमने अनुचित पक्ष लिया है। यह कोई नयी बात न होगी, ग़रीबपरवर!

लीजै पार उतारि सूरकौं, महाराज ब्रजराज!
नई न करन कहत प्रभु तुमसौं, सदा गरीबनिवाज॥

सरकार! मैं तुमसे वही करनेको कहता हूँ, जो तुम सदासे

अपने जनोंके साथ करते आये हो । मैं यह नहीं कहता कि तुमने कभी मेरे साथ कोई भलाई नहीं की; तुमने नाथ, मेरे साथ अगणित उपकार किये और अब भी करते जा रहे हो । पर मैं ही मूढ़ हूँ। मैंने ही तुम्हारे दिये हुए अनुकूल अवसरोंसे कोई लाभ नहीं उठाया। मैंने भूलसे भी अपनी दुर्बलताओंको कभी स्वीकार नहीं किया । मैं बड़ा कृतघ्न हूँ, नाथ ! न जाने, मेरी कौन गति होगी। हा !

कौन गति करिहौ मेरी, नाथ !
हौं तौ कुटिल कुचील कुदर्सन, रहत विषयके साथ ॥

यह जानकर भी कि *'गरब गोविन्दहिं भावत नाहिं'* मैं हमेशा अभिमानके ही नशेमें चूर रहा ! यह सुन-समझकर भी कि *'सब जंजाल सु इन्द्रजाल सम, ज्यों बाजीगर नटके'* मैंने कभी विषय-वासनाओंसे मुख नहीं मोड़ा ! अधिक क्या कहूँ अपनी मूढ़तापर करुणालय !

मो सम कौन कुटिल खल कामी ।
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो, ऐसो नौन-हरामी ॥
भरि-भरि उदर बिषय कों धावौं, जैसे सूकर ग्रामी ।
हरि-जन छाँड़ि हरी बिमुखनकी, निसिदिन करत गुलामी॥
पापी कौन बड़ो है मोतें, सब पतितनमें नामी ।
'सूर' पतितकों ठौर कहाँ है, सुनिए श्रीपति-स्वामी ॥

× × × ×

समझमें नहीं आ रहा है कि यह हठी सूरदास अङ्गीकृत होनेको क्यों इतने उत्कण्ठित और अधीर हो रहे हैं । बात यह है न कि—

जाकों मनमोहन अंग करै ।
ताकौ केस खसै नहिं सिरतें, जो जग बैर परै ॥

अङ्गीकृतका कोई बाल भी तो बाँका नहीं कर सकता । दुष्ट कलि उसका क्या बिगाड़ सकता है ? वह तो अनायास ही त्रिलोकमें

अभय हो जाता है—

जाकों हरि अंगीकार कियो ।
ताके कोटि बिघ्न हरि हरिकैं अभय प्रताप दियो ॥

बड़ा भारी अधिकार है हरि-जनोंका । अनन्त महिमा है हरि-दासोंकी । पर बेचारा वह अन्धा सूर किसी अधिकारका इच्छुक नहीं है । वह तो प्रेम-पुलकित होकर केवल इतना ही चाहता है कि उसका चाहसे भरा चित्त-चञ्चरीक श्रीकृष्णके चरण-कमलोंपर ही सदा मँडराता रहे, उसकी रसना-भ्रमरी निरन्तर नन्द-नन्दनकी ललित लीलाका मधु पीती रहे और उसके हाथ नित्य ही श्यामसुन्दरको कमल-दलोंकी माला बना-बनाकर पहनाया करें । यही बस, उसकी एकमात्र हार्दिक कामना है—

ऐसो कब करिहौ, गोपाल !
मनसा-नाथ, मनोरथ-दाता, हौ प्रभु दीन-दयाल ॥
चित्त निरन्तर चरननि-अनुरत, रसना चरति रसाल ।
लोचन सजल प्रेम पुलकित तन, कर-कंजनदल माल ॥

इसीमें उस दीनकी गति है और इसीमें उसकी मुक्ति है । अन्धे सूरसे पिण्ड छुड़ाना चाहते हो तो उसकी यह अभिलाषा, अब भी कुछ नहीं बिगड़ा, पूरी कर दो । यों वह तुम्हारे द्वारसे हटनेवाला नहीं । तुम्हारे लिये यह कोई बड़ी बात नहीं है । क्या मिलेगा तुम्हें कृपणतामें ? तुम्हें तो उदारता ही शोभा देती है । फिर तुमसे वह ऐसा माँग ही क्या रहा है ? बहुत हुआ; अब उसपर दया करो, दया-सागर !

तुम अनादि अबिगत अनंत गुन, पूरन परमानन्द ।
सूरदासपर कृपा करौ प्रभु, श्रीबृन्दावन चन्द ॥

दास्य और तुलसीदास

अहो ! तुलसीका दास्य-भाव ! भक्तिका पूर्ण परिपाक भक्ति-भास्कर गोसाईंजीकी दास्य-रतिमें ही देखा जाता है । इसमें सन्देह नहीं कि सेवक-सेव्य-सम्बन्धका जैसा चारु-चित्रण तुलसीके भव्य भावना-भवनमें दृष्टिगोचर होता है, वैसा अन्यत्र नहीं । इस महामहिम महात्माका कितना ऊँचा दास्य-प्रेम है, कितना गहरा सेव्य-भाव है ! त्रिताप-सन्तप्त चिरपिपासाकुल परिश्रान्त पथिकोंके लिये तुलसीने, अहा ! पुण्यसलिला भक्ति-भागीरथीकी कैसी करुणामयी धारा बहायी है ! 'विनयपत्रिका' में वर्णित दास्यरति तो, वास्तवमें, विश्व-साहित्यमें एक है, अद्वितीय है । क्या दीनता, क्या भर्त्सना, क्या मान-मर्षता, क्या भय-दर्शना आदि सप्त भूमिकाओंमें विनयके पद अनुपमेय हैं, अतुलनीय हैं। *'सेवक-सेव्य-भाव बिनु भव न तरिय उरगारि'* गोसाईंजीकी इस दृढ़ धारणाने उनकी रुचिर रचनाकी प्रत्येक पंक्तिमें दास्य-रतिका सजीव चित्र अङ्कित कर दिया है । उनकी सेव्य-सेवक-भावनाको देखकर एक बार तो नीरससे भी नीरस हृदय कह उठेगा कि धन्य है तुलसीकी भक्ति-भारती ! अस्तु ।

एक ही अभिलाषा है, एक ही लालसा है । वह यह है कि—

ज्यों-त्यों तुलसी कृपालु ! चरन-सरन पावै ।

पर वह चरण-शरण मिले कैसे ? यह मन महान् मूढ़ है । इस मनकी कुछ ऐसी मूढ़ता है कि—

परिहरि राम-भक्ति-सुर-सरिता आस करत ओस-कनकी !

राम-भक्ति-भागीरथीको छोड़ यह मूढ़ आज ओस-कणोंकी आशा कर रहा है ! इसकी मूढ़ताका कुछ पार ! भला, देखो तो—

महा मोह-सरिता अपार महँ संतत फिरत बह्यौ।
श्रीहरि-चरन-कमल-नौका तजि फिरि-फिरि फेन गह्यौ ॥

कैसा निरंकुश है मेरा यह मन-मातंग! यह दुर्जय कैसे जीता जाय--

हौं हार्यौ करि जतन विविध विधि अतिसै प्रबल अजै।

हाँ, अब यही एक उपाय है कि—

तुलसिदास, बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै।

वह लीलामय प्रेरक प्रभु ही कभी कृपाकर इसे अपने वशमें करा दें तो हो सकता है; नहीं, तो नहीं। पर इस ओर भला वह क्यों देखने चले! वह तो मुझे, न जाने कबसे, भुला बैठे हैं। समझमें नहीं आता कि क्यों ऐसा व्यवहार मेरे साथ किया गया—

काहे तें हरि मोहिं बिसारो?
जानत निज महिमा, मेरे अघ, तदपि न नाथ सँभारो!

लो, कह तो दो आज साफ़-साफ़ अपने मनकी सारी बातें। आखिर मुझे भुला क्यों दिया, मेरे मालिक? तुमने अपने सेवकोंके दोषोंपर न्याय्य विचार किया, तो हो चुका! पर ऐसा तुम करोगे नहीं, विचाराधीश! अपने दासोंके दोषोंको यदि तुम मनमें लाते होते, तो बड़े-बड़े धर्म-धुरन्धरोंको छोड़कर व्रजके गँवार ग्वालोंके बीच क्यों बसने जाते? अछूत भीलनीके जूठे बेर क्यों खाते? दासी-पुत्र विदुरके घरका साग-पात क्यों आरोगते? तुम्हारे सम्बन्धमें तो यही प्रसिद्ध है कि—

निज प्रभुता बिसारि जनके बस होत, सदा यह रीति।

देखो न—

जाकी माया-बस बिरंचि सिव नाचत पार न पायो।
करतल ताल बजाइ ग्वाल-जुवतिन्ह सोइ नाच नचायो ॥

इससे तो अब यही जान पड़ता है कि तुम्हें न तो कुलीन धनी ही प्यारे हैं और न पण्डित या ज्ञानी-ध्यानी ही। तुम्हें तो नाथ, अपने

दीन-दुर्बल दास ही प्यारे हैं। तुम्हारा नाम ही गरीबनिवाज है। पर मुझे ही क्यों अबतक नहीं अपनाया? मैं क्या कहींका धन्नासेठ हूँ? बात कुछ समझमें नहीं आती कि तुम्हारी कैसी रीझ है। हाँ, इतना तो समझता हूँ कि मैं तुम्हारा हूँ और तुम्हारा ही मुझपर अखण्ड अधिकार होना चाहिये। मैं अपनी इस समझको भ्रान्ति कैसे मान लूँ? अच्छा, तुम्हारा नहीं, तो बताओ, फिर किसका हूँ? मुझे आज तुम छोड़ रहे हो! यह क्या कर रहे हो, प्रभो, ज़रा याद तो करो वे दिन—

छारतें सँवारि कै पहारहूतें भारी कियो,
गारो भयो पंचमें पुनीत पच्छ पाइ कै;
हौं तो जैसो जब तैसो अब, अधमाई कै-कै
पेट भरौं, राम, रावरोई गुन गाइ कै।
आपने निवाजेकी पै कीजै लाज, महाराज!
मेरी ओर हेरि कै न बैठिए रिसाइ कै;
पालिकै कृपालु, ब्याल-बालहू न मारिये, औ
काटिये न, नाथ! बिषहू कौ रूख लाइ कै॥

तुम्हारे पालितकी आज यह दशा! 'रामदास' होकर क्या मुझे अब 'कलिदास' होना पड़ेगा? अपनी मुझे कोई चिन्ता नहीं। दुःख इतना ही है कि नाथ, जिस हृदय-भवनमें तुम्हें रहना चाहिये, उसमें आज चोर और लुटेरे अपना अड्डा जमानेकी घात लगा रहे हैं! क्या उनकी यह ज़्यादती तुम्हें सहन होगी?

मम हृदय भवन, प्रभु, तोरा। तहँ बसे आइ, प्रभु, चोरा॥
अति कठिन करहिं बरजोरा। मानहिं नहिं बिनय निहोरा॥
तम, मोह, लोभ, अहँकारा। मद, क्रोध, बोध-रिपु मारा॥
कह तुलसिदास, सुनु रामा। लूटहिं तसकर तव धामा॥
चिन्ता यह मोहि अपारा। अपजस नहिं होइ तुम्हारा॥

तनिक सोचो तो, चोर-लुटेरोंके हाथसे तुम्हारे घरका लुट जाना क्या कम बदनामीकी बात होगी? मुझे, बस, इतनी ही चिन्ता है कि

कहीं संसारमें तुम्हारा अपयश न फैल जाय, तुम्हारी सारी बनी-बनाई बात न बिगड़ जाय। मैं तुम्हारे मकानकी यों कबतक रखवाली करता रहूँगा। अभी कुछ गया नहीं, आकर सँभालते बने तो सँभाल लो। पीछे फिर मैं तुम्हारे घरका जिम्मेवार नहीं। लो फिर मुझे कोई दोष न देना।

× × × ×

इतने निठुर तुम पहले कब थे? तुम्हारे स्वभावमें कहाँसे इतनी निठुराई आ गयी, करुणासागर? आश्चर्य है!

'जद्यपि, नाथ, उचित न होत अस, प्रभुसों करौं ढिठाई।
तुलसिदास, सीदत निसिदिन देखत तुम्हारि निठुराई॥

यह जानता हूँ कि स्वामीके साथ ढिठाई करना ठीक नहीं है; पर करूँ क्या? आर्त हूँ, जो न करूँ सो थोड़ा। आज ढिठाई भी करनी पड़ी है। कहाँतक चुप रहूँ! कहोगे कि आखिर तू कहना क्या चाहता है, कैसी ढिठाई करेगा? तो, सुनो; क्षमा करना, क्योंकि मैं जड़ हूँ। मुझे कहना ही क्या है, केवल यही कहना है कि 'तुम निठुर हो।' निठुर तो हो तुम, पर दुःख होता है मुझे! बात यह है कि मैं अपने स्वामीको नितान्त निर्दोष देखना चाहता हूँ। लोगोंका यह कहना कि 'तुलसीका मालिक बड़ा निर्दय है' मुझे कैसे सह्य हो सकता है? तुम्हारी निठुराईका यह दोष सुनकर कहीं क्रोध आ गया और किसीसे लड़-झगड़ बैठा तो तुम्हें और भी बुरा लगेगा। इसलिये और नहीं तो कम-से-कम मेरा दुःख दूर करने या व्यर्थकी लड़ाई-झगड़ा बचानेके लिये ही निठुराईकी यह नयी आदत तो, सरकार, छोड़ ही दो। इसमें तुम्हारा बिगड़ता ही क्या है?

गोसाईंजीके कहनेका कैसा निराला ढंग है! इस ज़रा-से इशारेमें ग़ज़बका ज़ोर भर दिया है। यों भी तो कहा जा सकता था कि 'तुम बड़े निठुर हो जो मुझे निहाल नहीं करते।' पर इसमें वह बात कहाँ, जो,

'तुलसिदास, सीदत निसिदिन देखत तुम्हारि निठुराई'

—में है। इतनेपर भी क्या तुलसीके निठुर नाथ निठुर ही बने रहेंगे ?

यह तो कह ही चुका हूँ कि मैं आर्त हूँ, अतएव विवेकहीन हूँ। आर्तके कहनेका कोई बुरा नहीं मानता। अपनी जड़ताके वश होकर कभी-कभी तो मैं तुम्हारे किये सारे उपकारोंको भुला बैठता हूँ। पर क्या मैं सचमुच ही कृतघ्न हूँ ? न, मैं कृतघ्न नहीं हूँ; स्वामिन् ! तुम्हारे अगणित उपकारोंको, भला, मैं भूल सकता हूँ। नाथ, तुमने मुझे क्या नहीं दिया। पर अभी मेरी तृष्णा-पिपासा शान्त हुई नहीं। एक लालसा पूरी होनेको अभी और है। वह यह कि—

बिषय-बारि मन-मीन भिन्न नहिं, होत कबहुँ पल एक।
तातें सहौं बिपति अति दारुन, जनमत जोनि अनेक॥
कृपा-डोरि बनसी पद-अंकुस, परम प्रेम मृदु चारो।
एहि बिधि बेधि हरहु मेरो दुख, कौतुक राम तिहारो॥

मेरा मनरूपी मीन विषयरूपी जलसे एक क्षण भी अलग नहीं होता। यह विषयी मन विषाक्त वासनाओंसे तनिक भी नहीं हटता। इसीसे मुझे जन्म-मरणका दारुण दुःख सहना पड़ रहा है। कबसे विविध योनियोंमें जन्म लेता और मरता हूँ। इस विपत्तिसे त्राण पानेका, बस, एक उपाय शेष रह गया है। वह यह है कि अब अपनी कृपाकी तो बनाओ रस्सी और तुम्हारे चरणमें जो अंकुश (चिह्न) है, उसका बनाओ काँटा। उसमें परम प्रेमका कोमल चारा चपका दो। बस, फिर मन-मीनको छेदकर विषय-वारिसे बाहर निकाल लो, जिससे वह एकवृत्त होकर सदा तुम्हारा ही भजन करता रहे। मेरा दारुण दुःख एक इसी उपायसे दूर हो सकता है। यह *'मनोमत्स्य-वेध'* नाथ, तुम्हारे लिये बड़ा कुतूहलजनक होगा।

इसके बाद मैं क्या करूँगा, सो सुनो—

जानकी-जीवनकी बलि जैहौं।
नातो नेह नाथ सों करि, सब नातो नेह बहैहौं॥

क्योंकि तुम्हारे साथका नेह-नाता ही इस जीवनका एकमात्र सार-भाग है। तुम्हारे बिना जीना, जीना नहीं। वह जीवन ही किस कामका, जिसमें तुम न हो, तुम्हारा प्रेम न हो—

तिनतें खर सूकर स्वान भले, जड़ता बस ते न कहैं कछुवै।
'तुलसी' जेहि रामसों नेह नहीं, सो सही पसु पूँछ विषान न द्वै॥
जननी कत भार-मुई दसमास, भई किन बाँझ, गई किन च्वै?
जरि जाउ सो जीवन, जानकी-नाथ! जियै जगमें तुम्हरो बिन ह्वै॥

मैं तो मान चुका हूँ कि तुम मेरे स्वामी हो, पर तुमने भी, नाथ, स्वीकार कर लिया है या नहीं कि, 'तुलसी हमारा है?' न किया हो तो अब कर लो। शायद तुम मेरी छोटाईसे डरकर मुझे अंगीकृत नहीं कर रहे हो। यह बड़ी आफ़त है। एक ओर 'दीनबन्धु' कहलानेका शौक़ और दूसरी ओर दीनोंके साथसे घिन! दोनों बातें एक साथ कैसे निभ सकती हैं। यदि तुम मेरी लघुतासे न डरो तो एक पन्थ दो काज सध जायँ। मैं 'सनाथ' हो जाऊँ, और तुम्हें 'अनाथ-पति' की उपाधि मिल जाय। कहो, हो राजी?

हौं सनाथ ह्वैहौं सही, तुमहुँ अनाथ-पति,
जो लघुतहि न भितैहौ।

लघुतासे डरना कैसा? बड़ा—ख़्याल करनेकी बात है—छोटेसे क्यों डरने चला? यह तो कुछ अजीब-सी बात है। नहीं, बात ठीक सीधी-सी है। बड़े लोग बहुधा छोटोंसे डरा करते हैं। बात करना तो बहुत दूर है, वे उनके सामने भी नहीं जा सकते। उन्हें यही भय लगा रहता है कि कहीं हम छोटे लोगोंके पास खड़े हो गये, तो दुनियाँ क्या कहेगी,

जरूर हमारे बड़प्पनमें कुछ धब्बा लग जायगा। इससे, वे बड़े लोग छोटोंसे दूर ही रहते हैं। पर तुम ऐसा मत करो। मेरी लघुतासे भयभीत न होओ। अब तो, चाहे कुछ भी हो, इस दीनको अभी, अङ्गीकार कर ही लो। नाथ, मुझे अपनाते हुए कभी अपना वह कर-सरोज मुझ अनाथके सिरपर रक्खोगे ? हाँ, वही अनन्त-कृपामय कर-कमल—

सीतल सुखद छाहँ जेहि करकी मेटति पाप-ताप-माया।
निसि-बासर तेहि कर-सरोजकी चाहत तुलसिदास छाया॥

चाहनेसे क्या होगा! उस कर-सरोजकी छाया प्रेमलक्षणा परा-भक्तिसे ही प्राप्त हो सकेगी। सो, वह बड़ी कठिन है; केवल कृपा-साध्य है—

कहत सुगम, करनी अपार, जानै सोइ जेहि बनि आई।

× × × ×

कितनी बार कहलाना चाहते हो कि 'मैं केवल तुम्हारा ही हूँ!' क्या तुम्हें मेरे इस कथनमें कुछ सन्देह है ? जो मैं यह कहूँ कि मैं तुम्हारा नहीं, किसी औरका हूँ, तो मेरी यह जीभ गल-गलकर गिर जाय। मैं किसीका बनना भी चाहूँ, तो मुझे अङ्गीकार करेगा ही कौन ? मुझे तुम-सा अकारण हितू अन्यत्र कहाँ मिलेगा ? और, मुझ निठल्लेसे किस भले आदमीका कोई काम पूरा हो सकेगा ? न तो मुझे कोई अपनी सेवामें रक्खेगा और न मैं किसीके द्वारपर जाऊँगा। मैं तो तुम्हारा हूँ और तुम्हारा ही होकर रहूँगा—

खेलबेको खग-मृग, तरु, किंकर ह्वै रावरो, राम, ह्वै रहिहौं।
एहि नाते नरकहुँ सचु पैहौं, या बिनु परम पदहुँ दुख दहिहौं॥

जो कहो कि जा, तुझे हमने अपना लिया, तो यों मैं माननेवाला नहीं। अङ्गीकृतके लक्षण ही कुछ और होते हैं, स्वामिन्!

तुम अपनायो तब जानिहौं, जब मन फिरि परिहै।
जेहि सुभाउ बिषयनि लग्यौ, तेहि सहज नाथ सों नेह छाड़ि छल करिहै॥

सुतकी प्रीति, प्रतीति मीतकी, नृप ज्यों डर डरिहै।
अपनो सो स्वारथ स्वामी सों चहुँविध चातक ज्यों एक टेक तें नहि टरिहै॥
हरषिहै न अति आदरे, निदरे न जरि-मरिहै।
हानि-लाभ दुख-सुख सबै समचित, हित-अनहित, कलि-कुचाल परिहरिहै॥
प्रभु-गुन सुनि मन हरषिहै, नीर नैननि ढरिहै।
तुलसिदास भयो रामको, बिस्वास प्रेम लखि आनँद उमगि उर भरिहै॥

सो, इस दशाका तो अभी यहाँ शतांश भी प्राप्त नहीं हुआ। अभी मेरा मन विषयोंकी ओरसे कहाँ फिरा है। अभी तो मैं कामदास ही हूँ, रामदास नहीं। यह मन जिस सहजभावसे विषयोंमें आसक्त हो रहा है, उसी भावसे, छल-कपट छोड़कर, जब यह तुमसे प्रेम करने लगेगा, तब जानूँगा कि मैं अब अंगीकृत हो गया। जिसे तुमने अपना लिया, वह तुम्हें चातककी चाहसे चाहेगा। न वह सम्मान-लाभसे प्रसन्न ही होगा और न तिरस्कृत होनेपर डाहसे जल ही मरेगा। हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि समस्त द्वन्द्वोंको वह एक-सा समझेगा। अभी मेरा विषयी मन न तो तुम्हारा गुण-गान सुनकर प्रफुल्लित ही होता है और न इन अभागिनी आँखोंसे प्रेमाश्रु-धारा ही बहती है। फिर मैं कैसे मान लूँ कि तुमने अपने अंगीकृत जनोंकी सूचामें तुलसीका भी नाम लिख लिया है। मुझे भूल-भुलैयामें न छोड़ो, मेरे हृदय-सर्वस्व! अशरण-शरण, मुझे अंगीकृत करके ही तुम अपने विरदकी लाज रख सकोगे। तुम्हें रिझाने लायक और कोई गुण तो मेरे पास है नहीं; हाँ, एक निर्लज्जता निस्सन्देह है, आज उसीपर रीझ जाओ। तुम्हारी रीझ अनोखी तो है ही—

खीझिबे लायक करतब कोटि-कोटि कटु,
रीझिबे लायक तुलसीकी निलजई।

सच मानो, नाथ, तुम्हारे त्याग देनेपर मैं कहींका न रहूँगा। मेरा भला तुम्हारे ही हाथ होगा। सो जैसे बने तैसे अङ्गीकार कर लो। अधिक क्या कहूँ, तुम तो सब जानते हो। तुमसे छिपा ही क्या है! जीवनकी अवधि अब बहुत दूर नहीं है—

'तुलसिदास' अपनाइये, कीजै न ढील, अब जीवन-अवधि अति नेरे।

अपनी यह 'बिनय-पत्रिका' तुम्हारे दरबारमें भेजता हूँ। इतनी अर्ज़ और है कि—

बिनय-पत्रिका दीनकी, बाप! आप ही बाँचो।

राज-दरबारोंमें अकसर धाँधली हो जाया करती है। तुम्हारे दरबारमें भी, सम्भव है, यह पत्रिका किसी ऐसे मन्त्री या पेशकारके हाथमें पड़ जाय, जो तुम्हारी पेशीमें इसे कुछ घटा-बढ़ाकर पढ़ दे। इसलिये इसे 'आप ही बाँचो।' पिताजी, कृपाकर स्वयं ही इस दीनकी पत्री पढ़ लेना।

हिये हेरि तुलसी लिखी, सो सुभाय सही करि, बहुरि पूछिअहि पाँचो।

अपने सरल स्वभावसे इसपर 'सही' करके तब फिर पञ्चोंसे पूछना। पञ्चोंसे या दरबारी मुसाहबोंसे बेखटके पूछ सकते हो, उनकी राय भी इसपर ले सकते हो। मुझे कोई आपत्ति नहीं। पर, 'सही' उनसे बिना पूछे ही कर देना। भले ही यह बात क़ानूनके ख़िलाफ़ हो।

इस पदमें प्रयुक्त 'बाप' शब्द द्रष्टव्य है। गोसाईंजी पञ्चोंसे बिना पूछे ही 'सही' लिखवा लेना चाहते हैं और स्वयं पढ़नेको भी कहते हैं। इसीलिये यहाँ 'प्रभु', 'महाराज', 'देव' आदि ऐश्वर्य सूचक सम्बोधनोंका प्रयोग नहीं किया गया है। 'बाप' के सम्बोधनसे आप घरू तौरपर बात कर रहे हैं। बापसे किसी तरहका कोई संकोच तो होता नहीं। 'सही' करा लेनेतक तो 'पिता-पुत्र' का सम्बन्ध है,

और इसके आगे 'राजा-प्रजा' अथवा 'स्वामी-सेवक' का भाव आ जाता है। अर्ज़ी पेश करनेका कैसा बढ़िया ढंग है! क्या अब भी राजाधिराज श्रीरामचन्द्र विनयी तुलसीकी विनय-पत्रिकापर 'सही' न करेंगे?

सेव्य-सेवक-भाव ही, गोसाईंजीके मतसे प्रेमका सर्वोत्कृष्ट रूप है। बिना इस भाव-साधनाके भव-सागरसे तर जाना कठिन ही नहीं, असम्भव है—

सेवक-सेव्य-भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।
भजहु राम-पद-पंकज, अस सिद्धान्त बिचारि॥

उस जगन्नियन्ता स्वामीका सेवक हो जाना ही जीवका परम पुरुषार्थ है। पर लाखमें किसी एकको मिलती है उस मालिककी गुलामी। हम दुनियाँके कमीने गुलामोंको कहाँ नसीब है वह ऊँची गुलामी! ज़रा, देखो तो, अपना कैसा सुन्दर परिचय दिया है इस रामगुलामने। कहता है—

मेरे जाति-पाँति, न चहौं काहूकी जाति-पाँति,
मेरे कोऊ कामको, न हौं काहूके कामको।
लोक-परलोक रघुनाथ ही के हाथ सब,
भारी है भरोसो तुलसीके एक नामको॥
अति ही अयाने उपखानो नहिं बूझैं लोग,
'साह ही को गोत, गोत होत है गुलामको।'
साधु कै असाधु, कै भलो कै पोच, सोच कहा,
का काहूके द्वार परौं, जो हौं सो हौं रामको॥

कैसी आज़ादीकी गुलामी है यह राम-गुलामी! स्वामी और सेवकमें यहाँ अन्तर ही क्या है? दोनोंका एक ही कुल है, एक ही गोत्र है। क्या अच्छा कहा है—

साह ही को गोत, गोत होत है गुलामको।

ऐसा कौन स्वातन्त्र्य-प्रिय होगा, जो यह दासत्व स्वीकार न करेगा। किस अभागेके हृदयतलमें यह अभिलाषा न उठती होगी कि—

जेहि-जेहि जोनि करम-बस भ्रमहीं। तहँ-तहँ ईसु देउ यह हमहीं॥
सेवक हम, स्वामी सिय-नाहू। होउ नात यह ओर निबाहू॥

सेव्य-सेवक-भाव हँसी-खेल नहीं है। यह महाभाव योग-साधन-से भी अधिक अगम्य है। इस नातेका एकरस निभा ले जाना कितना कठिन है, कितना कष्टकर है। अतः यह दास्य-रति केवल हरि-कृपा-साध्य है।

× × × ×

गोसाईंजीकी दृष्टिमें अङ्गीकृत अनन्य दासकी कितनी ऊँची महिमा है, इसे नीचेके पद्यमें देखिये—

सो सुकृती, सुचिमंत, सुसंत, सुजान, सुसील, सिरोमनि स्वै।
सुर तीरथ तासु मनावत आवत, पावन होत हैं ता तन छ्वै॥
गुन-गेह, सनेहको भाजन सो, सबही सों उठाइ कहौं भुज द्वै।
सतिभाय सदा छल छाड़ि सबै, तुलसी जो रहै रघुबीरको ह्वै॥

भक्तकी यह महती महिमा सुनकर कौन ऐसा अभागा होगा, जो श्रीरघुनाथजीका अङ्गीकृत दास होनेके लिये लालायित न होता होगा? दास्य-रतिका अनिर्वचनीय आनन्द लूटनेके अर्थ कौन मूढ़, गोसाईं तुलसीदासके स्वरमें अपना स्वर मिलाकर, भक्तिपूर्वक यह पुनीत प्रार्थना न करना चाहेगा?

मो सम दीन, न दीन-हित, तुम समान रघुबीर।
अस बिचारि, रघुबंस-मनि, हरहु बिषम भव-भीर॥
कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि, रघुनाथ, निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम॥



वात्सल्य

वात्सल्य-रसमें शान्त, दास्य और सख्य-रसोंका भी मधुर आस्वादन प्रेमीको मिलता है। शान्तका गुणगौरव, दास्यका सेवा-भाव और सख्यका असंकोच वात्सल्यस्नेहमें मिला रहता है। इसीसे यह महारस अमृतसे भी अधिक मधुर माना गया है। अवधराज दशरथके वे सरयूतीरपर चौगान खेलनेवाले चारों सुन्दर सुकुमार कुमार आज भी हमारे हृदय-पटलपर अंकित हो रहे हैं। कृष्ण-बलरामकी वह कालिन्दी-कछारोंपर ग्वालबालोंके साथ खेलनेवाली विश्वविमोहिनी जोड़ी आज भी हमारी आँखोंमें समायी हुई है। परित्यक्ता शकुन्तलाका वह आश्रममें सिंह-शावकके साथ खेलता हुआ शिशु भरत आज भी हमें स्नेह-अधीर कर देता है।

धन्य है वह गोद, जो बालकोंके धूलि-धूसरित अङ्गोंसे मैली हुआ करती है! धन्य हैं वे श्रवण, जिनमें बालकोंकी तोतली बोलीकी सुधा-धारा बहा करती है! धन्य हैं वे नेत्र, जिनमें बच्चोंकी भोली-भाली बाल-छबि बसा करती है!

हाँसी बिन हेतु माहिं दीसति बतीसी कछू,
निकसी मनों है पाँति ओछी कलिकानकी।
बोलन चहत बात निकसि जाति टूटी-सी,
लागति अनूठी मीठी बानी तुतलानकी॥
गोदतें न प्यारी और भावै मन कोई ठौर,
दौरि-दौरि बैठै छाड़ि भूमि अँगनानकी।
धन्य धन्य वे हैं नर, मैले जे करत गात,
कनिया लगाय धूरि ऐसे सुवनानकी॥

—लक्ष्मणसिंह

आज प्रथम बार बलरामके साथ बालकृष्ण गायें चराने जा रहे हैं। माता यशोदा बलदाऊके साथ नन्हे-से कृष्णको भेज तो रही हैं, पर हृदयमें फिर भी शङ्काएँ उठ रही हैं। दोनों भाई अभी बच्चे ही तो हैं। इसलिये आप गो-चारण-सम्बन्धी शिक्षा स्नेहपूर्वक दोनोंको देने लगीं—

तनक-तनक बछरनकों लैकैं तनक दूरि तुम जइयो।
जो मैं दीनों, कान्ह ! कलेऊ बैठि जमुन-तट खइयो॥

देखो, भैया बलराम, अपने छोटे भाईका, सयानेकी नाईं, खूब ध्यान रखना—

साथ लिये रहियो मेरेकों, तुम हौ तनक सयाने।
न्यारो होन देहु नहि कबहूँ, बन-बीथी नहि जाने॥
जानत नहीं कछू काहूकी, छलबल याहि न भावै।
बारो-भोरो तेरो भैया, भूलन कहूँ न पावै॥

—बख्शी हंसराज

अस्तु, माताकी शिक्षा-दीक्षा ग्रहणकर सयाने दाऊ अपने बारे-भोरे भाईको गायें चराने वनको ले गये। साँझ होते ही यशोदा कृष्णके लिये अधीर हो उठीं। आज अबतक वनसे लड़के नहीं लौटे! कब कृष्ण-बलराम आयें; और कब उन्हें छातीसे लगाकर अपनी आँखें ठण्डी करूँ—

कबधौं तेल-फुलेल चुपरिकैं, लाँबी चुटिया ओंछौं।
गो-रज लिपटि रही मुख ऊपर, आँचर आँगु अँगोछौं॥
बकत-खिजत भूखो 'मैया', कहि माँगत माखन-रोटी।
आवै धौं कब आज बिपिन तें, लिये लकुटि कर छोटी॥

—बख्शी हंसराज

इस पद्यमें कविने मातृ-हृदयकी स्वाभाविक स्नेहमयी कितनी ऊँची उत्कण्ठा व्यक्त की है ! कृष्ण-बलरामको छातीसे लिपटा लेनेके लिये यशोदा कैसी अधीर हो रही है !

× × × ×

महाकवि देवने निम्नाङ्कित पद्यमें वात्सल्य-रसकी कैसी दिव्य धारा बहायी है ! नन्दनन्दन गिरिराजको उँगलीपर उठाये खड़े हैं। यशोदा अपने छोटे-से कन्हैयाका यह दुस्साहस देखकर घबरा रही है। कहाँ तो मेरे बच्चेकी यह नन्ही-सी बाँह और कहाँ यह गगन-चुम्बी गोवर्धन-गिरि और तिसपर प्रलयंकर इन्द्रका कोप !

मेरे गिरिधारी गिरि धार्यौ धरि धीरजु,
अधीर जनि होहि अंगु लचकि लुरकि जाय;
लाड़िले कन्हैया, बलि गई बलि मैया,
बोलि ल्याऊँ बल भैया, आय उरपै उरकि जाय।
टेक रहि नेक जौलौं हाथ न पिराय, देखि,
साथु सँगु रीते अँगुरीतें न बुरकि जाय;
पर्‌यौ ब्रज बैर बैरी बारिद-बाहन बारि,
बाहनके बोझ हरि-बाँह न मुरकि जाय॥

बाँहके लचक या मुरक जानेमें सन्देह ही क्या है। पर यह कन्हैया किसीकी माने तब न ? किया क्या जाय, बड़ा हठी है।

× × × ×

आज अक्रूरके साथ मथुरा जानेको राम और कृष्ण अधीर हो रहे हैं। अरे भाई, सभी तो वहाँ जा रहे हैं। फिर ये बच्चे हैं, इन्हें जानेका उमाह क्यों न हो ? पर माता यशोदा कैसे जाने देंगी। अपने हृदय-दुलारे छोटे-से कान्हको वह कैसे अपनी आँखोंकी ओट

करेंगी ? उनका यह भी कहना है कि मथुरा-जैसी विशाल नगरीमें मेरे ये छोटे-छोटे बालक जाकर करेंगे क्या ! नागरिकता ये गँवार देहाती लड़के क्या जानें ! इन्होंने तो अबतक गायें ही चरायी हैं। यमुना और वृन्दावन ही इन्होंने देखा है। कहीं उस नगरीकी गलियोंमें ये भोले बच्चे भूल न जायँ। कुछ भी हो, मैं तो अपने कन्हैयाको वहाँ न भेजूँगी—

बारे बड़े उमड़े सब जैवे कों, हौं न तुम्हैं पठवौं, बलिहारी।
मेरे तौ जीवन 'देव' यही धन या ब्रज पाई मैं भीख तिहारी॥
जानै न रीति अथाइनकी, नित गाइनमें बन-भूमि निहारी।
याहि कोऊ पहचानै कहा कछु जानै कहा मेरो कुंज-बिहारी॥

पर, बिलपती-कलपती मैयाको वह निठुर कन्हैया मूर्च्छित करके मथुरा चला ही गया। बड़ा जिद्दी है, माना ही नहीं। कुछ दिनों बाद कृष्णको वहीं छोड़कर नन्दबाबा अपने गाँवको लौट आये। माताको अपने प्यारे पूतको देखनेकी अबतक जो कुछ थोड़ी-बहुत आशा थी, सो उसका भी तार अब टूट गया। स्नेह-कातर हो बेचारी विलाप करने लगी। पतिदेव ! बताओ, मेरे उस आँखोंके तारे प्यारे लालको तुम कहाँ छोड़ आये ? अपने प्राण-प्रिय, गोपालको छोड़कर तुम यहाँतक जीवित कैसे आये ! कहाँ है वह—

प्रियपति, वह मेरा प्राणप्यारा कहाँ है ?
दुख-जल-निधि डूबीका सहारा कहाँ है ?
लख मुख जिसका मैं आजलौं जी सकी हूँ,
वह हृदय-दुलारा नैन-तारा कहाँ है ?
पल-पल जिसके मैं पंथको देखती थी,
निशि-दिन जिसके ही ध्यानमें थी बिताती;

उरपर जिसके है सोहती मुक्तमाला,
वह नव-नलिनी-से नैनवाला कहाँ है ?
सहकर कितने ही कष्ट औ संकटोंको
बहु यजन कराके, पूजके निर्जरोंको,
वह सुवन मिला है जो मुझे यत्नद्वारा,
प्रियतम ! वह मेरा कृष्ण प्यारा कहाँ है ?

—हरिऔध

उस विश्व-विमोहन बालकृष्णका ध्यान पगली यशोदा कैसे भुला दे । वह बाल-छवि क्या भुला देनेकी वस्तु है ? उस प्राण-प्यारे कान्ह-को कोई कैसे ध्यान-पथसे हटा सकेगा ? मियाँ रसखानिने कैसा साफ़ कहा है कि भाई ! खुशनसीब तो वही गिना जायगा, जिसने नन्द-नन्दनकी वह बचपनेकी भोली सूरत टुक निहार ली है । एक दिन धूलि-धूसरित बालगोविन्द अपने आँगनमें ठुमक-ठुमक खेल रहे थे । माखन-रोटी भी हाथमें लिये खाते फिरते थे । पैरोंमें पैजनियाँ रुनक-झुनक बज रही थीं । पीली कछोटी काछे हुए थे और झीनी झँगु-लिया पहने थे । मौजमें खेल रहे थे । इतनेमें एक कौआ कहींसे उड़ता हुआ आया, और गोपालके हाथसे उनका माखन और रोटी छीनकर ले गया । आप, 'मैया ! मेरी माखन-लोटी, ऊँ ऊँ ऊँ' करते हुए रोने लगे । उस कागके भाग्यकी सराहना कहाँतक की जाय ! उस जूठी माखन-रोटीको छीन लेनेके लिये ऐसा कौन अभागा होगा, जो कौआ बननेको उत्कण्ठित और अधीर न होता होगा । अहा !

धूरिभरे अति सोभित स्यामजू, तैसी बनी सिर सुंदर चोटी ।
खेलत-खात फिरैं अँगना, पग पैजनी बाजतीं, पीरी कछोटी ॥
वा छबिकों 'रसखानि' बिलोकत, वारत काम कलानिधि कोटी ।
कागके भाग कहा कहिए, हरि-हाथसों लै गयो माखन-रोटी ॥

भक्तवर भुशुण्डिने काक-योनिमें इसीलिये जन्म लेना स्वीकार किया था कि दशरथ-कुमार राम जहाँ-जहाँ खेलते-खाते फिरेंगे तहाँ-तहाँ मैं भी उनके साथ-साथ उड़ता फिरूँगा और जो जूठन आँगनमें गिरेगी, उसे बड़े चावसे उठा-उठाकर खाऊँगा—

लरिकाई जहँ-जहँ फिरहिं, तहँ-तहँ संग उड़ाउँ।
जूठन परइ अजिर महँ सोइ उठाइ करि खाउँ॥

—तुलसी

अहोभाग्य ! अहोभाग्य !!

कागके भाग कहा कहिए, हरि-हाथसों लै गयो माखन-रोटी ॥

× × × ×

आज कृष्ण-सखा उद्धव व्रज-वासियोंको उनके प्राण-प्रिय गोपाल-का प्रेम-सन्देश सुनाने व्रजमें आये हैं । वृद्ध नन्दबाबाकी दशा क्या कहें । दिन-रात बेचारे 'कन्हैया, कन्हैया !' की रट लगाये रहते हैं । नेत्रोंकी ज्योति रोते-रोते मन्द हो चली है । माता यशोदाकी अवस्था तो और भी शोचनीय है । आज उद्धवको देखकर उनके प्राण-पक्षी मानो फिर पिंजड़ेमें लौट आये । आज मेरा बड़ा भाग्य, जो उस भाग्यवान्का दर्शन कर रही हूँ, जिसकी आँखोंमें मेरे दुलारे गोपालकी छबि खचित हो रही है। स्नेह-कातरा यशोदा उद्धवके सिरपर हाथ फेरने लगी । उद्धव भी मैयाके पैरोंसे लिपटकर रोने लगे । प्रकृतिने उस समय एक बार फिर व्रज-भूमिपर वात्सल्य-रसकी पुनीत धारा बहा दी। कुशल-क्षेम पूछना भला वह भोली-भाली ग्वालिनी क्या जाने । बोली, भैया ऊधो !

मेरे प्यारे सकुशल सुखी और सानन्द तो हैं ?
कोई चिन्ता मलिन उनको तो नहीं है बनाती,

ऊधो, छाती, वदनपर है म्लानता भी नहीं तो ?
हो जाती हैं हृदयतलमें तो नहीं वेदनाएँ ?
संकोची है परम अति ही, धीर है लाल मेरा,
लज्जा होती अमित उसको माँगनेमें सदा थी;
जैसे लेके सरुचि सुतको अंकमें मैं खिलाती,
हा ! वैसे ही नित खिला कौन वामा सकेगी !
जो पाती हूँ कुँवर-मुखके जोग मैं भोग प्यारा,
तो होती हैं हृदयतलमें वेदनाएँ बड़ी ही;
जो कोई भी सुफल सुतके योग्य मैं देखती हूँ,
हो जाती हूँ व्यथित अति ही, दग्ध होती महा हूँ ।
प्यारा खाता रुचिर नवनीको बड़े चावसे था,
खाते-खाते पुलक पड़ता नाचता-कूदता था;
ये बातें हैं सरस नवनी देखते याद आतीं,
हो जाता है मधुरतर औ स्निग्ध भी दग्धकारी ।
प्यारे ऊधो ! सुरत करता लाल मेरी कभी है ?
क्या होता है न अब उसको ध्यान बूढ़े पिताका ?
रो-रो होके विकल अपने वार जो हैं बिताते,
हा वे सीधे सरल शिशु हैं क्या नहीं याद आते ?

ये मर्म-स्पर्शी सरस पद्य आदरास्पद अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के करुण-रस-पूरित 'प्रिय-प्रवास' काव्यसे उद्धृत किये गये हैं। कविने किस प्रखर प्रतिभासे इन सुन्दर पद्योंमें वात्सल्यमयी करुणा-धारा बहायी है। इस धारामें निमज्जनकर किस सहृदयका हृदय भक्ति-भावसे उद्वेलित न हो जायगा।

× × × ×

माताका हृदय पिताके हृदयसे अधिक ममतामय और वात्सल्य-पूर्ण होता है। उस ममतामें अगणित शंकाएँ भरी होती हैं। बच्चेको

कहीं गये ज़रा-सी देर हो गयी कि सरला माताके मनमें अनेक शंकाएँ उठ खड़ी हुईं। कहीं गिर न पड़ा हो, किसीसे झगड़ा न हो गया हो, या भगवान् न करे, कोई और अनिष्ट न हो गया हो। आज अकेला ही उस तालाबकी ओर गया है। तैरना तो उसे आता नहीं; कहीं डूब न गया हो। हे भगवन् ! मेरा लाल सकुशल घर आ जाय। ऐसी वात्सल्य-स्नेहमयी शंकाएँ माता-पिता और गुरुजनोंके हृदयमें ही उठा करती हैं। जहाँ अधिक स्नेह होता है, वहाँ छोटी-से-छोटी शंका भी भयावनी देख पड़ती है। महाकवि शेक्सपियरने लिखा है—

Where love is great, the littlest doubts are fears,
Where little fears grow great, great love is there.

यहाँ एक प्रसंग याद आ गया है। महारानी कौशल्याने जबसे रामचन्द्र चित्रकूटसे चले गये तबसे उनका कोई कुशल-समाचार नहीं पाया। आप अपनी एक सखीसे चिन्तित हो कह रही हैं कि न जाने आजकल मेरी आँखोंकी पुतली प्यारी सीता और हृदय-दुलारे राम और लक्ष्मण किस वनमें भूखे-प्यासे मारे-मारे फिरते होंगे ! शायद ही समय-पर उन्हें कन्द-मूल या फल-फूल मिलते हों—

आली ! अब राम-लखन कित ह्वै हैं।
चित्रकूट तज्यौ तबतें न लही सुधि,
बधू-समेत कुशल सुत द्वै हैं॥
बारि, बयार, बिषम हिम-आतप सहि,
बिनु बसन भूमितल स्वै हैं।
कंदमूल, फल-फूल असन बन,
भोजन समय मिलत कैसे वै हैं॥
जिनहिं बिलोकि सोचिहैं लता-द्रुम,
खग-मृग-मुनि लोचन-जल च्वै हैं।

'तुलसिदास' तिनकी जननी हौं,
मो-सी निठुर चित औरहु कहु ह्वै हैं ॥

यह है सन्तति-वियोगिनी माताका हृदय ! यह है वात्सल्य-रसका अद्भुत आकर्षण । यह पद गूढ़ स्नेह-भावका कैसा अच्छा द्योतक है । '*आली अब राम लखन कित ह्वै हैं ?*' इन शब्दोंमें कैसा हृदय-स्पर्शी करुण-संगीत भरा हुआ है ।

× × × ×

हम सब, वास्तवमें, उस देशके भूले-भटके पथिक हैं । पर मान कुछ और ही बैठे हैं। देखा जाय तो हम सभी किसी स्वर्गीय आँगनमें खेलनेवाले बालक हैं । हम अपने ही हाथों अपनी वात्सल्य-पात्रता खो बैठे हैं । दयाबाईकी इस साखीका आज हम अर्थ नहीं लगा सकते—

लाख चूक सुतसे परै, सो कछु तजि नहिं देह ।
पोषि चुचुकि लै गोदमें, दिन-दिन दूनों नेह ॥

जब हम खुद ही किसीके आज वात्सल्य-भाजन नहीं हैं, तब हमारा भी कोई स्नेह-पात्र क्यों होने चला ? इसीसे हमलोगोंका जीवन आज स्नेह-शून्य एवं शुष्क हो गया है । आनन्दका तो कहीं लेश भी नहीं है । जबतक हमारे हृदयमें वात्सल्य-प्रेमका सञ्चार नहीं हुआ अथवा हम किसीके वात्सल्यपात्र नहीं हो गये, तबतक स्वर्गका अमर राज्य हमें प्राप्त नहीं हो सकता । महात्मा ईसाकी तो यह दृढ़ धारणा थी कि बालक ही उस परमपिताका एकमात्र उत्तराधिकारी है, बालक ही उस राज-राजेश्वरका एकमात्र युवराज है । भगवद्विभूति क्राइस्टका कथन है—

Verily I say unto you, except ye be converted and become as little children, ye shall not enter into the kingdom of Heaven.

अर्थात्, मैं तुमसे सच कहता हूँ कि जबतक तुमने अपने आपको छोटे-छोटे बच्चोंमें परिणत नहीं कर लिया, स्वयं तुम बालक नहीं हो गये, तबतक स्वर्गके राज्यमें प्रवेश न कर सकोगे।

एक प्रसंगपर फिर कहते हैं—

Suffer little children, and forbid them not to come unto me: for of such is the kingdom of Heaven.

बालकोंको मेरे पास आने दो, उन्हें मना न करो। क्योंकि स्वर्गका राज्य ऐसोंका ही है।

इसलिये, भाई! या तो हमें स्वयं ही परमपिता परमात्माकी प्रेममयी गोदमें बैठकर उसका अनन्त वात्सल्य-रस लूटनेको उद्यत हो जाना चाहिये, अथवा उसे ही अपना वात्सल्य-पात्र बना लेना चाहिये। प्रेमानन्द-प्राप्तिके यही दो राजमार्ग हैं।

नीचे वात्सल्य-तरङ्गिणीकी दो धवल धाराएँ आप देखेंगे। कहिये, अपने मलिन मनको आप किस धारामें पखारकर निर्मल करना चाहते हैं? पहली भावना-धारा यह है—

मैया, मेरी कब बाढ़ैगी चोटी!
किती बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी॥

और दूसरी भावना-धारा यह है—

बरु ए गोधन हरौ कंस सब, मोहि बंदि लै मेलौ।
इतनो ही सुख कमलनैन मो अँखियन आगे खेलौ॥

कभी किसी जन्ममें अनुकूल अवसर मिला, तो यह अधम लेखक तो दूसरी ही भावना-धारामें अपना मलिन मन धोनेका प्रयत्न करेगा। अपना निर्णय आप स्वयं कर लें।



वात्सल्य और सूरदास

इसमें सन्देह ही क्या कि 'तत्त्व-तत्त्व सूरा कही !' गज़बकी थी उस अन्धेकी सूझ। शृङ्गार और वात्सल्य-रसकी जो विमल धाराएँ प्रेमावतार सूरने बहायीं, उनमें आज भी विश्व-भारती निमज्जन कर अपने सुखसौभाग्यको सराहती है। वात्सल्य-वर्णन तो इनका इतना प्रगल्भ और काव्याङ्ग-पूर्ण है कि अन्यान्य कवियोंकी सरस सूक्तियाँ सूरकी जूठी जान पड़ती हैं। सूर-जैसा वात्सल्य-स्नेहका भावुक चित्रकार न भूतो न भविष्यति—न हुआ है, न होगा। सूरने यदि वात्सल्यको अपनाया, तो वात्सल्यने भी सूरको अपना एकमात्र आश्रयस्थान मान लिया। सूरका दूसरा नाम वात्सल्य है और वात्सल्यका दूसरा नाम सूर। सूर और वात्सल्यमें अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध है।

अच्छा, आओ, अब उस बालगोपालकी सूर-वर्णित दो-चार बाल-लीलाएँ देखें। बलराम और कृष्ण माता यशोदाके आगे खेल रहे हैं। सहसा कृष्णकी दृष्टि बलदाऊकी चोटीपर गयी। हैं! दाऊकी इतनी लम्बी चोटी और मेरी इतनी छोटी! दूध पीते-पीते, अरी, कितने दिन हो गये, फिर भी यह उतनी ही छोटी है! मैया, तू तो कहा करती थी कि दाऊकी चोटीकी तरह, कन्हैया! तेरी भी लम्बी और मोटी चोटी हो जायगी। पर वह कहाँ हुई, मेरी मैया! तू मुझे कच्चा दूध देती है, सो भी खिझा-खिझाकर। तू माखन-रोटी तो देती ही नहीं। अब तू ही बता, चोटी कैसे बढ़े? बाल-स्पर्धाका कैसा सुन्दर भाव है!

मैया, मेरी कब बाढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी॥

तू जो कहति बलकी बेनी ज्यों ह्वैहै लाँबी-मोटी।
काढ़त, गुहत, न्हवावत, ओछत, नागिनि-सी भुइँ लोटी॥
काचो दूध पियावति पचि-पचि, देति न माखन-रोटी।
सूरस्याम, चिरजीवौ दोउ भैया, हरि-हलधरकी जोटी॥

यशोदाको तुरंत एक सूझ उठ आयी। बोली 'भैया, ठीक तो कहती हूँ, दूध पीनेसे ही तो चोटी बढ़ेगी। पर कौन दूध? कजली गैयाका। सो तू उसका दूध कब पीता है। आजसे, कन्हैया, तू उसी गैयाका दूध पिया कर'—

कजरी कौ पय पियहु लाल, तब चोटी बाढ़ै।

जिद्दी लड़केका मन और कैसे बहलाया जाय। कन्हैया सचमुच बड़ा हठी है—

मेरो, माई! ऐसो हठी बाल गोबिन्दा।
अपने कर गहि गगन बतावत खेलनकौं माँगै चंदा॥

बोलो, अब चन्दा कैसे मँगा दूँ उसे।

× × × ×

आज, लो बलदाऊकी कुशल नहीं है। बालगोविन्दने उनपर मैयाके इजलास-खासमें मान-हानिका दावा दायर कर दिया है। कन्हैया छोटा है, तो क्या हुआ। छोटा हो या बड़ा, लगनेवाली बात सबको लग जाती है। दाऊको ऐसा न कहना चाहिये। बड़े आये कहींके दाऊ। कहते हैं कि कन्हैया, तू यशोदाका जाया हुआ पूत थोड़े ही है, तू तो मोलका लिया हुआ है! कभी माँका नाम पूछते हैं, तो कभी बापका! आप यह भी कहते हैं कि गोरे मा-बापका लड़का भी गोरा ही होता है। तू तो काला-कलूटा है, कृष्ण! मैया, अब दाऊके साथ खेलनेको जी नहीं चाहता। उन्होंने लड़कोंको भी यही सिखा-पढ़ा दिया है। वे भी सब चुटकी दे-देकर मेरी ओर हँसा करते हैं।

यशोदासे बालकृष्णने ताना देकर कहा, अरी मैया ! दाऊको तू क्यों मारेगी ! मारना-पीटना तो मुझ गरीबको ही तू जानती है । कुटना-पिटना मेरे ही भाग्यमें लिखा है । दाऊजी तो खिझाते ही हैं, ले तू भी मुझे खिझा ले—

मैया, मोहि दाऊ बहुत खिझायौ ।
मोंसों कहतु मोल कौ लीनों, तोहि जसुमति कब जायौ ॥
कहा कहौं, या रिसके मारें, खेलन हौं नहिं जात ।
पुनि-पुनि कहतु कौन तुव माता, कौन तिहारो तात ॥
गोरे नंद, जसोदा गोरी, तुम कत स्याम सरीर ।
चुटकी दै-दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर ॥
तू मोही कौं मारन सीखी, दाउहि कबहुँ न खीझै ।
मोहन कौ मुख रिस-समेत लखि, जसुमति अति मन रीझै ॥

बालकृष्णको न्यायाधीशने गोदमें बिठा लिया, और मुँह चूमकर यह फैसला सुना दिया—

सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत ।
सूरस्याम, मोहि गो-धन की सौं, हौं जननी तू पूत ॥

यशोदा यह बात किसी औरकी शपथ खाकर कहतीं, तो कृष्णको शायद ही उनके कथनपर विश्वास आता । पर यह कसम गो-धनकी है । ग्वालिनीके लिये इस शपथसे बड़ी और कौन शपथ हो सकती है ? इन पंक्तियोंमें कविने कैसा स्वाभाविक वात्सल्य-स्नेह भर दिया है !

सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत ।
सूरस्याम, मोहि गो-धन की सौं, हौं जननी तू पूत ॥

पर वास्तवमें यह बात थी नहीं । बलभद्रको उदारहृदया यशोदा अपने सुतसे भी अधिक प्रेम करती थीं । बलरामने स्वयं गद्गद कण्ठसे एक बार यशोदा मैयाके वात्सल्य-स्नेहका इस भाँति परिचय दिया था—

एक दिवस हरि खेलत मोंसों झगरो कीनों पेलि।
मोकों दौरि गोद करि लीनों, इनहिं दियो करि ठेलि॥

अपने दाऊको कृष्ण भी बहुत चाहते थे। शिकायत तो यों ही कभी-कभी कर दिया करते थे। अपने छोटे प्यारे भैयापर दाऊका भी तो असीम स्नेह था। गायें खुद आप चराते और लाड़ले कृष्णको वनके फल तोड़-तोड़कर खिलाया करते। कृष्णपर बलरामका जो स्नेह था, उसे कृष्णका ही हृदय जानता था—

मैया री, मोहि दाऊ टेरत।
मोकों बन-फल तोरि देतु है, आपुन गैयन घेरत॥

× × × ×

किसीने क्या इस बातका भी कभी अनुसन्धान किया है कि माताका हृदय विधाताने किन स्वर्गीय उपादानों और दिव्य वृत्तियोंको लेकर निर्मित किया है? स्नेहका वह कैसा विस्तीर्ण पयोनिधि है! कह नहीं सकते कि उस दिव्य महासागरमें कितने अमूल्य भाव-रत्न पड़े हुए हैं। फिर यशोदा-सी माता और कृष्ण-सा पुत्र! इस वात्सल्य-वारिधिकी थाह कौन ला सकेगा?

यशोदाका हृदय स्वभावसे ही अत्यन्त स्निग्ध और कोमल है। प्यारा कन्हैया कबसे खेलने गया है। ऐं! अबतक नहीं लौटा! साथमें आज उसका दाऊ भी नहीं है। गाँवके लड़के उस छोटे-से कान्हको दौड़ा-दौड़ाकर थका डालेंगे। उन ऊधमी लड़कोंके साथ वह भोला-भाला नन्हा-सा कृष्ण खेलना क्या जाने? कहीं गिर न पड़ा हो, किसीने मार-पीट न कर दी हो, या कोई कहीं फुसलाकर न ले गया हो। बलराम भी नहीं देख पड़ता। किसे भेजूँ, क्या करूँ? न जाने, आज किसने मेरे लालको बहका लिया—

खेलनकों मेरो दूर गयौ।
संग-संग कहँ धावत ह्वैहै, बहुत अबेर भयौ॥

खैर, कहींसे खेलता-कूदता यशोदाका हृदय-दुलारा गोपाल आ गया। मातृ-स्नेहकी नदी उमड़ आयी। दौड़कर लालको गोदमें उठा लिया। बार-बार मोहनका मुँह चूमने लगी। भैया, आज कहाँ खेलने चले गये थे? तबके गये, मेरे लाल, अब आये! ये सब ग्वाल-बाल, न जाने, तुम्हें कहाँ-कहाँ दौड़ाते फिरे होंगे। सुना है कि आज वनमें एक 'हाऊ' आया है। तुम तो, भैया, नन्हे-से हो, कुछ जानते-समझते तो हो नहीं। लो, अपने इस सखासे ही पूछ लो कि वह कैसा हाऊ है—

खेलन दूर जात कित कान्हा?
आजु सुन्यौ, बन हाऊ आयौ, तुम नहि जानत नान्हा॥
यह लरिका अबहीं भजि आयौ, लेहु पूछि किन ताहि।
कान काटि वह लेतु सबनिके, लरिका जानत जाहि॥

मैं यों ही बक रही हूँ? कुछ सुनते ही नहीं! फिर वही ऊधम! क्यों, न मानोगे? अब रातको कहाँ चले? मेरा प्यारा बच्चा! साँझ हो गयी है, अब अँधेरेमें दौड़ना अच्छा नहीं। देखो, मान जाओ, बच्चा! क्या खेलनेको फिर सबेरा न होगा—

साँझ भई, घर आवहु प्यारे!
दौरत कहाँ, चोट लगिहै कहुँ, फेरि खेलियो होत सकारे॥

हलधर! तुम्हारा भाई कैसा ढीठ होता जाता है। किसीकी सुनतातक नहीं। कितना ही रोको, मानता ही नहीं। अब तुम्हीं बुलाओ। तुम्हारे ही बुलानेसे आयगा। मैं भी देखूँ, तुम दोनों कैसे खेलते हो। मेरे राजा बेटा, आओ, दोनों भाई मेरी आँखोंके ही सामने

कुछ देर यहीं खेलो । क्यों, आँखमिचौनी खेलोगे ? अच्छी बात है, वही खेलो—

बोलि लेहु हलधर, भैयाकों ।
मेरे आगे खेल करौ कछु, नैननि सुख दीजै मैयाकों ॥
हलधर कह्यौ, आँख को मूँदै ? हरि कह्यौ जननि जसोदा ।
सूरस्याम, लै जननि खेलावति हरषसहित मनमोदा ॥

× × × ×

सखी ! आज अपने यहाँ नन्द-नन्दन माखन-चोरी करने आये हैं । हम सबका आज अहोभाग्य ! देखो, कैसी चतुराईसे आप माखन ले-लेकर खा रहे हैं । श्रीदामाके कन्धेपर चढ़कर दहीकी मटकी भी आपने धीरेसे सींकेपरसे उतार ली है । श्यामसुन्दरकी यह छवि देखते ही बनती है, सखी ! धीरे-धीरे बात करो । कहीं गोपाललाल सुन न लें और पकड़ जानेके डरसे भाग जायँ । अरी ! ऐसे हृदयहारी चोरको कहीं घरसे भगाना होता है ? हे भगवन् ! नित्य ही यह प्यारा चोर हमारे घर माखन चुराने आया करे, और इस नवनीत-प्रियकी यह अनुपम शोभा निहार-निहारकर हम अपनी आँखें सिराया करें—

गोपालहि माखन खान दै ।
सुन री सखी कोऊ मति बोलै, बदन दही लपटान दै ॥

अरी, यह छवि बार-बार देखनेको तो मिलेगी नहीं । ओटमें हो, सखी, जी भरकर देख क्यों नहीं लेती, अहा !

गोपाल दुरे हैं माखन खात ।
देखि सखी, सोभा जु बनी है, स्याम मनोहर गात ॥
उठि अवलोकि, ओट ठाढ़ी ह्वै, क्यों न नयन-फल लेत ?
चकित चहूँ चितवत लै माखन, और सखनकों देत ॥

उस दिन खूब दही-माखन चुराया और खाया गया। फिर तो घर-घर यही लीला होने लगी। आज एक घरमें चोरी हुई, तो कल किसी दूसरेमें। अब तो यशोदारानीके पास नित्य नये उलाहने भी पहुँचने लगे। पर उन्हें इन चोरियोंपर विश्वास न हुआ। पाँच-साढ़े पाँच वर्षका बालक कहीं चोरी कर सकता है? यह सब बनायी हुई बातें हैं। कृष्णकी माखन-चोरीपर, लो, कैसे विश्वास किया जाय।

मेरो गोपाल तनिकसो,
कहा करि जानै दधिकी चोरी।
हाथ नचावति आवति ग्वालिनि, जो यह करै सो थोरी॥
कब छींके चढ़ि माखन खायो, कब दधि मटुकी फोरी।
अँगुरिन करि कबहूँ नहिं चाखतु, घर ही भरी कमोरी॥

ठीक है नन्द-रानी! ऐसा ही कहोगी! पर यह तो तुम जानती हो कि जिसे चोरीकी चाट लग जाती है उसे फिर घरके हीरे-मोती भी नहीं भाते? तुम्हारा यह पाँच वर्षका तनिक-सा गोपाल बड़ा नटखट है। हमें तो तुमसे न्यायकी आशा थी। क्या यही तुम्हारा न्याय है? तुम सरासर अपने लालका पक्ष ले रही हो। यही बात रही, तो फिर हम सब तुम्हारा गाँव छोड़कर किसी दूसरे गाँवमें जा बसेंगी। क्या तुम्हारी ही छत्र-छायामें सारा सुख है'

यशोदासे अब तो सहन न हो सका। क्रोध आ ही गया। हाथ पकड़कर कृष्णसे पूछने लगीं—इस ग्वालिनीका दही-माखन क्या तूने चुराकर खाया है? अरे, अपने घरमें क्या कुछ कमी थी, रे? सच-सच बोल, नहीं तो मारे थप्पड़ोंके तेरे गाल लाल कर दूँगी। उलाहने कहाँतक सुनूँ। एक-न-एक गूजरी नित्य उलाहना लिये आँगनमें खड़ी रहती है।

इसपर, अब, पाँच वर्षके बालकका जवाब सुनिये—

मैया मेरी, मैं नाहीं दधि खायौ।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि, मेरे मुख लपटायौ॥
देखि तुही, छींकेपर भाजन ऊँचे घर लटकायौ।
तुही निरखि, नान्हे कर अपने, मैं कैसे दधि पायौ॥

इसे कहते हैं चौर-चातुर्य !

मुख दधि पोंछि कहत नँद-नंदन, दौना पीठि दुरायौ।

तोतली वाणीमें दिया हुआ यह विदग्धता-पूर्ण उत्तर काम कर गया। यशोदाका क्रोधसे भरा हृदय करुणार्द्र हो गया। उलाहना लानेवाली गोपियोंकी भी आँखें स्नेहसे डबडबा आयीं। इतनेमें गोपालने ताली देकर हँस दिया। बस, फिर क्या—

डारि साँटि, मुसुकाय तबै गहि सुतकों कंठ लगायौ॥

अहोभाग्य ! अहोभाग्य !! धन्य व्रज-वासियो !

बाल-बिनोद-मोद मन मोह्यौ, भगति-प्रताप देखायौ।
'सूरदास' प्रभु जसुमतिके सुख सिव बिरंचि बौरायौ॥

× × × ×

एक दिन उस माखन-चोरपर बुरी बीती। ऊधमकी भी कोई हद होती है। लो, आज उस हठीले गोपालने सारा दही लुढ़का दिया, मथानीकी रस्सी तोड़ दी, छाछका मटका फोड़ डाला और माखन भी सब जूठा कर दिया ! यशोदा बेचारी कहाँतक गम खाय। इतनी सब शैतानी करके आप मैयाको खिराते हुए लम्बे भी हो गये। भागे तो बहुत, पर किसी तरह पकड़में आ गये। फिर क्या, बड़ी मार पड़ी। और ऊखलसे बाँध भी दिये गये। थप्पड़ोंसे गाल लाल हो गये, और कान भी उमेठे गये। बहुत रोये, बहुत चिल्लाये पर माताको नेक

भी दया न आयी। जो नित्य उलाहना देने आती थीं, वे ही गोपियाँ आज यशोदासे कह रही हैं—

यशोदा, तेरो भलो हियो है माई!
कमलनयन माखनके कारन बाँधे ऊखल लाई॥
जो संपदा देव-मुनि-दुरलभ, सपनेहु देइ न देखाई।
याही ते तू गरब-भुलानी, घर बैठे निधि पाई॥
सुत काहूको रोवत देखति, दौरि लेति हिय लाई।
अब अपने घरके लरिका पै इती कहा जड़ताई॥

इतनेमें कहींसे माखन-चोरके दाऊ आ पहुँचे। उन्हें देख गोपाल और भी हिलक-हिलककर रोने लगे। हलधरने स्नेहसे भैयाको गलेसे तो लगा लिया, पर माताके डरसे बन्धन न खोल सके। बलरामका गला भर आया, आँखें डबडबा आयीं, बोले—

मैं बरज्यो कै बार कन्हैया,
भली करी, दोउ हाथ बँधाये।

माताके चरणोंपर गिरकर बलराम हा-हा करने लगे—

स्यामहि छोड़ि, मोहि बरु बाँधै।

मैया, मेरे भैयाको छोड़ दे। बदलेमें तू मुझे बाँध ले। मेरे छोटे-से कन्हैयाने तेरा कितना दूध-दही फैला दिया है, जो तू उसे इतनी डाँट-दपट बता रही है? आज तेरा हृदय, री मैया, कैसा हो गया! इस हृदय-दुलारे प्यारे गोपालको बाँधकर आज तूने यह किया क्या है? अरी, तुझे माखन तो प्यारा हुआ और यह व्रजभरके प्राणोंका प्यारा, प्यारा न हुआ? आज तू पगली तो नहीं हो गयी है, मैया? छोड़ दे मेरे प्यारे गोपालको मैया!

बलरामका भी कितना ऊँचा वात्सल्य-प्रेम है! लोग तो यह कहते हैं कि उस दिन यमलार्जुन, जिनसे श्रीकृष्ण बाँधे गये थे, शाप-मुक्त

होकर आप ही गिर पड़े थे, पर मेरी समझमें तो यह आता है कि बलरामके प्रबलतम स्नेहने ही उन वृक्षोंको गिराकर कृष्णको बन्धन-विमुक्त किया था। वात्सल्य-प्रेम जो न करे सो थोड़ा।

आज अक्रूर, वस्तुतः क्रूर, के साथ राम और कृष्ण मथुराको प्रयाण कर रहे हैं। जिसने कभी हरि-हलधरकी जोड़ी आँखोंकी ओट नहीं की, वह यशोदा आज उन्हें मथुराकी ओर जाते हुए देखेगी! माताकी छाती फट रही है, आँखोंके आगे अँधेरा-सा छा रहा है, गला भर-भर आता है। इस व्रजमें आज कोई ऐसा हितू है, जो मेरे बच्चोंको, मेरे हियेके हीरोंको मथुरा जानेसे रोक रक्खे?

बरु ए गो-धन हरौ कंस सब, मोहि बंदि लै मेलौ।
इतनो ही सुख कमलनैन मो अँखियन आगे खेलौ॥
बासर बदन बिलोकति जीऊँ, निसि निज अंकम लाऊँ।
तेहि बिछुरत जो जिऊँ करमबस तौ हँसि काहि बुलाऊँ॥

पर वहाँ ऐसा कोई भी हितू न निकला। राम कृष्णने जानेकी तैयारी कर दी। मातासे विदा लेने आये। वात्सल्य-नदीका बाँध टूट गया। दोनों प्यारे बच्चोंको यशोदाने छातीसे लिपटा लिया। बेचारी यह क्या जाने कि विदा करते समय क्या कहना होता है। माताकी ममता कैसी होती है, इसका पता चञ्चल कृष्णको आज ही चला। किसी तरह धीरज बाँधकर यशोदा रोती हुई बोली—

मोहन, मेरी इतनी चित धरिये।
जननी दुखित जानिकै कबहूँ, मथुरा-गमन न करिये॥
यह अक्रूर क्रूर कृत रचिकैं तुमहिं लेन है आयौ।
तिरछे भये करमकृत मेरे, बिधि यह ठाट बनायौ॥
बार-बार 'मैया' कहि मोसों माखन माँगतु जौन।
'सूर' ताहि लैबेकों आयौ, करिहै सूनो भौन॥

पर निठुर राम और कृष्ण अपनी मैयाको बेसुध और भवनको सूना करके मथुराको प्रयाण कर ही गये ।

गये तो थे चार दिनकी कहकर, पर हो गये कई महीने ! सुध भी न ली ! कहाँके बाबा, और कहाँकी मैया ! कहाँ कौन कैसे है, कुछ याद भी न होगा । अब अपने सगे माता-पितासे भेंट हो गयी है न ! मैं तो उस निर्मोही गोपालकी एक धाय थी । उसने तो मुझे भुला दिया, पर मैं उस अपने लालको कैसे भूलूँ ? यह पथिक उधर ही तो जा रहा है । इसके द्वारा क्यों न महारानी देवकीकी सेवामें कुछ सँदेशा भेज दूँ । शायद उन्हें कुछ दया आ जाय, हृदय पसीज उठे और मेरे दुलारे कृष्णको दस-पाँच दिनके लिये यहाँ भेज दें——

सँदेसो देवकीसों कहियो ।
हौं तौ धाय तिहारे सुतकी, मया करत नित रहियो ॥
तुम तौ टेंव जानति ही ह्वैहौ, तऊ मोहि कहि आवै ।
प्रातहि उठत तुम्हारे लालहिं माखनरोटी भावै ॥
तेल उबटनो अरु तातो जल देखे ही भजि जाते ।
जोइ-जोइ माँगत सोइ-सोइ देती, क्रम-क्रम करि-करि न्हाते ॥
'सूर' पथिक ! सुनि मोहि रैनि-दिन बढ़ो रहतु जिय सोच ।
मेरो अलक लड़ैतो लालन ह्वैहै करत सँकोच ॥

मैं तो तुम्हारे पुत्रकी एक तुच्छ धाय हूँ । इस नातेसे मुझपर, आशा है, तुम दया-भाव ही रक्खोगी । है तो ढिठाई, पर, विश्वास है, तुम क्षमा कर दोगी । कृष्ण तुम्हारा जाया हुआ लड़का है । इससे उसका स्वभाव तो तुम जानती ही हो, तुमसे छिपा ही क्या है । पर उस गोपालका लड़कपन मेरी गोदमें बीता है । इससे मैं भी कुछ-कुछ उसकी प्रकृति पहचानती हूँ । मेरे——क्षमा करना मुझे 'मेरे' इस शब्दपर——मेरे लालको माखन-रोटी बहुत भाती है । सबेरे उठते ही

वह मुझसे मचल-मचलकर माखन-रोटी माँगा करता था । वहाँ वह संकोच करता होगा । इसलिये बिना माँगे ही मेरे कन्हैयाको तुम माखन-रोटी दे दिया करो । एक बात और है । उबटन, गरम जल और तेल-फुलेल देखते ही वह भाग जाता है । मैं तो उसे जो-जो वह माँगता, वही-वही देकर बड़े लाड़-प्यारसे पुचकार-पुचकारकर नहला दिया करती थी । सबसे बड़ी चिन्ता तो उसकी मुझे दिन-रात यह रहती है कि वह तुम्हारे यहाँ बात-बातमें संकोच करता होगा । मेरा गोपाल सचमुच बड़ा संकोची है ।

पथिक ! इतना और तुम महारानी देवकीसे जाकर कह देना कि—

तुम रानी बसुदेव-गिरहिनी, हम अहीर व्रज-बासी ।
पठै देहु मेरो लाल लड़ैतो, वारौं ऐसी हासी ॥

और, कृपाकर मेरे कन्हैयाके पास मेरी आसीस पहुँचा देना । वह राजदरबारमें बैठा हो, और शायद तुम्हें तुरंत न मिल सके; इससे कभी अवसर पाकर इतना तो उसे सुना ही देना—

कहियो स्याम सौं समुझाय ।
वह नातो नहिं मानत मोहन, मनौं तुम्हारी धाय ॥
एक बार माखनके काजैं राख्यौ मैं अटकाय ।
वाकौ बिलगु मानु मति मोहन, लागति मोहि बलाय ॥
बारहिं बार यहै लव लागी, कब लैहौं उर लाय ।
'सूरदास' यह जननी कौ जिय राखौ बदन दिखाय ॥

कहाँतक धीरज बाँधे रहूँ । लोग कितना ही समझायें कुछ समझमें आता नहीं । इस हत्यारे माखनको देखकर छातीमें एक शूल-सा उठता है । इसी माखनके पीछे इन हाथोंने—जल न गये ये दुष्ट हाथ—मेरे मोहनको, मेरे दुलारे गोपाललालको ऊखलसे कसकर

बाँध दिया था ! हाय ! उस दिनकी मेरे लालकी वे आँसुओंसे भरी हुई लाल-लाल आँखें आज भी इस अभागिनीकी अन्धी आँखोंमें कसक रही हैं। कह देना, पथिक, कि, भैया ! भूल जाओ अब उस दिनकी बात, और अपनी उस धायको अब भी एक बार अपना मुख-चन्द्र दिखाकर माफ़ कर आओ। हाय ! अब उसे कौन वहाँ बिना माँगे माखन-रोटी देता होगा। कौन मेरे प्यारे कृष्णको अब वहाँ हृदयसे लगा-लगाकर प्यार करता होगा। मुझ-जैसी माताके होते हुए भी आज उन बच्चोंको परदेशमें कितना अधिक कष्ट-होता होगा। पथिक ! तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, राम और कृष्णको इतना तो कृपाकर सुना देना——

कहियो पथिक जाय, घर आवहु रामकृष्ण दोउ भैया।
'सूरदास' कत होत दुखारी, जिनकी मो-सी मैया॥

× × × ×

उधरसे भी एक पथिक नन्दगाँवकी ओर जा रहा था। सो राम-कृष्णने उसके द्वारा नन्दबाबा और यशोदा मैयाको अपनी ओरसे यह कहला भेजा कि घबरानेको कोई बात नहीं, हम दोनों भाई अवश्य आकर आपके श्रीचरणोंका दर्शन करेंगे। सूरकी ही करुणामयी वाणीमें उस सँदेसेका सुनिये——

पथिक, सँदेसो कहियो जाय।
आवैंगे हम दोनों भैया, मैया जनि अकुलाय॥
याकौ बिलग बहुत हम मान्यो, जो कहि पठयो 'धाय'।
कहँलौं कीर्ति मानिये तुम्हरी, बड़ो कियौ पय प्याय॥
कहियो जाय नन्दबाबा सों, अरु गहि पकरौ पाय।
दोऊ दुखी होन नहिं पावैं, धूमरि धौरी गाय॥
जद्यपि मथुरा बिभव बहुत है, तुम बिनु कछु न सुहाय।
'सूरदास' ब्रज-बासी लोगनि भेंटत हृदय जुड़ाय॥

कहना कि मैया, माता भी कहीं 'धाय' कही जाती है ? यह तुमने कैसी अनुचित बात कहला भेजी है । इसका हमें सचमुच बड़ा बुरा लगा है । जिसने अपना दूध पिला-पिलाकर मुझे इतना बड़ा कर दिया, उस माताकी महिमा मैं कैसे कह सकता हूँ ? उस यशोदा मैयाकी पवित्र स्मृति मैं कैसे भुला सकता हूँ ? सच्ची माता तो मेरी, मैया, तुम्हीं हो । अपनेको 'धाय' कहकर क्यों मुझे पाप-भागी बना रही हो ? मुझ-जैसा अभागा आज कौन होगा, जिसने अपने बाबा और मैयाकी कुछ भी सेवा न कर पायी ? हा !

जा दिनतें हम तुमतें बिछुरे, काहु न कह्यौ 'कन्हैया'।
कबहूँ प्रात न कियौ कलेवा, साँझ न पीन्ही घैया ॥

× × × ×

आज उद्धव व्रजसे लौटकर आये हैं । श्रीकृष्णके आगे आपने तबके नहीं, अबके व्रजका सजीव चित्र खींचकर रख दिया । नन्द-नन्दन अपने बचपनका घर देखनेको अधीर हो उठे । उद्धवने भी बूढ़े बाबा और पगली मैयाको एक बार देख आनेका आग्रह किया । नन्द और यशोदाकी दशा क्या कहूँ, यदुराज ! कहना चाहूँ तो कह भी नहीं सकता—

नन्द-जसोदा मारग जोवत नित उठि साँझ सबारे ।
चहुँ दिसि 'कान्ह-कान्ह' करि टेरत अँसुवन बहत पनारे ॥

बाबा और मैयाकी यह दशा सुनते ही श्रीकृष्ण 'मैया, मैया' की रट लगाकर रोने लगे । मथुराधीश आज 'कन्हैया' बन जानेको व्याकुल हो उठे । माताकी वात्सल्य-रस-धारामें कलोल करनेकी उत्कण्ठा पल-पलपर बढ़ने लगी । उद्धवसे अधीर हो कहने लगे—

ऊधो, मोहि ब्रज बिसरत नाहीं ।
वृन्दाबन गोकुल तन आवत सघन तृननकी छाहीं ॥
प्रात-समय माता जसुमति अरु नंद देखि सुख पावत ।
माखन-रोटी-दही सजायौ अति हित साथ खवावत ॥

मित्र उद्धव ! यशोदा मैयाकी वह अनन्त स्नेहमयी गोद क्या मुझे अब कभी बैठनेको मिलेगी ? कहाँ गये वे दिन, जब मैं मचल-मचलकर अपनी मैयासे माखन माँगा करता था । सखा, आज मेरा मन व्रजकी ओर उड़-सा रहा है । ऐं ! मुझे क्या हो गया है, मित्र ! सँभालो, मुझे सँभालो । बाबा, मुझे वहीं बुला लो । मैया, मुझे अपनी गोदमें बिठा ले । नेक-सा माखन और दे, मेरी मैया ! हा !

जा दिनतें हम तुमतें बिछुरे, काहु न कह्यौ 'कन्हैया' ।

× × × ×

आज सूर्य-ग्रहण है पुण्य-क्षेत्र कुरुक्षेत्रपर इधरसे सब यादवों-समेत बलराम और श्रीकृष्ण और उधरसे गोप-गोपियों-सहित नन्दबाबा आये हैं । कैसा मणि-काञ्चन-योग अनायास प्राप्त हुआ है ! नन्द-यशोदाके सुख-सिन्धुकी थाह आज कौन ला सकता है । धन्य यह दिवस !

उमग्यौ नेह-समुद्र दसहुँ दिसि, परमिति कही न जाय ।
'सूरदास' यह सुख सो जानै, जाके हृदय समाय ॥

कृष्ण-बलरामने बाबा और मैयाका चरण-स्पर्श किया । पगली यशोदासे आसीस भी न देते बनी । स्नेहाधिक्यसे मूर्च्छित हो मैया गिर पड़ी । बलिहारी !

तेरी यह जीवन-मूरि, मिलहि किन माई ?
महाराज जदुनाथ कहावत, तेरो तौ वहि कुँवर कन्हाई ॥

मैयाके गलेसे लिपटकर कुँवर कन्हाई भी रोने लगे। मेरी मैया, तूने मुझे पहचाना नहीं क्या? अरी, मैं तेरा वही लाल हूँ। तू मुझे, मैया, व्रजसे माखन-मिश्री लायी है? लायी तो होगी, पर खिझा-खिझाकर देगी। मैया, तू तो बोलती भी नहीं—

अब हँसि भेंटहु, कहि मोहि निज सुत,
'बाल तिहारो हौं' नंद-दुहाई।

उस समयका वह मिलन-दृश्य जिस किसीने देखा होगा, उसके भाग्यका क्या कहना—

रोम पुलकि, गद्गद सब तेहि छिन,
जल-धारा नैननि बरसाई।

प्रेम-मूर्ति व्रज-वासी आनन्द-विह्वल हो कहने लगे—

हम तौ इतने ही सुख पायौ।
सुंदर स्याम कमल-दल-लोचन बहुरि सुदरस देखायौ॥
कहा भयौ जो लोग कहत हैं, कान्ह द्वारका छायौ।
महाराज ह्वै मात-पितहिं मिलि तऊ न ब्रज बिसरायौ॥

× × × ×

एक बार फिर यह दोहराना पड़ेगा कि वात्सल्य-स्नेहका सूर-जैसा भावुक और सच्चा चित्रकार न हुआ है, न होगा। सूरका वात्सल्य-वर्णन पढ़कर, मैं तो दावेके साथ कहता हूँ कि अत्यन्त नीरस हृदयमें भी स्नेह और करुणरसकी हिलोरें आन्दोलित होने लगेंगी। धन्य, सूर, धन्य! वास्तवमें '*तत्त्व तत्त्व सूरा कही*।' संगीताचार्य तानसेनकी इस उक्तिमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं है—

किधौं सूर कौ सर लग्यौ, किधौं सूरकी पीर।
किधौं सूर कौ पद लग्यौ, तन-मन धुनत सरीर॥

वात्सल्य और तुलसीदास

सूरकी तरह तुलसीने भी वात्सल्य-रसका अलौकिक आस्वादन किया और कराया है। सूरके बाद इस महारसके वर्णन करनेमें तुलसीका ही स्थान आता है। कहीं-कहीं तो ये दोनों महात्मा इस क्षेत्रमें समकक्ष प्रतीत होते हैं। जो हो, तुलसीका भी वात्सल्य-वर्णन बहुत उच्च, मनोमुग्धकारी तथा हृदयहारी हुआ है।

निम्नलिखित सुमधुर पद्य पढ़ या सुनकर किस सहृदयके दृग-मधुप श्रीरामललाका रूप-मकरन्द पान करनेके लिये लालायित न हो जायँगे—

पग नूपुर औ पहुँची कर-कंजनि, मंजु बनी मनि-माल हिये।
नवनीत कलेवर पीत झँगा झलकैं, पुलकैं नृप गोद लिये॥
अरबिंद-सो आनन, रूप-मरंद अनंदित लोचन भृंग पिये।
मनमें न बस्यो अस बालक जो 'तुलसी' जगमें फल कौन जिये॥
बर दंतकी पंगति कुंद-कली, अधराधर-पल्लव खोलनकी।
चपला चमकै घन बीच, जगै छबि मोतिन माल अमोलनकी॥
घुँघरारि लटैं लटकैं मुख ऊपर, कुंडल लोल कपोलनकी।
नेवछावरि प्रान करै 'तुलसी' बलि जाउँ, लला! इन बोलनकी॥

भक्तोंके मनोमन्दिरमें बसनेवाले इसी बाल-रूपका ध्यान भागवत-भूषण काकभुशुण्डि अहोरात्र किया करते हैं। विहगश्रेष्ठ गरुड़के आगे आपने अपने इष्टदेवकी महिमा एक बार इस प्रकार गायी थी—

इष्टदेव मम बालक रामा। सोभा बपुष कोटिसत कामा॥
पीत झीनि झिंगुली तन सोही। किलकनि चितवनि भावति मोही॥
रूप-रासि नृप-अजिर-बिहारी। नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी॥

लरिकाईं जहँ-जहँ फिरहिं, तहँ-तहँ संग उड़ाउँ।
जूठनि परइ अजिर महँ, सोइ उठाइ करि खाउँ॥

ऐसे शिशुकी जूठन उठा-उठाकर खानेको किसका मन न ललचायगा। ललचाया करे, पर मिलेगा तो वह भुशुण्डि-जैसे किसी विरले ही भाग्यवान्को।

महारानी कौशल्या अपने छोटे-छोटे चारों बच्चोंको दुलार-प्यार कर रही हैं। कहती हैं—कब मेरे लाल बड़े होंगे। कब मैं इन्हें बालकोंके अनुरूप आभूषण और वस्त्र पहनाकर इनका शृंगार करूँगी। कब, मेरे भैया! इस अँगनामें तुम सब ठुमक-ठुमककर दौड़ते फिरोगे? कब बोलने लगोगे, लाल! और मुझे तुतला-तुतलाकर 'माँ' कब कहोगे? वह सोनेकी घड़ी कब आयगी, जब मेरी ये अभिलाषाएँ पूरी होंगी—

ह्वैहौ, लाल, कबहिं बड़े, बलि मैया।
राम-लखन भावते भरत-रिपुदवन चारु चार्यौ भैया॥
बाल-बिभूषन-बसन मनोहर अंगनि बिरचि बनैहौं।
सोभा निरखि, निछावरि करि, उर लाइ वारने जैहौं॥
छगन-मगन अँगना खेलिहौ मिलि, ठुमुक-ठुमुक कब धैहौ?
कलबल बचन तोतरे मंजुल कहि 'माँ' मोहि बुलैहौ॥

कौशल्याकी मनोरथ-बेलि फूलने-फलने लगी। चारों राजकुमार सरयू-तीरपर खेलने-कूदने जाने लगे। कभी छोटी-छोटी धनुहियाँ लेकर लक्ष्य-वेध करते, कभी चौगान खेलते और कभी जल-क्रीड़ा किया करते। धन्य वह बाल-लीला!

बिहरत अवध-बीथिन्ह राम।
संग अनुज अनेक सिसु, नवनील नीरद स्याम॥
तरुन अरुन सरोज पद बनी कनकमय पद-त्रान।
पीतपट, कटितून बर, कर ललित लघु धनु-बान॥

लोचननि कौ लहत फल छवि निरखि पुर-नर-नारि।
बसत 'तुलसीदास'-उर अवधेसके सुत चारि॥

ऐसे हृदय-हारी बालक यदि मनमें न बसे, तो—

नर ते खर-सूकर-स्वान-समान, कहौ, जगमें फल कौन जिये ?

कैसे बालक ? सुनिये, ऐसे—

पद-पंकज मंजु बनी पनहीं, धनुहीं कर-पंकज बान लिये।
लरिका सँग खेलत-डोलत हैं सरजू-तट चौहट हाट हिये॥
'तुलसी' अस बालक सों नहिं नेह, कहा जप-जोग-समाधि किये।
नर ते खर-सूकर-स्वान-समान, कहौ, जगमें फल कौन जिये॥

× × × ×

माताका ज़रा स्नेह-प्लावित हृदय तो देखिये। राम अब शिशु या बालक नहीं हैं। युवावस्थामें प्रवेश कर चुके हैं। किन्तु माताके ममत्वपूर्ण नेत्रोंमें तो वह अब भी वही बालक हैं। वह यद्यपि भूख-प्यास साध सकते हैं, तथापि माताके स्नेह-भाव-भरित सरल हृदयमें खेलते हुए रामको प्रातःकाल ही कुछ कलेवा कर लेना चाहिये—

तात, जाउ, बलि, वेगि नहाहू। जो मन भाव, मधुर कछु खाहू॥
पितु-समीप तब जायहु, भैया। भइ बड़ि बार जाइ बलि मैया॥

विधाताकी वामगति कौशल्याके वात्सल्यको सहन न कर सकी। जिन रामको आज यौवराज्य दिया जा रहा था, वह मातासे अब वन-गमनकी आज्ञा लेने आये हैं! क्यासे क्या हो गया!

लिखत सुधाकर गा लिखि राहू!

प्रिय पुत्रका यह विनीत वचन सुनकर कि—

बरष चारि-दस बिपिन बसि, करि पितु-बचन प्रबान।
आय पाय पुनि देखिहउँ, मन जनि करसि मलान॥

कौशल्याकी जो दशा हुई उसे गोसाईंजीके ही हृदयस्पर्शी शब्दोंमें सुनिये—

बचन बिनीत मधुर रघुबरके । सर सम लगे, मातु-उर करके ॥
सहमि सूखि सुनि सीतल बानी । जिमि जवास परे पावस-पानी ॥
कहि न जाइ कछु हृदय-बिषादू । मनहु मृगी सुनि केहरि-नादू ॥
नयन सजल, तन थरथर काँपी । माँजहि खाइ मीन जनु माँपी ॥

पुत्र-वियोगके असह्य अवसरपर सूरने, यशोदा और तुलसीने कौशल्याके मनोगत भावोंको, प्रायः एक ही मर्मस्पर्शिनी वाणीद्वारा, प्रकट करनेका सफल प्रयास किया है । सुनिये प्यारे राम ! बिना तुम्हारे इस सूने घरमें, कहो, मैं कैसे रहूँगी ? अब किसे तो बार-बार छातीसे लगाऊँगी और किसे गोदमें बिठाकर 'लाल' कहूँगी । जिस आँगनमें, मेरे वत्स ! तुमने अपने सखाओंके साथ बाल-क्रीड़ा की, उसे देखकर और तुम्हारी बाल-क्रीड़ाका स्मरण कर, तुम्हीं बताओ, ये पापी प्राण इस शरीरमें कैसे रहेंगे ? जिन कानोंसे तुम्हारी मीठी-मीठी बातें सुनकर फूली न समाती थी, उन्हीं कानोंसे आज यह सुन रही हूँ कि 'माता ! मैं चौदह वर्षको वन-वास करने जा रहा हूँ ।' मुझसे भी बड़ी क्या कोई और अभागिनी होगी ? भैया, तुम्हारे मुख-कमलको बिना देखे जिस जीवनका एक क्षण एक युगके समान कटता है, अब उसीको मुझे तुम्हारे वियोगमें, हा ! वर्षों रखना पड़ेगा ! बलिहारी, मेरी इस प्रीतिपर !

राम, हौं कौन जतन घर रहिहौं ?
बार-बार भरि अंक गोद लै 'ललन' कौन सों कहिहौं ॥
इहि आँगन विहरत, मेरे बारे ! तुम जो संग सिसु लीन्हें ।
कैसे प्रान रहत सुमिरत सुत बहु विनोद तुम कीन्हे ॥
जिन्ह स्रवननि कल बचन तिहारे, सुनि-सुनि हौं अनुरागी ।
तिन्ह स्रवननि बन-गवन सुनति हौं, मोतें कौन अभागी ॥
जुग-सम निमिष जाहिं रघुनंदन, बदन-कमल बिनु देखे ।
जौ तनु रहै बरष बीते, बलि, कहा प्रीति इहि लेखे ॥

कुछ भी हो, होनहार होकर ही रही। अर्थात्—

सजि बन-साज समाज सब, बनिता बंधु समेत।
बंदि बिप्र-गुर-चरन प्रभु, चले करि सबहिं अचेत॥

× × × ×

और, महाराज दशरथका वात्सल्य-स्नेह? क्या कहना, वह तो संसारमें अनुपम है, अद्वितीय है। वास्तवमें—

जियन-मरन-फल दसरथ पावा।

जो प्राण-प्रिय राम किसी दिन अपने धूलि-धूसरित अङ्गोंसे दशरथकी गोद मैली करते थे, उन्हींका यह सन्देश लेकर आज मन्त्री सुमन्त्र अयोध्याको लौटा है—

करबि पाय परि बिनय बहोरी। तात, करिय जनि चिन्ता मोरी॥
बन-मग मंगल कुसल हमारे। कृपा अनुग्रह पुन्य तुम्हारे॥

जिन कानोंसे महाराज दशरथने कभी अपने प्यारे रमैयाके मीठे तोतले वचन सुने थे, उन्हीं कानोंसे उन्हें आज यह सुनना पड़ रहा है कि—

होत प्रात बट-छीर मँगावा। जटा-मुकुट निज सीस बनावा॥

सो, दशरथने प्रीतिकी परम मर्यादाकी रक्षा अपने प्राण-त्यागसे ही की। उन्हें यह अनुभव हो गया कि यदि पुत्रविरहकी अवधितक इन पापी प्राणोंको रखता हूँ, तो अवश्यमेव जगतीतलसे प्रीतिका नाम उठ जायगा और पवित्र वात्सल्य कलंकित हो जायगा—

ऐसे सुतके बिरह, अवधि लौं, जौ राखौं तन प्रान।
तौ मिटि जाय प्रीतिकी परमिति, अजस सुनौं निज कान॥

अतएव, मेरे पुनीत प्रेमकी प्रामाणिकता मेरे एक प्राणत्यागसे ही सिद्ध होगी। आपने किया भी वही। छटपटाते हुए, करवट बदलकर, बोले—

सो तनु राखि करब मैं काहा। जेहि न प्रेम-पनु मोर निबाहा॥
हा रघुनंदन प्रान-पिरीते। तुम्ह बिनु जियत बहुत दिन बीते॥

बस जो होना था वह होकर रहा। धन्य!

जियन-मरन-फल दसरथ पावा।

कैसा फल? ऐसा कि—

जियत राम-बिधु-बदन निहारा। राम-बिरह करि मरन सँवारा॥

तथैव—

जीवन-मरन सुनाम, जैसे दसरथरायको।
जियत खिलाये राम, राम-बिरह तनु परिहरेउ॥

सूरदास भी कह गये हैं—

प्रगट प्रीति दसरथ प्रतिपाली प्रीतमके बनबास।

धन्य, दशरथ! धन्य है तुम्हारे वात्सल्य-स्नेहको!

× × × ×

प्रिय पुत्रकी बाल-स्मृतिने आज कौशल्याको उन्मादिनी बना दिया है। एकके बाद एक स्मरण उनके हृदय-सागरमें तरङ्गकी भाँति उठ रहा है। कभी अपने प्यारे रमैयाकी छोटी-सी धनुहियाँ उठाकर छातीसे लगा लेती हैं, तो कभी अपने कुँवरकी प्यारी पनहियाँ आँखोंसे लगाती हैं! कभी बड़े सबेरे खाली पलंगके पास जाकर, पहलेकी तरह, प्यारसे कहती हैं—'भैया, उठो तुम्हारी माता तुम्हारे मुख-चन्द्रपर न्योछावर हो रही है। देखो, कबसे तुम्हारे साथ खेलनेको तुम्हारे छोटे भाई और सखा द्वारपर खड़े हैं।' और, कभी आप-ही-आप यह कहने लगती हैं कि—'भैया, खेलते-खेलते तुम्हें कितनी देर हो गयी है! अब पिताके पास जाओ, और अपने छोटे भाइयोंको बुलाकर जो अच्छा लगे सो सब साथ बैठकर कलेवा कर लो।' कैसे हृदयद्रावक करुण स्मरण हैं!

जननी निरखति बान-धनुहियाँ।
बार-बार उर नैननि लावति प्रभुजूकी ललित पनहियाँ॥
कबहुँ प्रथम ज्यों जाइ जगावति, कहि प्रिय बचन सबारे।
'उठहु तात, बलि मातु बदनपर, अनुज-सखा सब द्वारे॥'
कबहुँ कहति यों, 'बड़ी बार भइ, जाहु भूप पहँ भैया!
बंधु बोलि जेंइय जो भावै, गई निछावर मैया॥'

एक दिन, चित्रकूटकी ओर जाता हुआ एक पथिक मिल गया। बड़े स्नेहसे उसे पास बुलाकर महारानी कौशल्या कहने लगीं कि मेरे प्यारे रामसे और नहीं तो इतना तो कह ही देना कि—

राघव, एक बार फिरि आवौ!
ए बर बाजि बिलोकि आपने बहुरो बनहिं सिधावौ॥

यहाँ सूर और तुलसीका भाव-साम्य देखिये। सूरका एक पद है—

ऊधो, इतनी कहियो जाय।
अति कृसगात भई हैं तुम बिनु बहुत दुखारी गाय॥
जलसमूह बरसत अँखियनतें, हूँकति लीने नावँ।
जहाँ-जहाँ गो-दोहन कीनों, ढूँढ़ति सोइ-सोइ ठावँ॥

सूरने गायोंकी पर्यायोक्तिद्वारा वात्सल्य-रतिको प्रकट किया है, तो तुलसी भी वही स्वाभाविक स्नेह, घोड़ोंका स्मरण कराकर, व्यक्त कर रहे हैं। यहाँ भी वही बात है—

जे पय प्याइ पोखि कर-पंकज बार-बार चुचुकारे।
क्यों जीवहिं मेरे राम लाड़िले! ते अब निपट बिसारे॥

इन दोनों महाकवियोंके वर्णनोंमें, यहाँ, कैसा सुन्दर भाव-सादृश्य हुआ है! एक और भाव-साम्य देखिये। सूरकी दो मर्म-भेदिनी पंक्तियाँ हैं—

प्रात समय उठि माखन-रोटी को बिनु माँगे देहै?
को मेरे बालक कुँवर कान्ह कौ छन-छन आगो लेहै?

अब, तुलसीकी करुणामयी पंक्तियोंका इनसे मिलान करें—

को अब प्रात कलेऊ माँगत रूठि चलैगो, माई ।
स्यामतामरस नैन स्रवत जल काहि लेउँ उर लाई ॥

× × × ×

कौशल्या आदि माताओंकी वात्सल्य-रतिका एक सुन्दर दृश्य और देखते चलें । आज वनवासकी वह लम्बी अवधि समाप्त हुई है । लंकेश्वर-विजेता राघवोत्तम राम, वीर-श्रेष्ठ लक्ष्मण और मिथिलेश-नन्दिनी सीताका अयोध्यामें शुभागमन हुआ है । स्नेहोत्कण्ठिता माताओंकी मिलन-अधीरताका गोसाईंजीने जो चारु चित्रण किया है, वह कैसा स्वाभाविक और अनुपमेय हुआ है—

कौसल्यादि मातु सब धाईं । निरखि बच्छ जनु धेनु लवाईं ॥
जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृह, चरन वन परबस गईं ।
दिन-अन्त पुर-रुख स्रवत थन हुंकार करि धावत भईं ॥

गाय अभी हालहीमें बिआनी है । बछड़ेपर उसकी कितनी ममता है इसे कौन कह सकता है । बेचारी उसे एक क्षणको भी नहीं छोड़ना चाहती, पर उसका मालिक उसे घरसे जबरदस्ती वनमें चरनेको हाँक देता है । परवश चली जाती है । पर मनको बछड़ेके ही पास छोड़ देती है । ज्यों ही साँझ हुई कि गाँवकी ओर हूँकती हुई दौड़ी । थनोंसे दूध चू रहा है । प्यारे बछड़ेको चूमने-चाटनेको अधीर हो रही है । सामने काँटे हैं या कुआँ है, वह कुछ नहीं देखती । उसकी आँखोंमें तो उसका प्यारा वत्स ही समाया हुआ है । कैसा स्वाभाविक भाव-चित्रण है !

दिन-अन्त पुर-रुख स्रवत थन हुंकार करि धावत भईं ॥

माताओंने सोनेके थालोंसे लालोंकी आरती उतारीं । कौशल्याकी विचित्र दशा थी । बार-बार रणधीर रामकी बलैया लेती थीं । और,

बार-बार सोचती थीं कि—मेरे इन अति सुकुमार कुमारोंने ब्रह्माण्ड-विजयी रावण और उसके उद्भट पराक्रमी योद्धाओंको लंकाकी उस भीषण रणस्थलीपर कैसे मारा होगा।

हृदय बिचारति बारहिं बारा। कवन भाँति लंका पति मारा॥
अति सुकुमार जुगल मेरे बारे। निसिचर सुभट महा बल भारे॥

लड़का कितना ही बड़ा, कितना ही बली और कितना ही पराक्रमी क्यों न हो जाय, पर माताकी वात्सल्यमयी दृष्टिमें तो वह वैसा ही छोटा-सा बालक बना रहेगा। उसके सुकुमार लालने कैसा वीर्य और पराक्रम लंकाके विकट रणाङ्गणपर दिखाया है इसका उसे विधाता भी विश्वास नहीं करा सकता। वात्सल्य-स्नेह अतुलनीय और अकथनीय है।

× × × ×

केवल राम-वात्सल्यका ही गोसाईंजीने चारु चित्रण नहीं किया, उन्होंने नन्द-नन्दन कृष्णचन्द्रकी भी बाल-लीलाका सुधा-रस हमें पिलाया है। उनकी 'कृष्ण-गीतावली' के वात्सल्य-प्रेम-पूरित पदोंको पढ़कर किसे सूरकी विमल वाणीका मधुर रसास्वादन न मिल जाता होगा।

गोपियाँ नन्द-रानी यशोदाको बालकृष्णकी माखन-चोरीका उपालम्भ देने आयी हैं। पर जब चोरी की ही नहीं तब मैया मेरा क्या करेगी? कन्हैयाकी तनिक तोतली बातें तो सुनें—

मोकों झूठेहु दोष लगावैं।
मैया, इन्हैं बानि परगृह की, नाना जुगुति बनावैं॥

मैया, ये सब झूठा ही दोष लगा रही हैं। तू ही बता, भला, मैं माखन चुराऊँगा? इन सबको दूसरोंके घर जाकर उलाहना देनेकी

कुछ आदत-सी पड़ गयी है । अनेक युक्तियाँ बना-बनाकर, मैया ! ये तेरे आगे मेरी चोरी सिद्ध कर रही हैं । मैं इनके मोहल्लेमें खेलनेतक तो जाता नहीं फिर भी इनसे नहीं बचने पाता । स्वयं अपने हाथसे मटुकियाँ फोड़-फोड़कर और दूधमें हाथ बोर-बोरकर ये उलाहना देने आयी हैं । आप ही तो अपने लड़कोंको रुला देती हैं और नाम मेरा लगाती हैं ! किसी भी बहानेसे, मैया, इन्हें मेरे यहाँ आना चाहिये । करती तो आप हैं और मढ़ देती हैं मेरे मत्थे ! इनसे बातोंमें भला कौन जीत सकता है ? ये गोपियाँ एक बार ब्रह्माको भी अपनी वचन-चातुरीसे हरा देंगी । अच्छा दाऊसे तू पूछ ले कि मेरा कैसा स्वभाव है । अरी, मैं ऊधमी होता, तो भला, दाऊ मुझे अपने साथ खिलाते ? जो लड़के किसीके साथ कोई अन्याय करते हैं, वे मुझे खुद अच्छे नहीं लगते । उनके साथ मैं भूलकर भी नहीं खेलता । सो, मैया ! ये सब बिल्कुल झूठ कहती हैं । मैंने कभी इनका माखन नहीं चुराया—

इनके लिये खेलिबो छाड्यौ, तऊ न उबरन पावैं ।
भाजन फोरि, बोरि कर गोरस देन उरहनो आवैं ॥
कबहूँ बाल रोवाइ, पानि गहि, मिस करि उठि-उठि धावैं ।
करैं आपु, सिर धरैं आनके, बचन बिरंचि हरावैं ॥
मेरी टेव बूझि हलधरकों, संतत संग खिलावैं ।
जे अन्याय करैं काहू कौ, ते सिसु मोहि न भावैं ॥
सुनि-सुनि बचन-चातुरी ग्वालिनि हँसि-हँसि बदन दुरावैं ।
बाल-गोपाल-केलि-कलकीरति 'तुलसिदास' मुनि गावैं ॥

सख्य

परमात्माके प्रति सखा-भावका भी प्रेम धन्य है। सख्य-रसमें शान्त और दास्य दोनों रसोंका समावेश हो जाता है। भक्तके अन्तस्तलमें भगवान्‌के असीम गौरव और उनकी अनन्त कृपाका जो भाव उदित होता है वह शान्त रसको प्रकट करता है और जो सेवाकी भावना उसके हृदयतलमें उद्वेलित होती है उससे दास्य-रस व्यक्त होता है। और, विश्वासका तो सख्यमें प्राधान्य है ही। सख्यका पर्याय हृदयैक्य है। सखा, सखासे कोई भेद छिपा नहीं रखता। एक दूसरेसे परदा नहीं रखता। जिसको तन-मन और सर्वस्व सौंप दिया, जिसे अपने हृदयमें बसा लिया, उससे फिर किस बातका परदा रक्खा जाय? कहा भी है—

जेहिं 'रहीम' तन मन दियौ, कियौ हिये बिच भौन।
तासों सुख-दुख कहनकी रही बात अब कौन?

सहृदय सखासे अपने दोष और पाप कह देनेसे जी हलका हो जाता है। पर दिलकी सफ़ाई वहीं देनी चाहिये, जहाँ कोई दुविधा न हो। जबतक भेद-बुद्धि है, तबतक विश्वास कहाँ, और जहाँ विश्वास नहीं, वहाँ सुख-शान्ति कहाँ? अतः सख्य-भावमें विश्वास या अभिन्नत्व ही मुख्य है। भगवान् भी अपने अभिन्न मित्रसे कोई भेद छिपा नहीं रखते। मित्रके आगे आर गूढ़से भी गूढ़ रहस्य खोलकर रख देते हैं। मित्रवर अर्जुनसे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

हे पार्थ! यह वही प्राचीनतम योग मैंने तुमसे कहा है, क्योंकि तुम मेरे भक्त और सखा हो। यही योगशास्त्रका उत्तम रहस्य है। कैसा ही गोपनीय रहस्य हो, अभिन्नहृदय सखाको तो वह बताना ही पड़ेगा। भला, उससे कोई बात छिपी रह सकेगी ?

× × × ×

मित्रतामें ढिठाई न हो तो वह मित्रता ही क्या ? पर ढिठाई तो हमलोग आपसमें हा कर सकते हैं, परमप्रभु परमात्माके साथ ढिठाईका व्यवहार कैसे कर सकेंगे ? क्यों न कर सकेंगे ? जब उसे अपना एकमात्र मित्र मान लिया, जब उसके आगे अपना हृदय खोलकर रख दिया, तब संकोच या डर किस बातका रहा ? भले ही दूसरोंके लिये वह अखिल ब्रह्माण्ड-नायक हो, हम प्रेमियोंकी दृष्टिमें तो वह हमारा एक सखा ही है। वह हजरत तो हमारे साथ खूब ढिठाई किया करें, और हम उनके आगे सदा भीगी बिल्ली ही बने रहें ? वाह ! तो फिर खूब दोस्ती हुई! वह हमें छकाते रहें और हम उन्हें न छकायें—यह भी कोई बात है ? उस दिन शूरवर सूरदासने अच्छा ललकारा था—

आजु हौं एक-एक करि टरिहौं।
कै हमहीं, कै तुमहीं, माधव ! अपुन भरोसे लरिहौं ॥
हौं तौ पतित सात पीढ़िन कौ, पतितै ह्वै निस्तरिहौं।
अब हौं उघरि नचन चाहत हौं, तुम्हैं बिरद बिनु करिहौं ॥

सूरदासजी पहलेसे जरा चिढ़े हुए थे ? एक दिन बेचारे उस अन्धेकी आँखोंमें धूल डालकर आप चम्पत हो गये थे न ! इसीको तो बहादुरी और मर्दानगी कहते हैं। सूरने खूब सुनायी थी। उस दिन कहा था—

बाँह छुड़ाये जात हौ, निबल जानिकै मोहि।
हिरदै तें जब जाहुगे, मरद बदौंगो तोहि ॥

भक्तवर प्रेम-चक्षु बिल्वमंगलने भी इन वीर-शिरोमणि कृष्ण महाराज-को ठीक ऐसी ही चुनौती दी थी। उस गरीबको भी आपने अपने स्वभाव-सिद्ध कौशलसे एक दिन धोखा दिया था। भक्त कहता है—

हस्तमुत्क्षिप्य निर्यासि बलात् कृष्ण किमद्भुतम् ?
हृदयाद् यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते ॥

हे कृष्ण! इसमें आश्चर्य ही क्या है, जो तुम बलपूर्वक हाथ छुड़ाकर मुझसे परे चले गये। हाँ, यदि मेरे हृदयसे निकल जाओ, तो मैं तुम्हारी वीरता जानूँ। सुकवि देव भी समर्थन कर रहे हैं—

या तनतें बिछुरे तौ कहा, मनतें अनतें जु बसौ तब जानौं।

पर उनमें हृदयसे भाग जानेकी सामर्थ्य कहाँ है। प्रेमियोंके हृदय-भवनसे प्यारे कृष्णका निकल जाना कोई खेल नहीं है। दिल कोई मामूली क़ैदखाना तो है नहीं। प्रियतमको बाँध ले आनेके लिये तो प्रेमका एक कच्चा धागा ही काफ़ी होता है।

× × × ×

गोपाल कृष्ण एक दिन गोप-कुमारोंके साथ यमुनाके तटपर गेंद खेल रहे थे। खेलते-खेलते कृष्ण हार गये और श्रीदामा नामका एक बालसखा जीत गया। लो, हारते ही नन्दनन्दनको रिस आ गयी, और यमुनामें उसकी गेंद फेंककर उसे गालियाँ बकने लगे। कुछ भी हो जाय, मैं इसे हार तो न दूँगा। हें! एक मामूली ग्वालेका लड़का मुझसे हार लेगा! पर श्रीदामा यों माननेवाला न था। पकड़ लिया कन्हैयाका फेंटा और बोला—भैया हो! अब भाग न पाओगे। लाओ मेरी गेंद। मैं तो अपनी वही गेंद लूँगा, और तुम्हें देनी पड़ेगी। क्या हुआ जो तुम एक जागीरदारके लड़के हो। तुम अपने घरके राजा हो, तो हम भी अपने घरके राजा हैं। तुम्हारी छायामें तो हम कुछ बसते नहीं। क्या इसीसे

बड़ा अधिकार जता रहे हो कि तुम्हारे घरमें हमारे यहाँसे कुछ अधिक गायें हैं ? बड़े बने फिरते हो कहींके राजकुमार ! खबरदार, जो यहाँसे बिना गेंद और हार दिये आगे बढ़े । आँखें दिखाते हैं, वाह ! हाँ, सच तो कहते हैं, खेलमें कौन किसका स्वामी और कौन किसका सेवक ?

खेलतमें को काकौ गुसैयाँ ?
तुम हारे हरि, हम जीते तौ बरबस ही कत करत रिसैयाँ ॥
जाति-पाँति कछु हमते नाहीं, ना हम बसत तुम्हारी छैयाँ ।
अति अधिकार जनावत यातें, अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ ॥

श्रीदामा गहि फेंट कह्यौ, हम तुम इक जोटा ।
कहा भयौ, जो नंद बड़े तुम तिनके ढोटा ॥
खेलतमें कहा छोट बड़, हमहुँ महरके पूत ।
गेंद दिये ही पै बनै, छाड़ि देहु मद धूत ॥

मुझे तुम कोई और सखा तो समझ न लेना, मैं श्रीदामा हूँ, श्रीदामा ! समझे ? मुझसे तुम पार न पाओगे । गेंद-की-गेंद फेंक दी और ऊपरसे आप गरम पड़ते हैं ! बातों-बातों झगड़ा बहुत बढ़ गया । कृष्णने श्रीदामाको एकके बदले दो गेंदेंतक देनी चाहीं, पर वह न माना । अपनी ही गेंद लेनेपर अड़ गया । आखिर यह हुआ कि—

रिस करि लीनी फेंट छुड़ाई ।
सखा सबै देखत हैं ठाढ़े, आपुन चढ़े कदँबपर धाई ॥
तारी दै-दै हँसत सबै मिलि, स्याम गये तुम भाजि डराई ।
रोवत चल्यौ श्रीदामा घरकों, जसुमति आगे कहिहौं जाई ॥

यह बुरी बीती । मैयासे इस दुष्टने अब की शिकायत ! श्रीदामा ! भैया श्रीदामा ! लौट आओ, मैं तुम्हारी वही गेंद उठाये लाता हूँ । मैयासे न कहो, श्रीदामा !

'सखा, सखा !' कहि स्याम पुकार्‌यौ, गेंद आपुनी लेहु न आई ।
'सूरस्याम' पीताम्बर काछे, कूदि परे दहमें भहराई ॥

लो, श्रीदामा, अब तो हो गयी तुम्हारे मनकी ! कृष्णको कालीदहमें कुदाकर ही माने ! अब क्यों घबराते हो ? तुमने न कुछ गेंदके लिये अपने प्यारे गोपालको अथाह यमुनामें कुदा दिया। यह दुःखद समाचार फैलते ही हाहाकार मच गया। यशोदा और नन्द मूर्च्छित हो गिर पड़े। पर बलरामने धैर्य न छोड़ा। सबको आप खड़े-खड़े सान्त्वना देते रहे।

आश्चर्य ! यह क्या ! कालीदहसे इस महाविकराल सर्पको नाथे हुए यह कौन ऊपर आ रहा है ? अरे, यह तो हमारे प्यारे कृष्ण हैं। सहस्रों कमल-पुष्प भी यह उसी सर्पके मस्तकपर लाद लाये हैं। श्रीदामा सखाकी गेंद भी ढूँढ़-ढाँढ़कर ला रहे हैं। धन्य यह नटवर वेश !

आवत उरग नाथे स्याम।
नंद-जसुदा गोपि-गोपनि कहत हैं बलराम॥
मोर-मुकुट बिसाल लोचन, श्रवन कुंडल लोल।
पीतपट कटि, भेष नटवर, नृतत फनप्रति डोल॥
देव दिवि दुन्दुभि बजावत सुमन-गन बरसाय।
'सूरस्याम' बिलोकि ब्रजजन मात-पितु सुख पाय॥

× × × ×

आज यहाँ दौड़ होगी। देखें, कौन आजकी 'रेस' में बाजी मारता है। बलराम, कृष्ण, सुबल और सुदामाने होड़ लगायी है। तीन तो काफ़ी मज़बूत हैं, पर बलरामकी रायमें एक कृष्ण ही कमज़ोर हैं। सो, अपने छोटे भाईसे दाऊ बोले—भैया, तुम बैठ जाओ, तुम कहीं गिर पड़े और चोट लग गयी तो ठीक न होगा। लोग हमींको नाम धरेंगे। पर गोपालकृष्ण यों कब माननेवाले ? यह कैसे हो सकता है कि और तो सब दौड़ें और मैं यहीं बैठा देखता रहूँ ? मुझे कमज़ोर

कैसे मान लिया ? दाऊ, मैं किसीसे कम बलवान् नहीं हूँ । मैं दौड़ूँगा और सुदामासे बाजी मारूँगा—

तब कह्यौ, मैं दौरि जानत, बहुत बल मो गात ।
मोरी जोरी है सुदामा, हाथ मारे जात ॥

खैर, सुदामाके हाथपर हाथ मारकर आप दौड़ दौड़े । आगे हुए हरि और पीछे हुआ सुदामा । पकड़ लिया ललकारकर उस बहादुरने कृष्णको । कहो, और दौड़ोगे ? बोले, वाह ! मैं तो खुद ही खड़ा हो गया । फिर भी तुम मुझे छूते हो ! यह भी कोई छूना है ? इसमें भी कोई वीरता है ? भाईकी यह चतुराई-भरी बात सुनकर हलधरको भी हँसी आ गयी—

बीचहिं बोलि उठे हलधर तब, इनके माय न बाप ।
हारि-जीति कछु नैक न जानत, लरिकन लावत पाप ॥

छोटे भाई साहब हैं ! जो न करें सो थोड़ा । बेचारे बड़े सीधे हैं न ? इतना भी तो नहीं जानते कि क्या तो हार है और क्या जीत ! इन्हें अपने माँ-बापतकका तो पता है नहीं । अपनी इस सिधाईके ही कारण तो लड़कोंके माथे दोष मढ़ रहे हैं । बलिहारी, भैया, बलिहारी !

दाऊके ये व्यंग्यभरे वचन गोपालके हृदयमें बाणके समान चुभ गये । रोते हुए वहाँसे आप चल दिये । सखाओंके बहुत लौटानेपर भी न लौटे । आकर मैयासे दाऊकी उलटी-सीधी शिकायत जड़ ही तो दी—

मैया, मोहि दाऊ बहुत खिझायो ।
मोसों कहत, 'मोलको लीनों, तोहिं जसुमति कब जायो ?'

सो, मैया, अब मैं घरहीमें बैठा रहा करूँगा । मुझे गरीब और अनाथ समझकर, मैया, सभी खिझाते हैं । वात्सल्य-स्नेहमग्ना यशोदाकी

आँखें आँसुओंसे भर आयीं। अपने दुलारे कन्हैयाको छातीसे लगाकर बोलीं—मेरे प्यारे भैया!

सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत।
'सूरस्याम' मोहि गो-धनकी सौं, हौं जननी तू पूत॥

लाल, जाओ खेलो। बलरामको मैं समझा दूँगी। तुम्हारे वे दाऊ हैं। तुम्हें यों ही चिढ़ाते होंगे। तुम्हें वे प्यार भी तो खूब करते हैं।

× × × ×

दो पहर बीत। गये अब तो भूखके मारे रहा नहीं जाता। यशोदा मैया आज कैसी निठुर हो गयी है! अबतक छाक नहीं भेजा। दाऊ, मेरे तो गायें चराते-चराते पैर पिराने लगे हैं। चलो, हम सब इन कदम्बोंकी छायामें घड़ीभर बैठकर सुस्ता लें। अहा! कैसी घनी छाया है! क्या कहा, सुबल, कि छाक लेकर कोई आ रहा है? हाँ, आ तो रहा है। अरे भैया, चलो, पहले छाकपर हाथ दे लें, पीछे टेंटियोंको तोड़ें। लो, इन कमलके पत्तोंकी तो बना लें पत्तलें और ढाकके पत्तोंके दोने। तुम सबके बीचमें, श्रीदामा भैया, मैं बैठूँगा। ठीक है न?

'आई छाक', बुलाये स्याम।
यह सुनि सखा सबै जुरि आये, सुबल सुदामा अरु श्रीदाम॥
कमल-पत्र, दोना पलासके, सब आगे धरि परसत जात।
ग्वाल-मंडली-मध्य स्यामघन, सब मिलि भोजन रुचि करि खात॥
ऐसी भूख माँझ यह भोजन, पठै दियो करि जसुमति मात।
'सूरस्याम' अपनो नहि जेंवत, ग्वालन-कर तें लै-लै खात॥

कृष्ण, तू बड़ा जुटैला है। देखो, दाऊ, तुम्हारा भैया अपनी छाक तो खाता नहीं, मेरे मुँहसे छीन-छीनकर जूठी खा रहा है। और, यह देखो, अब मुँह बनाता है—

ग्वालन करतें कौर छुड़ावत ।
जूठो लेत सबनके मुख कौ, अपने मुख लै नावत ॥
षटरसके पकवान धरे सब, तिनमें नहिं रुचि पावत ।
हा हा करि-करि माँगि लेत है, कहत, मोहि अति भावत ॥

सुबल भैया, नेक अपनी दही तो दे । तेरे दोनेका दही बड़ा मीठा है, सखा ! हा हा ! मधुमंगल, तनिक महेरी और दे । ले, तू मेरी माखन-रोटी ले ले और मुझे अपनी महेरी दे दे ।

कैसा मनोरम दृश्य है । तनिक ध्यान तो करो—

बिभ्रद्वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे
वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु ।
तिष्ठन्मध्ये स्वपरसुहृदो हासयन्नर्मभिः स्वैः
स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग्बालकेलिः ॥

कमर पर कसे हुए पीताम्बरमें बाँसुरी खोंसे, बायीं बगलमें सींग और दाहिनी बगलमें बेंत दबाये, बायें हाथमें माखन-भातका कौर और अंगुलियोंके बीचमें टेंटीके फलोंको लिये नन्दनन्दन कृष्णचन्द्र, यज्ञ-भागके भोक्ता होनेपर भी, बालसखाओंके बीचमें बैठे स्वयं हँसते और उन्हें हँसाते हुए भोजन कर रहे हैं । और, इस सहभोज-लीलाको स्वर्गलोकके देवगण विस्मयपूर्वक देख रहे हैं । धन्य व्रज-वासियो, धन्य !

व्रज-बासी-पटतर कोउ नाहिं ।
ब्रह्म-सनक-सिव ध्यान न पावत, इनकी जूठनि लै-लै खाहिं ॥
हलधर कह्यौ, छाक जेंवत सँग, मीठो लगत सराहत जाहिं ।
'सूरदास' प्रभु जो बिस्वंभर, सो ग्वालनके कौर अघाहिं ॥

× × × ×

कौन कह सकता है कि इस सुन्दर सख्य-रसमें कितना माधुर्य भरा हुआ है ? इस रसको पीते ही भक्त ईश्वरकी ईश्वरताको भूलकर

उसके साथ ढिठाईका व्यवहार करने लग जाता है। प्रभुको मित्र कहकर पुकारने लगता है। कविवर रवीन्द्रने क्या अच्छा कहा है—

Drunk with the joy of singing, I forget myself and call Thee friend, who art my Lord!

नाथ! तेरे संगीतका आनन्द-रस पीकर मैं अपने आपको भूल जाता हूँ, और तुझे, जो मेरा स्वामी है, 'मित्र' कहकर पुकारने लगता हूँ!

अपने अनन्य सखा कृष्णके विराट् रूपसे भयभीत बेचारे अर्जुनने तो अपनी विगत धृष्टताओंके लिये उनसे क्षमायाचनातक की थी—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण! हे यादव! हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥

आपको अपना केवल एक मित्र समझकर 'अरे कृष्ण! ओ यादव! हे सखा!' इत्यादि भूलसे या प्यारसे, आपकी इस महामहिमाको बिना जाने, जो कुछ कह डाला हो; अथवा यदि मैंने हँसनेहँसानेके लिये कभी खेलमें, शय्यापर, बैठनेमें या भोजन करनेमें, हे अच्युत! आपके प्रति कोई अशिष्टतापूर्ण व्यवहार अकेलेमें अथवा अपने मित्रोंके सामने किया हो, हे अप्रमेय! उसके लिये आप कृपाकर मुझे क्षमा प्रदान करें।

खैर, अर्जुनने माफ़ी माँग तो ली, पर श्रीकृष्णके अतुल ऐश्वर्यमें उसका प्रेमी मन रमा नहीं। उनका अत्यन्त उग्ररूप देख और उनके प्रलयंकर मुखसे 'कालोऽस्मि' सुनकर बेचारा घबरा-सा गया। उसके हृदयकी वह सख्य-रसोत्पन्न शान्ति न जाने कहाँ चली गयी। भयसे काँपता हुआ, अन्तमें, बोला—

तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते !

हे सहस्रबाहो ! हे विश्वमूर्ते ! आप तो अब अपना वही सुचारु चतुर्भुज रूप फिर धारण कर लें। मेरा चञ्चल चित्त तो आपके उसी सुन्दर रूपमें रमता है। अर्जुनके मनकी बात पूरी हो गयी। विश्वमूर्ति परमात्मा चतुर्भुज श्यामसुन्दर कृष्णमें परिणत हो गया। भयातुर सखाका तब कहीं जीमें जी आया। ऐश्वर्य-गिरिसे उतरकर अर्जुन फिर माधुर्य-सरोवरमें अतृप्त अवगाहन करने लगा। बोला, वाह, यार, खूब छकाया ! मित्र,

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन !
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥

हे जनार्दन, तुम्हारा यह सुन्दर सरल मानवरूप देखकर अब कहीं मैं होशमें आया हूँ। महिमामय, तुम्हारी वह भी एक लीला थी, और यह भी एक लीला है। पर मैं तो, लीलामय, तुम्हारे इस माधुर्य-पूरित सख्य-रसका ही चिरपिपासु हूँ। मुझे तो 'भैया कृष्ण' कहनेमें जो अलौकिक आनन्द मिलता है, वह 'विश्वमूर्ति' कहनेमें प्राप्त नहीं होता। कुछ समझे, मेरे प्यारे सारथी ?

शान्त भाव

बिना विवेकके शान्ति कहाँ और बिना शान्तिके प्रेम कहाँ ! विरक्ति-रहित अनुरक्ति अपूर्ण है और अनुरक्ति-हीन विरक्ति निस्सार है । हम देहात्मवादियोंका जीवन तबतक कैसे प्रेमपूर्ण और आनन्दमय हो सकता है, जबतक हमने यह नहीं जान लिया कि क्या तो सत् है और क्या असत् ? साधारणतया हमलोगोंकी आसक्ति 'असत्' के ही साथ होती है । यही कारण है कि हम प्रेमके नामपर मोहको खरीद बैठते हैं । सत्के प्रति हमारा अनुराग होता ही कब है ? हमारी विवेकहीनता तो देखो—मोहमूलक आसक्तिको हमने प्रेम मान लिया है ! कहो, अब हमारे जर्जरीभूत हृदयमें शान्ति कहाँसे आये, उस मरुस्थलीपर प्रेम-धारा कैसे बहे । हमें अपनी मूढ़तापर कभी पश्चात्ताप भी नहीं होता ! नित्य ही सुनते हैं कि—

'मैं मैं' बड़ी बलाय है, सको तो निकसो भागि ।
कह कबीर, कबलगि रहै, रुई-लपेटी आगि ॥

फिर भी अहंताकी अशान्तिमें सुख मान रहे हैं, खुदीकी आगमें कूद-कूदकर खेल रहे हैं ! कैसे भूले हुए हैं हम इस अनन्त काम-काननमें ! यद्यपि कोई हमारे कानमें यह कह रहा है कि—

सुनहु, पथिक ! भारी, कुंज लागी दवारी ।
जहँ-तहँ मृग भागे, देखिए, जात आगे ॥
फिरत कित भुलाने, पाय है हैं पिराने ।
सुगम सुपथ जाहू, बूझिए क्यों न काहू ॥

—दीनदयाल गिरि

तो भी हम किसी जानकारसे उधर—उस प्रेम-नगरीकी ओर —जानेका मार्ग नहीं पूछते ! कैसे प्रवीण पथिक हैं हम ! अजी, मिल जायगा किसी दिन उधर जानेका कोई सीधा-सा रास्ता ! ऐसी क्या जल्दी पड़ी है। अजर-अमर हैं न हम ! हाँ, यह सुना ज़रूर है—

काल्ह करै सो आज कर, आज करै सो अब्ब ।
पलमें परलै होइगी, बहुरि करैगा कब्ब ॥
झूठे सुखको सुख कहै, मानत है मन मोद ।
जगत चबेना कालका, कुछ मुखमें, कुछ गोद ॥

—कबीर

अहो ! प्रकृतिका यह प्रलयंकर परिवर्तन !

आज गर्वोन्नत हर्म्य अपार,
रत्न-दीपावलि, मंत्रोच्चार;
उलूकोंके कल भग्न विहार,
झिल्लियोंकी होती झनकार !
दिवस-निसिका यह विश्व विशाल,
मेघ-मारुतका माया-जाल ।

—सुमित्रानन्दन पन्त

ओह ! क्या-से-क्या हो गया है ! हाय !

जिनके महलोंमें हज़ारों रंगके फ़ानूस थे,
झाड़ उनकी क़ब्रपर हैं औ निशां कुछ भी नहीं !

हम-जैसे समझदार इन चोटीली चेतावनियोंपर क्यों ध्यान देने चले ! सुनो, फिर कोई चेता रहा है—

था कौन-सा नख़्ल जिसने देखी न ख़िज़ां;
वह कौन-से गुल खिले, जो मुरझा न गये ।

—अनीस

और सुनो—

पानी महँ जस बुल्ला, तस यह जग उतराइ।
एकहि आवत देखिए, एक है जात बिलाइ॥

—जायसी

हाँ, यह तो प्रत्यक्ष सत्य है। तो अब क्या करें? ओह! पश्चात्तापकी यह भीषणाकृति मूर्ति!

आछे दिन पाछे गये, हरिसे किया न हेत।
अब पछताये होत क्या, चिड़ियाँ चुग गईं खेत॥

—कबीर

यह निराशा क्यों? अब भी कुछ समय है। प्रेम-पुरीतक हम अब भी पहुँच सकते हैं। उस 'सत्'को, उस आत्म-प्यारेको हम अब भी खोज सकते हैं। पर हमें मरजीवा होना पड़ेगा। क्योंकि उसे खोज निकालना हँसी-खेल नहीं। प्रेमी जायसीने कहा है—

कठु है पियकर खोज, जो पावा सो मरजिया।
तहँ नहिं हँसी न रोज, 'मुहमद' ऐसे ठावँ वह॥

ऐसा है उस प्यारे मालिकका मुकाम। न वहाँ हँसी है, न रोना; न जीना है, न मरना। कौन जाने, उसकी वह नगरी कैसी है। वह ऐसी कुछ बहुत दूर भी नहीं है। इस दिलके अन्दर ही तो है। मौजमें मारो तो ज़रा एक गोता—

'सुंदर' अंदर पैठि करि, दिलमें गोता मार।
तो दिलहीमें पाइये साईं सिरजनहार॥
सखुन हमारा मानिये, मन खोजै कहुँ दूर।
साईं सीने बीच है 'सुंदर' सदा हुजूर॥

ऐं! यह बात है! पढ़ा-सुना तो हमने कुछ और ही था। बड़े

धोखेमें रहे ! इल्मसे कुछ भी हासिल न कर सके । यह खूब रहा ! वाह !

हम जानते थे, इल्मसे कुछ जानेंगे;
जाना तो यह जाना, कि न जाना कुछ भी।

—ज़ौक़

× × × ×

यह देखो, हमारा हृदय-हारी राम रोम-रोममें रम रहा है । क्या खूब बहार है उसकी ललित लीलामें । आँखें बन्दकर तनिक देखो तो उस खिलाड़ीका नूर । अहा !

दूध माँझ जस घीव है, समुद माँझ जस मोति।
नैन मींचि जौ देखहु, चमकि उठै तस जोति॥

—जायसी

यह है वह ज्योति, यह है वह प्रकाश, जिसमें आत्म-स्वरूपका दर्शन होता है । इसी प्रेम-दीपकके उँजेलेमें ब्रह्म-जीवके बीचमें पड़ी हुई युगोंकी गाँठ खोली जा सकती है । क्या ही दिव्य प्रकाश है हमारे हृदय-रमण रामके प्रेमका ! इस प्रेम-ज्योतिपर क्या न्योछावर कर दें ! बोलो, इस प्यारे रामके चरणोंपर क्या भेंट चढ़ा दें ! अरे, चढ़ानेको बचा ही क्या है । यहाँ तो अपने आपका भी पता नहीं है। खूब खोजा और खूब पाया ! हाँ, और क्या कहें अब—

बहुत ढूँढ़ा उसे फिर भी न पाया,
अगर पाया, पता अपना न पाया।

—मीर

अकसर हम मौजमें कहा करते थे कि—

है इश्क़ वह शोला कि फुका जाता है तन-मन,
इस आगको भड़काके ख़ुदी मेरी जला दो।

—आसी

सो उस प्यारेने अपने प्रेमकी आग सचमुच ऐसी भड़का दी कि हमारा जितना कुछ 'असत्' था वह सब जलकर ख़ाक हो गया, हमारे 'मैं' तकका आज निशान न रहा। चलो, अच्छा हुआ। यही तो चाहते थे। अब निश्चिन्त हो खूब मौजमें रहेंगे। प्रेमका पखावज बजायँगे, हृदयकी वीणा छेड़ेंगे और अपने मस्ताने मनको नचायँगे—

करै पखावज प्रेमका, हृदै बजावै तार।
मनै नचावै मगन ह्वै, तिसका मता अपार॥

—मलूकदास

यह महाविषयी मन आज आत्मानन्द-सिन्धुमें कैसा निमग्न हो रहा है। बड़े मस्त हो रहे हैं आप। दिलके अन्दर यह उँजेला और यह रिमझिम फुहीं। देख-देखकर मस्तरामको अरे, आज यह क्या हो गया है—

बिन दामिनि उँजियार अति, बिन घन परत फुहार।
मगन भयो मनुवाँ तहाँ, रूप निहार-निहार॥

—दयाबाई

प्यारेकी प्रेम-नगरीमें जाकर यह हज़रत मस्त हो नाचेंगे नहीं, तो करेंगे क्या? वह मुक़ाम ही ऐसा है। वह धाम ही ऐसा है।

यह तो हम कह ही चुके हैं कि आज हमें अपने आपका भी पता नहीं है। प्रेमकी आगने हमारा सब कुछ जलाकर ख़ाक कर दिया है। न वह तन है, न वह मन है, और न मेरा वह 'मैं' है। लोग पूछेंगे, तो फिर पहचाने कैसे जाते हो? पहचान तो हमारी साफ़ है। जिसने हमें लापता कर दिया है, हमें खो दिया है, उसी किसीके नामसे हम पहचान लिये जाते हैं—

तुम्हारे नामसे सब लोग मुझको जान जाते हैं।
मैं वह खोई हुई इक चीज़ हूँ, जिसका पता 'तुम' हो॥

सिवा इसके हम अपना पता और क्या बता सकते हैं? हम-जैसे मस्तरामोंका पता और क्या हो सकता है, भाई! 'गोकुलगाँवको पैंड़ोहि न्यारो' है। आत्मदर्शी सुन्दरदासजीने क्या अच्छा कहा है—

द्वंद बिना विचरैं बसुधापर, है घट आतम-ग्यान अपारो।
काम न क्रोध, न लोभ न मोह, न राग न द्वेष, न म्हारु न थारो॥
जोग न भोग, न त्याग न संग्रह, देह-दसा न ढँक्यौ न उघारो।
'सुन्दर' कोउ इक जानि सकै, यह गोकुलगाँवको पैंड़ोहि न्यारो॥

प्रेम-मस्तको हज़ारोंमें कोई एक पहचान सकेगा।

× × × ×

बिना सच्ची लगनके यह जीव इस दशाको नहीं पहुँच पाता। स्वरूप-दर्शन और प्रियतम-मिलन प्रेम-साधनासे ही सम्भव है। पर होनी चाहिये वह लगन सीधी और सच्ची। तीर वह जो वारसे पार हो जाय। जायसीने, अखरावटमें, कहा है—

प्रेम-तंतु तस लाग रहु, करहु ध्यान चित बाँधि।
पारधि जैस अहेर कहँ, लाग रहै सर साधि॥

शिकारी जैसे कमानपर तीर चढ़ाकर अपने शिकारपर नजर बाँधे बैठा रहता है, वैसे ही लौ लगाकर अपने प्रियतमका ध्यान करो। अचूक लगनसे उसे अपनी ओर खींच लो। ऐसी ही लगन विरही जीवको प्रेममयी शान्तिसे मिला सकती है। सदा एकरस रहनेवाली लौ ही हमें उस प्राण-प्यारेका दर्शन करा सकती है, मायाका परदा हटाकर आनन्दमयी

आत्मासे मिला सकती है। पर लौ लगायी जाय, तब न ? मर तो रहे हैं हम कौंचकी किरचोंपर और चाहते हैं उस अनमोल कोहनूरको ! झूठी चीजोंसे जब बिछोह हो जाता है, तब सिर मार-मारकर रोने लगते हैं ! कैसे भ्रममें पड़ रही है हमारी मन्द बुद्धि ! यह बुद्धिरूपी चकई उस सरोवरको तो जाती नहीं, जहाँ प्रिय-वियोगका नाम भी नहीं है। राँड यहाँ रोती फिरती है !

चल चकई, वा सर-विषय, जहँ नहिं रैनि-बिछोह।
रहत एकरस दिवस ही, सुहृद-हंस-संदोह ॥
सुहृद-हंस-संदोह, कोह अरु क्रोध न जाके।
भोगत सुख-अंबोह, मोह-दुख होय न ताके ॥
बरनै 'दीनदयाल', भाग्य बिन जाय न सकई।
प्रिय-मिलाप नित रहै, ताहि सर चलि तू चकई ॥

महात्मा सूरदास भी अपनी बुद्धि-चकईको कुछ ऐसा ही उपदेश दे रहे हैं—

चकई री ! चल चरन-सरोवर, जहाँ न प्रेम-बियोग।
निसिदिन 'राम-राम' की वर्षा, भय रुज नहिं दुख-सोग ॥

वह आत्मानन्दका सुन्दर सरोवर है। उसमें भगवान्‌के चरण-कमल सदा विकसित रहते हैं। वियोगकी रात्रि वहाँ कभी होती ही नहीं। सदैव प्रेमका प्रकाश रहता है। न वहाँ भय है, न रोग। न दुःख है, न शोक। प्यारेके प्रेमरसकी सदा ही वर्षा हुआ करती है। अमृतकी नहर उसी सरोवरसे निकली है। सो, चकई ! तू तो उसी सरोवरको चल ! धन्य वह सरोवर !

जेहि सर सुभग मुक्ति-मुक्ताफल, सुकृत-अमृत-रस पीजै।
सो सर छाड़ि कुबुद्धि बिहंगम ! यहाँ कहा रहि कीजै॥

आत्म-शान्ति ही जीवनका एकमात्र साध्य है। केवल कर्म अथवा केवल ज्ञानके द्वारा इस 'स्वाराज्य-सुख' की प्राप्ति सम्भव नहीं। प्रेममूलक सक्रिय ज्ञानके द्वारा ही हमें आत्म-शान्तिका लाभ होगा। शान्तरसात्मक प्रेम ही बिछुड़ी हुई आत्माको परमात्मासे मिलायगा। असत्से सत्की ओर हमें शान्तरति ही ले जायगी। सो, भैया ! अब होशियार हो जाओ। कुछ खबर है, कबके पड़े सो रहे हो? जागो, जागो, अपने खास धनकी चोरी न करा लो, प्यारे राहगीर !

राही ! सोवत इत कितै, चोर लगैं चहुँपास।
तो निज धनके लेनकों गिनैं नींदकी स्वास॥
गिनैं नींदकी स्वास, बास बसि तेरे डेरे।
लिए जात बनि मीत माल ये साँझ-सबेरे॥
बरनै 'दीनदयाल', न चीन्हत है तू ताही।
जाग, जाग, रे, जाग, इतै कित सोवत, राही॥



मधुर रति

मधुररतिके सम्बन्धमें क्या तो कहा जाय और क्या लिखा जाय। हम-जैसे विषयी और पामर जीव इस परमरसके अधिकारी नहीं। सुना है कि प्रेम-रसका पूर्ण परिपाक मधुर रतिमें ही हुआ है। इसे सर्व प्रेमरतियोंका समन्वय कहा है। 'भक्तियोग' में लिखा है कि जिस प्रकार आकाशादि महाभूतोंके गुण क्रमसे, अर्थात् अन्य भूतोंमें उत्तरोत्तर बढ़कर एक, दो, तीन क्रमसे, पृथिवीमें पाँचों भूतोंके गुण हैं, उसी प्रकार मधुर रसमें भी सब रस आकर मिल जाते हैं। जीवात्मा और परमात्माका रस-सम्बन्ध इस परमरतिमें पराकाष्ठाको पहुँच जाता है। जीव-ब्रह्मका यह दिव्य दाम्पत्यभाव हमारे अन्यतम अनुभवका विषय है। सत्य, शिव और सुन्दरका साक्षात्कार इसी रति-भावके द्वारा होता है। आत्माकी वह कितनी मधुमयी और रस-मयी अवस्था होगी, प्यारे! जिसमें 'रसो वै सः' की प्रत्यक्षानुभूति हो जाती होगी! प्रेमी और प्रिय, भक्त और भगवान्‌का नित्य सम्मिलन सतत संयोग कितना मधुर और कितना आनन्द-प्रद न होगा! अहा! वह नित्य-विहार! वह मधुर मधु! वह परमरस! वहाँ तृप्ति कैसी और अतृप्ति कैसी!

'धरनी' पलक परै नहीं, पियकी झलक सुहाय।
पुनि-पुनि पीवत परमरस, तबहूँ प्यास न जाय॥

उस 'पिय' की झलक जिसे मिल गयी, उसके सुहागका कुछ पार! प्रियमें अनन्य भावका पूर्ण अनुभव प्राप्त कर लेना क्या कोई साधारण साधन है? जब उस प्यारेकी प्रीति किसी तरह अन्तस्तल-

में बिधकर पैठ जाती है, तब फिर वही-वही चराचर जगत्में रमा हुआ दिखायी देता है—

प्रीति जो मेरे पीवकी पैठी पिंजर माहिं।
रोम-रोम पिव-पिव करै, 'दादू' दूसर नाहिं॥

उस 'एकमेवाद्वितीयम्' प्यारेके नव मिलनमें द्वैतकी कल्पना कैसे हो सकती है ? प्रेमकी इस परमावस्थामें ही जीवात्माको पतिव्रता सतीकी उपमा दी जाती है। सन्तोंने उसे सुहागिल भी कहा है। ऐसी जीवात्मा ही प्राणेश्वर प्रियतमकी लाड़ली है—

सोइ सुहागिल नारि, पिया-मन भावई।
अपने पियको छोड़, न पर-घर जावई॥
नवधा-वस्तर पहिरि, दया-रँग लाल है।
प्रेमके भूषन धारि, विचित्तर बाल है॥
मंदिर दीपक बारि, बिन बाती घीवकी।
सुघर, नेह-गुन-रासि, लाड़ली पीवकी॥

कैसा सुन्दर शृङ्गार किया है इस विचित्र बालाने ! क्यों न वह अपने पियाकी प्राणप्यारी हो। कितना भारी अन्तर है इस जीवात्म-कान्तामें और लहँगा-साड़ी पहननेवाले सखीभावके स्त्रीरूपी जनखेमें ! दिव्य कान्त-कान्ता-भावकी ओटमें सांसारिक शृङ्गारियोंने कैसा मलिन और विकारी विषय-भाव व्यक्त किया है। हमारे प्रेम-साहित्यका अधिकांश, दुर्भाग्यसे, चुम्बन-आलिंगनकी रह:केलियोंसे ही भरा पड़ा है। क्या कहलाना चाहते हो उस भ्रान्त भावनाके सम्बन्धमें। उधरकी ओर हमारी विचार-धारा प्रवाहित ही न हो, भगवन् ! कहाँ तो यह साधारण बाह्य शृङ्गार-भाव और कहाँ वह असाधारण दिव्य मधुरतम प्रेम ! कहाँ यह तुम्हारा काम-विलासमय नायक-नायिका निरूपण और कहाँ उस घट-घट-विहारी रमण और उसकी अन्तस्तल-विहारिणी

रमणीका नित्य-विहार ! सन्तवर सुन्दरदासने एक साखीमें कहा है—

जो पिय कौ व्रत लै रहै, कंत-पियारी सोइ ।
अंजन-मंजन दूरि करि 'सुंदर' सनमुख होइ ॥

धन्य है उस सुहागिनी सतीको !

जरै पियाके साथ, सोइ है नारि सयानी ।
रहै चरनचित लाय एकसे, और न जानी ॥
जगत करै उपहास, पियाका संग न छोड़ै ।
प्रेमकी सेज बिछाय, मेहरकी चादर ओढ़ै ॥
ऐसी रहनी रहै, तजै जग-भोग-बिलासा ।
मारै भूख पियास, याद सँग चलती स्वासा ॥
रैन-दिवस बेहोस, पियाके रँगमें राती ।
तनकी सुधि है नहीं, पिया सँग बोलत जाती ॥
'पलटू' गुरुकी दयातें, किया पिया निज हाथ ।
सोई सती सराहिए, जरै पियाके साथ ॥

प्यारेकी लगनकी आगमें जो अपनी खुदीको जला देती है, जिसकी लौ उसी एकके चरणोंमें लगी रहती है, वही पतिव्रता है, वही सुहागिनी है, वही सती है । दुनियाँ उसका मज़ाक उड़ाती है, पर वह उसपर कोई ध्यान नहीं देती । कुछ भी हो, वह अपने प्रियतमका साथ छोड़नेवाली नहीं । प्रेमकी सेज सजाकर वह लगनकी लहरसे अपने साईंको सदा रिझाती रहती है । उसकी रहनीका क्या पूछते हो । तुम्हारे संसारी भोग-विलासोंसे उसे क्या मतलब है । वहाँ कहाँकी भूख और कहाँकी प्यास । उसकी साँस भी तभीतक जानो, जबतक उसे अपने प्राणेश्वरकी याद है । वह दिन-रात मौजकी मस्तीमें डूबी रहती है । प्यारेके रंगमें रँगी रहती है । उससे पूछते क्या हो—उसे अपनी देहतककी तो सुध है नहीं । वह कुछ न कहेगी । बोलेगी भी, तो

अपने प्यारेके ही बुलानेपर बोलेगी। ऐसी परमानुरागिणी सती क्यों न उस प्रियतमको अपने हाथमें कर ले ?

× × × ×

ज़रा उस विरहिणी सतीकी अपने स्वामीसे मिलनेकी तड़प तो देखो—

बिरहिनि रहै अकेलि, सो कैसे कै जीवै हो।
जेकरे अमी कै चाह, जहर कस पीवै हो॥
अभरन देहु बहाय, बसन दै फारौ हो।
पिय बिन कौन सिँगार, सीस दै मारौ हो॥
भूख न लागै नींद, बिरह हिय करकै हो।
माँग सेंदुर मसि पोंछ, नैन जल ढरकै हो॥
कापर करै सिँगार, सो काहि दिखावै हो।
जेकर पिय परदेस, सो काहि रिझावै हो॥
रहै चरन चित लाय, सोइ धन आगर हो।
'पलटूदास' कै सबद बिरह क सागर हो॥

जिसके घायल कलेजेमें बार-बार प्रेमकी हूक उठ रही हो, विरह-की चोट कड़क रही हो, वह सती बिना अपने जीवन-धनके कैसे जीवित रह सकती है ? उसके लिये कहाँके तो भूषण-वसन और कहाँका सुहाग-सिंगार। यह सब तो उसकी नज़रमें ज़हर है। प्रेम-पीयूषकी प्यास, भला, भोग-विलासोंके विषसे शान्त हो सकती है ? धन्य है उस सतीको, जो सदा अपने स्वामीके चरणोंमें ही लौ लगाये रहती है, उससे मिलनेको, मछलीकी तरह, तड़पा करती है।

मधुररति-उन्मादिनी जीवात्मा कहती है कि मेरा प्रियतम मुझसे दूर नहीं है, जो सँदेसा भेजकर उसे बुलाती फिरूँ। यह विरहोन्माद तो मेरी लगनका एक रंग है, मेरी मस्तीकी एक लहर है—

प्रीतमको पतियाँ लिखूँ, जो कहुँ होय बिदेस।
तनमें, मनमें, नैनमें, ताको कहा सँदेस॥

—कबीर

कवीन्द्र रवीन्द्रके शब्दोंमें वह विरहिणी कहती है—

Come to my heart and see
His face in tears of my eyes.

अर्थात्—

हिय घुसि ताकौ रूप विलोकौ छलकत अँसुअन मेरे,
जीवन-धन मम प्रान-पियारो सदा बसतु हिय मेरे।

वह कहती है कि मैं उसे बुलाने नहीं जाती, वही मुझे बुला रहा है। पर मैं कैसे जाऊँ! कैसे उस प्यारेके पैर जा पकड़ूँ!

यार बुलावै भावसों, मोपै गया न जाय।
धन मैली पिउ ऊजला, लागि न सक्कूँ पाय॥

—कबीर

यह सच है कि वह मेरे हृदय-मन्दिरमें रम रहा है, मेरी आँखोंमें नाच रहा है, पर उससे मिलना बड़ा कठिन है। कैसे मिलूँ अपने प्यारे रामसे?

नैहर बास बसा पीहरमें, लाज तजी नहिं जाय।
अधर भूमि जहँ महल पियाका, हम पै चढ़ा न जाय॥

—कबीर

तेरे पास मेरा पहुँचना कठिन है, इससे अब तू ही यहाँ आ जा। तनका यह मैल तेरे ही नूरमें दूर होगा। बलिहारी, प्यारे, बलिहारी!

तेज तुम्हारा कहिए, निरमल काहे न लहिए।
'दादू' बलि-बलि तेरे, आव पिया तू मेरे॥

जिस प्रकार यह सती उस प्रियतमसे मिलनेको अत्यन्त अधीर है, उसी प्रकार वह भी इसे प्रेमपूर्वक भेंटनेको अत्यन्त आतुर हो रहा है। पारस्परिक प्रेमका कैसा सुन्दर चित्रण है। दोनों एक दूसरेपर बलि हो रहे हैं। यह उसकी तसवीर है और वह इसकी तसवीर है। खूब !

उठ गया परदा दुईका, दरमियाँसे देख ले,
अब तेरी तसवीर मैं हूँ, तू मेरी तसवीर है।

—अहमदी

कभी यह दीपक है और वह पतंगा, तो कभी वह दीपक है और यह पतंगा—

मैं कभी हूँ शमा, परवाना है तू,
तू कभी है शमा, परवाना हूँ मैं।

—अहमदी

× × × ×

बोलो, तुम्हें क्या कहके पुकारूँ ? और अपना भी आज क्या नाम रख दूँ ? क्या तुम मेरे इस पागलपनेके प्रलापको पसन्द करोगे, प्रियतम ? क्या ? यही कि—

तुम मृदु मानसके भाव और मैं मनोरंजिनी भाषा।
तुम नंदन-वन-घन-विटप, और मैं सुख-शीतल तल शाखा॥
तुम प्राण और मैं काया।
तुम शुद्ध सच्चिदानंद ब्रह्म, मैं मनोमोहिनी माया॥
तुम प्रेममयीके कंठहार, मैं वेणी कालि नागिनी।
तुम कर-पल्लव-झंकृत सितार, मैं व्याकुल विरह-रागिनी॥
तुम पथ हो, मैं हूँ रेणु।
तुम हो राधाके मन-मोहन, मैं उन अधरोंकी वेणु॥

तुम पथिक दूरके श्रांत, और मैं बाट-जोहती आशा।
तुम भव-सागर दुस्तार, पार जानेकी मैं अभिलाषा॥
तुम नभ हो, मैं नीलिमा।
तुम शरद-सुधाकर-कला-हास, मैं हूँ निशीथ-मधुरिमा॥
तुम गंध-कुसुम-कोमल-पराग, मैं मृदुगति मलय समीर।
तुम स्वेच्छाचारी मुक्तपुरुष, मैं प्रकृति-प्रेम-जंजीर॥
तुम शिव हो, मैं हूँ शक्ति।
तुम रघुकुल-गौरव रामचंद्र, मैं सीता अचला भक्ति॥

—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

× × × ×

उस विश्व-रमणकी हृदय-वल्लभा रमणी प्रेमोन्मत्त हो जब यह मधुमय गीत गाती है, तब समस्त प्रकृति मधुर रसके अगाध सागरमें डूब जाती है। उस समय नित्य विहारका यह मधुर संगीत जगत्के अणु-परमाणुमें व्याप्त हो जाता है—

लुटै आत्म-सरबसु उमँगै तहँ प्रेम-पयोधि अपार
जल-थल-नभ मधुमय ह्वै जावै, झरै सुधाकर-सार॥

ब्रह्म और जीवात्माका यह सरस विहार ही नित्य है और सब अनित्य है। सभी कुछ नाशवान् है, केवल यह मधुर मिलन ही अविनश्वर है—

चंद्र घटै, सूरज घटै, घटै त्रिगुन-बिस्तार।
दृढ़व्रत हित हरिबंसकौ घटै न नित्यबिहार॥

इस विहारकी अनन्य अधिकारिणी तो, बस, व्रजाङ्गनाएँ ही थीं। क्षमा करें वाह्य शृङ्गारोपासक सहृदय सज्जन-वृन्द, मैं प्रेममूर्ति गोपिकाओंकी मधुरा रतिको किसी और ही प्रकाशमें देखता हूँ। मेरा उन रसिकोंसे गहरा मत-भेद है। किस चित्रकारमें सामर्थ्य है, जो व्रज-

गोपियोंके अलौकिक प्रेमका यथार्थ चित्र खींच सके। धन्य है उनके प्रेम-व्रत-साधनको !

जो व्रत मुनिवर ध्यावहीं, पै पावहिं नहिं पार।
सो व्रत साध्यौ गोपिका, छाड़ि बिषय-बिस्तार॥

—सूर

तभी तो रसखानिने उनकी प्रीतिकी यहाँतक सराहना की है—

जदपि जसोदा नंद अरु, ग्वाल-बाल सब धन्य।
पै या जगमें प्रेमकौं गोपी भईं अनन्य॥

नन्ददासजीने भी खूब कहा है—

नाद अमृत कौ पंथ रँगीलो सूच्छम भारी।
तेहि मग ब्रज-तिय चलैं, आन कोउ नहिं अधिकारी॥
सुद्ध प्रेममय रूप, पंचभूतनतें न्यारी।
तिन्हें कहा कोउ कहै, ज्योति-सी जगत-उज्यारी॥

हरिश्चन्द्रने भी गोपिका-महिमा गाकर अपनी सरसा रसना कृतार्थ की है—

गोपिनकी सरि कोऊ नाहीं।
जिन तृन-सम कुल-लाज-निगड़ सब तोर्‍यो हरि-रस माहीं॥
जिन निजबस कीने नँदनंदन, बिहरीं दै गलबाहीं।
सब संतनके सीस रहौ उन चरन-छत्र की छाहीं॥

पगली, परदेको तोड़ दे। पियाको देखना चाहती है तो घूँघटका पट खोल दे। अहंकारका आवरण हटा दे। खुदीका कुर्ता फाड़कर फेंक दे। सुन—

तोकों पीव मिलैंगे घूँघटका पट खोल, री।
जोग-जुगुति सों रंगमहलमें पिय पायो अनमोल, री॥

—कबीर

तेरे हाथमें आज अनायास ही अनमोल हीरा आ गया है। उसे यों ही न खो दे, पगली ! तू कहा करती थी न कि—

जो अब प्रीतम मिलै, करूँ मैं निमिष न न्यारा।

सो वह प्राण-प्यारा अब मिल तो गया। पर उससे तू परदा क्यों कर रही है ? वह तुझे अपना दीदार दे तो रहा है। बेख़ुदी की मस्तीमें डूबकर उसे भेंट क्यों नहीं लेती ? क्यों सो रही है अबतक ? देखती नहीं, तेरा प्राण-प्यारा स्वामी कबसे तेरे पास खड़ा है ?

तू मति सोवै, री परी, कहौं तोहि मैं टेरि।
सजि सुभ भूषन बसन, अब पिया-मिलनकी बेरि॥
पिया-मिलनकी बेरि, छाड़ि अजहूँ लरिकापन।
सूधे दृगसौं हेरि, फेरि मुख ना, दै तन-मन॥
बरनै 'दीनदयाल' छमैगो चूकन हूँ पति।
जागि चरनमें लागि, सुहागिन ! सोवै तू मति॥

तुझे क्या ख़बर कि वह तुझे कितना प्यार करता है ! क्यों नहीं लूट लेती उसके मधुर प्रेमका ख़ज़ाना ? वह लुटा तो रहा है। न जाने तेरी नींद कब जायगी और कब अपने प्रियतमके दीदारका मीठा-मीठा रस पियेगा। हाय, हाय !

तू सुख सूती नींद भरि, जागै तेरा पीव।
क्यों करि मेला होइगा, जागै नाहीं जीव॥

—दादूदयाल

इससे, एक बार फिर तुझे चेतावनी दी जाती है—

जागि चरनमें लागि, सुहागिन ! सोवै तू मति।



अव्यक्त प्रेम

हिरदै भीतर दव बलै, धुवाँ न परगट होय।
जाके लागी सो लखै, की जिन लाई सोय॥

—कबीर

लगनकी आगका धुआँ कौन देख सकता है। उसे या तो वह देखता है, जिसके अन्दर वह जल रही है या फिर वह देखता है, जिसने वह आग सुलगायी है। भाई, प्रेम तो वही जो प्रकट न किया जाय। सीनेके अन्दर ही एक आग-सी सुलगती रहे, उसका धुआँ बाहर न निकले। प्रीति प्रकाशमें न लायी जाय। यह दूसरी बात है कि कोई दिलवाला जौहरी उस प्रेमरत्नके जौहरको किसी तरह जान जाय। वही तो सच्ची लगन है जो गलकर, घुलकर हृदयके भीतर पैठ जाय; प्यारेका नाम मुँहसे न निकलने पाय, रोम-रोमसे उसका स्मरण किया जाय। कबीरदासकी एक साखी है—

प्रीति जो लागी घुल गई, पैठि गई मन माहिं।
रोम-रोम पिउ-पिउ करै, मुखकी सरधा नाहिं॥

प्रेम-रसके गोपनमें ही पवित्रता है। जो प्रेम प्रकट हो चुका, बाज़ारमें जिसका विज्ञापन कर दिया गया, उसमें पवित्रता कहाँ रही? वह तो फिर मोल-तोलकी चीज़ हो गयी। कोविद-वर कार्लाइल कहता है—

Love unexpressed is sacred.

अर्थात्, अव्यक्त प्रेम ही पवित्र होता है। जिसके जिगरमें कोई कसक है, वह दुनियामें गली-गली चिल्लाता नहीं फिरता। जहाँ-तहाँ पुकारते तो वे ही फिरा करते हैं, जिनके दिलमें प्रेमकी वह रस-भरी हूक नहीं उठा करती। ऐसे बने हुए प्रेमियोंको प्रेमदेवका दर्शन कैसे हो सकता है? महात्मा दादूदयाल कहते हैं—

अंदर पीर न ऊभरै, बाहर करै पुकार।
'दादू' सो क्योंकरि लहै, साहिबका दीदार॥

किसीको यह सुनानेसे क्या लाभ कि मैं तुम्हें चाहता हूँ, तुम-पर मेरा प्रेम है? सच्चे प्रेमियोंको ऐसी विज्ञापनबाज़ीसे क्या मिलेगा? तुम्हारा यदि किसीपर प्रेम है, तो उसे अपनी हृदय-वाटिकामें ही अंकुरित, पल्लवित, प्रफुल्लित और परिफलित होने दो। जितना ही तुम अपने प्रियको छिपाओगे, उतना ही वह प्रगल्भ और पवित्र होता जायगा। बाहरका दरवाज़ा बन्द करके तुम तो भीतरका द्वार खोल दो। तुम्हारा प्यारा तुम्हारे प्रेमको जानता हो तो अच्छा, और उससे बेख़बर हो तो भी अच्छा। तुम्हारे बाहरके शोरग़ुलको वह कभी पसन्द न करेगा। तुम तो दिलका दरवाज़ा खोलकर बेख़बर हो बैठ जाओ। तुम्हारा प्यारा राम ज़रूर तुम्हें मिलेगा—

सुमिरन सुरत लगाइकै, मुखतें कछू न बोल।
बाहरके पट देइकै, अंतरके पट खोल॥

—कबीर

प्रीतिका ढिंढोरा पीटनेसे कोई लाभ?

जो तेरे घट प्रेम है, तौ कहि-कहि न सुनाव।
अंतरजामी जानि हैं, अंतरगतका भाव॥

—मलूकदास

तुम तो प्रेमको इस भाँति छिपा लो, जैसे माता अपने गर्भस्थ बालकको बड़े यत्नसे छिपाये रहती है, जरा भी उसे ठेस लगी कि वह क्षीग हुआ—

जैसे माता गर्भको राखै जतन बनाइ।
ठेस लगै तौ छीन हो, ऐसे प्रेम दुराइ॥

—गरीबदास

प्रेमका वास्तविक रूप तुम प्रकाशित भी तो नहीं कर सकते। हाँ, उसे किस प्रकार प्रकाशमें लाओगे? प्रेम तो गूँगा होता है। इश्क़को बेज़ुबान ही पाओगे। ऊँचे प्रेमियोंकी तो मस्तानी आँखें बोलती हैं, जुबान नहीं। कहा भी है—

Love's tongue is in the eyes.

अर्थात्, प्रेमकी जिह्वा नेत्रोंमें होती है। क्या रघूत्तम रामका विदेहनन्दिनीपर कुछ कम प्रेम था? क्या वे मारुतिके द्वारा जनक-तनयाको यह प्रेमाकुल सन्देश न भेज सकते थे कि 'प्राणप्रिये! तुम्हारे असह्य वियोगमें मेरे प्राण-पक्षी अब ठहरेंगे नहीं; हृदयेश्वरी! तुम्हारे विरहने मुझे आज प्राण-हीन-सा कर दिया है?' क्या वे आजकलके विरह-विह्वल नवल नायककी भाँति दस-पाँच लम्बे-चौड़े प्रेम-पत्र अपनी प्रेयसीको न भेज सकते थे? सब कुछ कर सकते थे, पर उनका प्रेम दिखाऊ तो था नहीं। उन्हें क्या पड़ी थी जो प्रेमका रोना रोते फिरते! उनकी प्रीति तो एक सत्य, अनन्त और अव्यक्त प्रीति थी, हृदयमें धधकती हुई प्रीतिकी एक ज्वाला थी। इससे उनका सँदेसा तो इतनेमें ही समाप्त हो गया कि—

तत्त्व प्रेमकर मम अरु तोरा। जानत, प्रिया, एक मन मोरा॥
सो मन रहत सदा तोहि पाहीं। जानि प्रीति-रस इतनेहि माहीं॥
—तुलसी

इस 'इतनेमें' ही उतना सब भरा हुआ है, जितनेका किसी प्रीति-रसके चखनेहारेको अपने अन्तस्तलमें अनुभव हो सकता है। सो, बस—

जानि प्रीति-रस इतनेहि माहीं।

प्रीतिकी गीति कौन गाता है, प्रेमका बाजा कहाँ बजता है और कौन सुनता है, इन सब भेदोंको या तो अपना चाह-भरा चित्त जानता है या फिर अपना वह प्रियतम। इस रहस्यको और कौन जानेगा?

सब रग ताँत, रबाब तन, बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुनि सकै, कै साईं, कै चित्त॥
—कबीर

जायसीने भी खूब कहा है—

हाड़ भये सब किंगरी, नसैं भई सब ताँति।
रोम-रोम तें धुनि उठै, कहौं बिथा केहि भाँति॥

प्रेम-गोपनपर किसी संस्कृत-कविकी एक सूक्ति है—

प्रेमा द्वयो रसिकयोरपि दीप एव
हृद्व्योम भासयति निश्चलमेव भाति।
द्वारादयं वदनतस्तु बहिर्गतश्चे-
न्निर्वाति दीपमथवा लघुतामुपैति॥

दो प्रेमियोंका प्रेम तभीतक निश्चल समझो, जबतक वह उनके

हृदयके भीतर है। ज्यों ही वह मुखद्वारसे बाहर हुआ, अर्थात् यह कहा गया कि 'मैं तुम्हें प्यार करता हूँ' त्यों ही वह या तो नष्ट हो गया या क्षीण ही हो गया। दीपक गृहके भीतर ही निष्कम्प और निश्चल रहता है। द्वारके बाहर आनेपर या तो वह क्षीण-ज्योति हो जाता है या बुझ ही जाता है। वास्तवमें, पवित्र प्रेम एक दीपकके समान है। इसलिये चिरागेइश्क़को, भाई, जिगरके अन्दर ही जलने दो। उस अँधेरे घरमें ही तो आज उँजेलेकी ज़रूरत है।

उस प्रियतमको पलकोंके भीतर क्यों नहीं छुपा लेते? एक बार धीरेसे यह कहकर उसे, भला, बुलाओ तो—

आओ प्यारे मोहना! पलक झाँपि तोहि लेउँ।
ना मैं देखौं और कों, ना तोहि देखन देउँ॥

आँखोंकी तो बनाओ एक सुन्दर कोठरी और पुतलियोंका बिछा दो वहाँ पलंग। द्वारपर पलकोंकी चिक भी डाल देना। इतनेपर भी क्या वह हठीले हजरत न रीझेंगे? क्यों न रीझेंगे—

नैनोंकी करि कोठरी, पुतली-पलँग बिछाय।
पलकोंकी चिक डारिके, छिनमें लिया रिझाय॥

—कबीर

जब वह प्यारा दिलबर इस तरह तुम्हारे दर्द-भरे दिलके अन्दर अपना घर बना लेगा, तब तुम्हें न तो उसे कहीं खोजना ही होगा और न चिल्ला-चिल्लाकर अपने प्रेमका ढिंढोरा ही पीटना होगा। तब उस हृदय-विहारीके प्रति तुम्हारा प्रेम नीरव होगा। वह तुम्हारी मतवाली आँखोंकी प्यारी-प्यारी पुतलियोंमें जब छुपे-छुपे अपना डेरा जमा लेगा, तब उसका प्यारा दीदार तुम्हें ज़र्रे-ज़र्रेमें मिलेगा। घट-

घटमें उसकी झलक दिखायी देगी। प्रेमोन्मत्त कवीन्द्र रवीन्द्र, सुनो, क्या गा रहे हैं—

My beloved is ever in my heart.
That is why I see him everywhere.
He is in the pupils of my eyes;
That is why I see him everywhere.

अर्थात्—

जीवन-धन मम प्रान-पियारो सदा बसतु हिय मेरे,
जहाँ बिलोकैं, ताकैं ताकौं, कहा दूरि कहा नेरे।
आँखिनकी पुतरिनमें सोई सदा रहै छबि घेरे,
जहाँ बिलोकैं, ताकैं ताकौं, कहा दूरि कहा नेरे॥

—कृष्णविहारी मिश्र

अपने चित्तको चुरानेवालेका ध्यान तुम भी एक चोरकी ही तरह दिलके भीतर किया करो। चोरकी चोरके ही साथ बना करती है। जैसेके साथ तैसा ही बनना पड़ता है। कविवर विहारीका एक दोहा है—

करौ कुबत जगु, कुटिलता तजौं न, दीनदयाल।
दुखी होहुगे सरल हिय बसत, त्रिभंगी लाल॥

संसार निन्दा करता है तो किया करे, पर मैं अपनी कुटिलता तो न छोड़ूँगा। अपने हृदयको सरल न बनाऊँगा, क्योंकि हे त्रिभंगी लाल! तुम सरल (सीधे) हृदयमें बसते हुए कष्ट पाओगे। टेढ़ी वस्तु सीधी वस्तुके भीतर कैसे रह सकती है? सीधे मियानमें कहीं टेढ़ी तलवार रह सकती है? मैं सीधा हो गया तो तीन टेढ़वाले तुम मुझमें कैसे बसोगे? इससे मैं अब कुटिल ही अच्छा! हाँ तो अपनी प्रेम-साधनाका या अपने प्यारेके ध्यानका कभी किसीको पता

भी न चलने दो, यहाँकी बात ज़ाहिर कर दो, यहाँके पट खोल दो; पर वहाँका सब कुछ गुप्त ही रहने दो, वहाँके पट बन्द ही किये रहो। यह दूसरी बात है कि तुम्हारी ये लाचार आँखें किसीके आगे वहाँका कभी कोई भेद खोलकर रख दें।

प्रेमको प्रकट कर देनेसे क्षुद्र अहंकार और भी अधिक फूलने-फलने लगता है। 'मैं प्रेमी हूँ'—बस, इतना ही तो अहंकार चाहता है। 'मैं तुम्हें चाहता हूँ'—बस, यही ख़ुदी तो प्रेमका मीठा मज़ा नहीं लूटने देती। ब्रह्मात्मैक्यके पूर्ण अनुभवीको 'सोऽहं, सोऽहं' की रट लगानेसे कोई लाभ? महाकवि ग़ालिबने क्या अच्छा कहा है—

क़तरा अपना भी हक़ीक़तमें है दरिया, लेकिन।
हमको तक़लीदे तुनक ज़र्फ़िये मंसूर नहीं॥

मैं भी बूँद नहीं हूँ, समुद्र ही हूँ—जीव नहीं, ब्रह्म ही हूँ—पर मुझे मंसूरके-ऐसा हलकापन पसन्द नहीं। मैं 'अनलहक़' कह-कहकर अपना और ईश्वरका अभेदत्व प्रकट नहीं करना चाहता। जो हूँ सो हूँ, कहनेसे क्या लाभ। सच बात तो यह है कि सच्चा प्रेम प्रकट किया ही नहीं जा सकता। जिसने उस प्यारेको देख लिया वह कुछ कहता नहीं और जो उसके बारेमें कहता फिरता है, समझ लो, उसे उसका दर्शन अभी मिला ही नहीं। कबीरकी एक साखी है—

जो देखै सो कहै नहिं, कहै सो देखै नाहिं।
सुनै सो समझावै नहीं, रसना दृग श्रुति काहिं॥

इसलिये प्रेम तो, प्यारे, गोपनीय ही है।



मातृ-भक्ति

मेरे कुछ आदरणीय मित्रोंकी शायद ऐसी धारणा है कि प्रेमके इस अनुपमेय अंगपर मैं अपने कुछ निजी विचार प्रकट कर सकता हूँ। क्षमा करें मेरे सहृदय सुहृद्वर, मेरे विषयमें उनका यह सबसे भारी भ्रम सिद्ध होगा। इस कृतघ्नता-पूर्ण नीरस हृदयमें मातृ-भक्तिके लिये कदाचित् ही किञ्चित् स्थान हो। हाँ, यह जाननेकी चेष्टा मैं अवश्य कर रहा हूँ कि क्या मातृ-भक्ति ही प्रेम-रसकी मुख्य निर्झरी है। एक धुँधली-सी याद आती तो है उन चरणोंकी, पर कहूँ क्या, लिखूँ क्या! यह तो प्रायः स्पष्ट है कि उन श्रीचरणोंका ध्यान-चित्र इस जीवनमें तो अङ्कित न हो सकेगा। मेरे मित्र मुझसे उस चित्राङ्कणकी आशा कृपाकर न करें तो अच्छा। इस पतित पामरसे वह पवित्र साधना किसी प्रकार न सध सकेगी।

हाँ, एक दिन, अनजानमें, ये शब्द अवश्य मुखसे निकल गये थे—

> प्रकृति पुरुषकी एकता, माता गुरू अभेद।
> जाके मन यह भावना, जानत सोइ सत वेद॥
> जन-वत्सलता, कृपा, श्री, पराप्रकृति मम मात।
> ज्ञान, विवेक, स्वरूप हरि, सतगुरु जग-विख्यात॥

माता ही प्रकृति है और गुरु ही पुरुष है। जन-वत्सलता भी माताका एक पवित्र नाम है, जैसे ज्ञान वा सद्विवेक गुरुका एक सुन्दर नाम है। माताकी प्रत्यक्षानुभूति भगवत्कृपाके सात्त्विक रूपमें उसी प्रकार हो सकती है, जिस प्रकार गुरुका प्रत्यक्ष दर्शन आत्माके शुद्धरूपमें किया जा सकता है। इसी प्रकार माता-

को हम श्री कहेंगे और गुरुको हरि। माता पराप्रकृति है और गुरु परम पुरुष। जैसे, अन्तमें प्रकृति और पुरुषमें कोई भेद नहीं रह जाता, वैसे ही माता और गुरुमें भी 'अभेद' स्थापित हो जाता है। ऐसा कुछ अनुभवमें आता है कि यह अभेद ही 'कैवल्य' है। कहना चाहो, तो कह लो इस आयँ-बायँ-सायँको हम-जैसे पागलोंका सांख्यदर्शन।

एक बार फिर कहूँगा कि माता ही हरि-कृपा है और हरि-कृपा ही माता है। गोसाईं तुलसीदासजी भी तो इस सिद्धान्तका समर्थन कर रहे हैं—

कबहुँक, अंब! अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी कछु करुन-कथा चलाइ॥

माँ! कभी मौक़ा मिले तो मेरी भी श्रीरामचन्द्रजीको याद दिला देना। पहले कोई करुणाका प्रसंग छेड़ देना; बस, फिर सब बात बन जायगी। एक तो यों ही माता अनन्त करुणामयी होती है, तिसपर 'अम्ब' का सरल सम्बोधन और 'कछु करुन-कथा चलाइ' इन शब्दोंकी वेगवती करुणा-तरङ्गिणी! क्या अब भी प्रभु-का हृदय द्रवीभूत न होगा? क्या अब भी कृपा न करेंगे श्रीजानकी-जीवन?

× × × ×

धन्य है वह हृदय, जिसमें श्रद्धा-जलसे सिञ्चित मातृ-भक्तिकी लता सदैव लहलही रहती है! धन्य हैं वे नेत्र, जो नित्यप्रति माताके आराध्य चरणोंपर अश्रुमुक्ताओंकी माला चढ़ाया करते हैं! उस करुणामयीके और भी तो अनेक सुन्दर नाम हैं, पर उसके बच्चोंको तो 'माँ' नाम ही अधिक आह्लाददायी है। वैसे तो वर्ण-मालाका प्रत्येक अक्षर उस आनन्दमयी अम्बाका नाम है, किन्तु

'माँ' शब्दकी दिव्य मधुरिमाकी समता कौन कर सकेगा ? 'माँ! तू हमारी माँ है'—केवल इस भावनामें ही कितनी अधिक पवित्रता है, कितनी ऊँची दिव्यता है, कितनी गहरी करुणा है ! अन्यत्र सर्वत्र भय है, केवल माँकी गोद ही निर्भय है । अनन्य मातृ-भक्त रामप्रसादका कैसा सुन्दर प्रलाप है—'किसका भय है ? मैं तो सदा उस आनन्दमयी माँकी गोदमें खेलता रहता हूँ ।' माँकी उस वात्सल्यमयी गोदको कौन अभागा भुला सकेगा ? माँसे बिछुड़कर उस स्नेहमयी गोदकी किसे याद न आती होगी । देखो, श्रीकृष्ण अपनी मैया यशोदाकी गोदमें पुनः खेलने और 'कन्हैया' कहलानेको कैसे अधीर हो रहे हैं—

जा दिनतें हम तुमतें बिछुरे, काहु न कह्यौ कन्हैया ।
कबहूँ प्रात न कियो कलेवा, साँझ न पीन्ही धैया ॥
—सूर

× × × ×

माँ ! तू ही भारती है, तू ही कमला है और तू ही काली है । माँ ! तू ही शक्ति है, तू ही भुक्ति है और तू ही मुक्ति है । तू ही जयदा है और तू ही वरदा है । तू ही क्षीरदा है और तू ही अन्नदा है । तेरी भूखी-प्यासी सन्तान सदा तेरा ही स्मरण करेगी—

क्षुधातृषार्ता जननीं स्मरन्ति ।

किसीको तू नील निचोल धारण करके दर्शन देती है, तो किसीके ध्यान-पथपर श्वेत साड़ी पहनकर आ जाती है । पर, माँ ! हमें तो तू आज रक्ताम्बर धारण करके ही दर्शन दे । अग्नि-वीणा बजानेवालेके ज्वलन्त नेत्रोंमें तू लाल साड़ी पहनकर ही तो ताण्डव किया करती है । वही ताण्डवनृत्य दिखा दे, पगली माँ ! हम तेरी साधना करना क्या जानें । जननि ! साधक तो तेरा

लाड़ला पुत्र रामकृष्ण परमहंस था। हमलोग तो अभीतक तेरी आज्ञाका रहस्य ही नहीं समझ पाये। हम तो कुपुत्र हैं, माँ! कुपुत्र। क्षमा कर करुणामयि!

पृथिव्यां पुत्रास्ते जननि बहवः सन्ति सरलाः
परं तेषां मध्ये विरलतरलोऽहं तव सुतः।
मदीयोऽयं त्यागः समुचितमिदं नो तव शिवे
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ॥
—शङ्कराचार्य

माँ! तू मुझे छोड़ रही है? क्या यह त्याग तुझे शोभा देगा? मुझे तो विश्वास नहीं होता कि तू मेरा वस्तुतः परित्याग कर ही देगी। क्या हुआ जो मैं कुपुत्र हूँ। यह कोई अनोखी वा अनहोनी बात नहीं है। कुपुत्र तो हो सकता है और होता ही है, पर क्या कहीं कुमाता भी होती सुनी है? तू यों ही धमका रही है, मुझे छोड़ेगी नहीं। मैं मानता हूँ कि मैं तेरी किसी भी आज्ञाका पालन नहीं कर रहा हूँ। अवश्य ही मैं एक महान् अपराधी हूँ, पर अपराधी हूँ तो तेरा और अनाज्ञाकारी हूँ तो तेरा। हूँ मैं सर्वथा तेरा ही। तेरा स्वभाव तो, माँ! प्यार करनेका ही है न? सरले! तू तो प्यार-दुलार करना ही जानती है न? तो फिर यह सन्तति-त्याग तुझे शोभा देगा? अच्छा, थोड़ी देरको तू अब छोड़ ही देख। तू ऐसा कर न सकेगी। तेरे लिये, माँ, यह असम्भव है—

कियौ दुलार-प्यार निसि-बासर, जाहि प्रान ज्यों राख्यौ;
पलहूँ पलकओट नहिं कीनौं, सतत छेम अभिलाख्यौ।
पाल्यौ पुलकि जाहि, पालत है कोऊ ममता जैसे;
अरी बावरी जननि ताहि तू त्यागि सकैगी कैसे?

पर कुछ वश न चला। उस दिन उस पगली माँने इस

अधम कुपुत्रका परित्याग कर ही दिया। न जाने रुष्ट होकर वह गुरु-स्वरूपिणी माता कहाँ चली गयी। रुष्ट कैसे कहूँ। शिव! शिव! मेरी माँ मुझपर कभी रुष्ट हो सकती है? वह दयामयी, वह करुणामयी माँ!

हौं सठ हठि नित करी ढिठाई, कबहुँ न आज्ञा मानी;
दिये दुःख-ही-दुख कछु ऐसी हृदय दुष्टता ठानी।
माँ, मेरो यह दोष-नीर-निधि जदपि अपार अगाध;
तऊ कृपा करि दियौ अकथ सुख भूलि अमित अपराध॥

उन चरणोंकी छाप इस कलुषित मस्तकपर अब भी लगी है, यही आश्चर्य है! उस कर-कमलकी इस अनाथपर आज भी छाया पड़ रही है। अहोभाग्य मेरा, अहोभाग्य!

अधम अज्ञ अघरूप पतित यह अपनायौ करि प्यार।
नेह-नगरकी डगर धराई, जहँ न बिषम भव-धार॥

पर, दयामयि! तू निर्दय नहीं है ऐसा कैसे कहूँ! तू निर्दय है और बड़ी निर्दय है। तूने देख, कबसे मुझे दर्शन नहीं दिया है, माँ! हाँ, प्रत्यक्ष दर्शन तूने तबसे कब दिया? माँ! एक ही बार तेरा दर्शन चाहता हूँ; दयाकर दे दे—

बिन तेरो दरसन भये, यह जीवन भू-भार।
मैया, झलक दिखाय दै, टुक अपनी इकबार॥

पर मैं क्या मुँह लेकर तुझसे यह भीख माँगूँ। कहाँ मेरी कृतघ्नता और कहाँ तेरी दयालुता!

रटत न कबहूँ नाम ढीठ तव 'हरी' हठीलो;
घुमत रहत चित-चक्र, परत बंधन नहिं ढीलो।
राखि तदपि निज छाहँ, बाहँ, बलि, थामि लेति तूँ;
जब-कब सपने अजहुँ, अम्ब! अवलम्ब देति तूँ॥



प्रकृतिमें ईश्वर-प्रेम

पुण्य प्रभात, सरल सन्ध्या, सुचारु चन्द्रोदय, शीतल मन्द सुरभित समीर, पद्मपूर्ण सरोवर, निर्मल निर्झर, कामोद्दीपक वसन्त-वैभव आदि प्राकृतिक दृश्योंकी माधुरीमय मनोरमतापर अगणित साहित्यिक सूक्तियों और अनोखी सूझोंका हमारे सुकवियोंने एक अनुपम भारती-भाण्डार भर रक्खा है। निस्सन्देह उन कुशल काव्य-कलाकारोंने कमालका प्रकृति-चित्रण किया है। गजबकी हैं उनकी सूझें। बरबस मुँहसे 'वाह वाह' निकल पड़ती है। खासा मनोरञ्जन हो जाता है। कौन ऐसा अभागा होगा, जो उस नवरसमयी प्रकृति-वर्णनाका असीम आनन्द न लूटना चाहेगा? किसी सूक्तिमें शृङ्गारकी मधुर मादकता मिलेगी, तो किसीमें आपको शान्तरसकी स्वर्गीय सुधा प्राप्त हो जायगी। तात्पर्य यह है कि उन सुकवियोंका काव्य-कौशल देखते ही बनता है। पर खेद है कि हमारा प्रस्तुत विषय, एक प्रकारसे, उन मनोरञ्जिनी सूक्तियोंके प्रति उदासीन ही रहेगा। हमारी दृष्टिमें तो प्रकृति एक दर्पण है, जिसमें हम सुन्दरतम प्रेमका प्रतिबिम्ब देखा करते हैं। नेचर वह आईना है, जिसमें हमें अपनी रूहानी मस्तीकी प्यारी सूरत नजर आती है। इस दशामें प्रकृतिमें 'मैं' की और 'मैं' में प्रकृतिकी प्यारी झलक देखनेको मिला करती है, प्रेमका सागर लहराने लगता है——

नशेमें जवानीके माशूक़ नेचर
है लपटी हुई 'राम' से मस्त होकर।

जिधर देखता हूँ जहाँ देखता हूँ
मैं अपनी ही ताब औ शाँ देखता हूँ ॥

प्रकृति रानीने यह सारा सुहाग-सिंगार मेरे प्रेमको रिझानेके लिये ही सँवारा है। जहाँ देखता हूँ तहाँ मेरा प्रेम-ही-प्रेम है। प्रकृतिके रूपमें यह मेरा प्यारा प्रेम ही जहाँ-तहाँ दिखायी दे रहा है। प्यारी छबीली नेचर मेरे प्यारे प्रेमपर जान दे रही है। मस्त स्वामी राम झूम-झूमकर कैसा गा रहा है—

ये पर्वतकी छाती पै बादलका फिरना,
वो दमभरमें अब्रोंसे पर्वतका घिरना।
गरजना, चमकना, कड़कना, निखरना,
छमाछम छमाछम ये बूँदोंका गिरना ॥
उरूसे फ़लकका ये हँसना, ये रोना,
मेरे ही लिए ही फ़क़त जान खोना।

और यह अठिलाती हुई हरी-भरी नवजवान फुलवाड़ी। ये रंग-रंगके मतवाले फूल। यह सब मेरे प्रेमकी ही रंगत है, मेरे प्रेमकी ही बू है!

ये मेरी ही रंगत है, मेरी ही बू है!

मेरी प्रेमात्माका बारहमासी वसन्त इन लहलही फुलवाड़ियोंको छातीसे लगाये फूला नहीं समाता। मेरे प्रेमकी मस्ती प्रकृतिके साथ कैसी अठखेलियाँ कर रही है! कैसी निखरी हुई सुन्दरता है प्यारी प्रकृति रानीकी। इसका चाँद-सा मुखड़ा देखकर किसका दिल प्रेमसे भरकर न नाचने लगेगा। क्या रंग है, क्या मौज है, वाह!

स्वामी रामतीर्थ यह क्या देखकर यहाँ ऐसे आनन्दमग्न हो रहे हैं। कहते हैं—

'पानी इतना तो गहरा, लेकिन शफ़्फ़ाफ़ ऐसा कि प्यारी गंगी याद आती है। गोपियाँ अगर यहाँ नहातीं तो गोकुलचाँदको कभी ज़रूरत न पड़ती कि इनको बरहना तन (नग्न) देखनेके लिये पानीसे बाहर निकालनेकी तकलीफ़ देता। यह झलकते-झलकते ऊँचे आबशार चाँदीके कमन्द और रस्से मालूम देते हैं कि जिनको पकड़कर आलम उल्वी (स्वर्ग) को चढ़ जाये। या यह हीरेकी गातवाली कफ़्नियाँ (चादरें) हैं जो सरके बल रक्सकुना (नाचती हुई) ज़मीन ख़िदमत चूम रही हैं और निहायत सुरीली आवाज़से रामकी महिमाके गीत गाती जाती हैं।'

प्रेममयी प्रकृतिकी हृदय-हारिणी शोभाको देखकर प्रेमीका दीवाना दिल मस्त हो बाँसों ऊँचा उछलने लगता है। उस समय वह मानो सारी नेचरको अपनी छातीसे चिपटा लेता है। जो कुछ भी उस हालतमें कह डालता है, वह असली कविताके रंगमें रँगा होता है।

ज़रा, मतवाले रामका यह प्रिय तल्लीनतासे पूर्ण प्रकृति-गान तो सुनो—

बाँकी अदाएँ देखो, चंदा-सा मुखड़ा पेखो।
बादलमें बहते जलमें, वायूमें तेरी लटकें;
तारोंकी नाज़नीमें, मोरोंमें तेरी मटकें।
चलना ठुमक-ठुमककर, लालनका रूप धरकर;
घूँघट-अबर उलटकर, हँसना ये बिजली बनकर।
शबनम गुल और सूरज, चाकर हैं तेरे पदके;
यह आनबान सजधज, ऐ राम! तेरे सदके।

प्रकृति-रमणके इस सुन्दरतम रूपपर किसका मन न्योछावर होनेको अधीर न हो जायगा?

× × × ×

बलिहारी उस विश्व-विमोहनकी बाँकी छविपर। यह सब उस कृष्णको ही देखनेकी तो तैयारी है। दूधके सागरमें नहा-नहाकर ये सब उसे देखनेको खड़े हैं। प्यारी प्रकृतिने अपने अङ्ग अङ्गको दूधसे पखारा है। पृथ्वीसे आकाशतक दूध-ही-दूध देख पड़ता है। ये मोतियोंकी कनियाँ बिखरी पड़ी हैं या कपूरका चूर बिछा हुआ है? यह सब पारेकी प्रभा तो नहीं है? क्या रजत-राशि है? नहीं, भाई! चाँदनीकी चादर ओढ़कर यह तो निर्गुण ब्रह्मकी ज्योति इन कलित कुञ्जोंमें प्यारे वृन्दावन-चन्द्रका सगुण स्वरूप देखने आयी है। रसिक-वर नागरीदासजी कहते हैं——

पूरन-सरद-ससि उदित प्रकासमान,
कैसी छबि छाई देखौ बिमल जुन्हाई है।
अवनि-अकास गिरि-कानन औ जल-थल
व्यापकं भई सो जिय लागति सुहाई है॥
मुकता, कपूर-चूर, पारद, रजत आदि-
उपमा ये उज्जल पै 'नागर' न भाई है।
वृंदावन-चंद्र चारु सगुन बिलोकिबेकों
निरगुन ज्योति मानो कुंजनमें आई है॥

यह चाँदनी नहीं है, यह तो ज्ञानकी गंगा प्रेमके सागरसे मिलने-भेंटने आयी है। निर्गुण ब्रह्मकी ज्योति सगुण श्यामके चेहरेपर झिलमिला रही है। प्रकृतिकी प्रेम-धारामें उछल-उछलकर नहाना क्या उस प्यारे कृष्णको रिझाना नहीं है? अहा! उस मोहनकी मधुर मुसकान प्रकृतिके इस निखरे हुए रूपमें हमारे मनको कैसा मोह रही है!

खोल चन्द्रकी खिड़की जब तू स्वर्ग-सदनसे हँसता है,
पृथिवीपर नवीन जीवनका नया विकास विकसता है।

जीमें आता है, किरनोंमें घुलकर केवल पलभरमें,
बरस पड़ूँ मैं इस पृथिवीपर विस्तृत शोभा-सागरमें।

—रामनरेश त्रिपाठी

उस दूध-जैसी मुसकानकी प्यालीमें यदि हम अपने जीवनको मिश्रीकी डलीकी तरह घोलकर एकरस कर दें, तो हमारी सारी प्रकृति उसी क्षण सौन्दर्य-सागरमें कल्लोल करने लगे। यह अभिलाषा ही कितनी मधुर है! हमारी यह प्रकृति-अभिलाषा जितनी ही जल्दी प्रेम-धारामें डूब जाय, उतना ही अच्छा।

× × × ×

कैसी विशद व्यापकता है उस सुन्दरतमके सौन्दर्यकी! अखिल ब्रह्माण्डमें सौन्दर्य और माधुर्यको छोड़ और है ही क्या? उसने अपने सौन्दर्यके बाणोंसे प्यारी प्रकृतिका रोम-रोम वेध डाला है। कैसा अलौकिक आखेटक है वह प्यारा पुरुषोत्तम!

उन बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरौ संसारा॥
गगन नखत जो जाहिं न गने। वै सब बान ओहिके हने॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहिं सब साखी॥
रोवँ-रोवँ मानुस-तन ठाढ़े। सूतहि सूत बेधि अस गाढ़े॥
बरुनि बान अस ओ पहँ, बेधे रन बन-ढाँख।
सौजहिं तन सब रोवाँ, पंखिहिं तन सब पाँख॥

—जायसी

उस अनोखे शिकारीने अपने अचूक तीरोंसे सभीको बेध दिया है, किसीको अछूता नहीं छोड़ा। प्रकृतिका प्रत्येक अणु-परमाणु सौन्दर्य-बाणोंसे आहत होकर तड़प रहा है। सभी उसी तीर चलानेवालेकी खोजमें हैं। प्रकृति उस सुन्दरतमके पूर्ण सौन्दर्यको देखनेके लिये न

जाने कबसे विरहाकुल है। उस लौसे लिपट जानेको दुनियाभरके प्रेमी पतंगे प्रयत्न करते रहते हैं, पर उनकी अवशेष अहंभावना उन्हें वहाँतक पहुँचने नहीं देती और उनकी साध पूरी नहीं हो पाती। न सूरज ही उस अलबेले तीरंदाज़के पासतक पहुँच पाया और न चाँद ही। न पवनने ही अभीतक उस प्यारेका मधुमय स्पर्श कर पाया और न जलने ही अबतक उसके पैर पखार पाये हैं। वियोगिनी आग भी निराश होकर तभीसे आहें भर रही है—

चाँद सुरुज औ नखत तराई। तेहि डर अँतरिख फिरहिं सबाई॥
पवन जाइ तहँ पहुँचै चहा। मारा तैस लोटि भुइँ रहा॥
अगिनि उठी, जरि-बुझी निआना। धुआँ उठा, उठि बीच बिलाना॥
पानि उठा, उठि जाइ न छूआ। बहुरा रोइ आइ भुइँ चूआ॥

—जायसी

सौन्दर्य-शरोंसे बिंधी हुई प्रकृतिके आहत अंगोंकी परम प्रेम ही अबतक रक्षा किये हुए है। प्रेमकी धवलधाराने ही इन सारे घायलोंको प्रिय-मिलनकी आशा दे रक्खी है। प्रकृतिका महान् उपकार किया है इस प्रेम-धाराने। धन्य!

ओस तृण-लता-कुसुम-विटप-पल्लव-सिंचन-रत।
बहु तरु चन्दन करी सुरभि मलयाद्रि-अंकगत॥
विविध दिव्य मणिजनित ज्योति उज्ज्वल उपकारी।
बहु औषधी-प्रसूत शक्ति जीवन-संचारी॥
जगत-जीव-प्रतिपालिका, पय धारा उरजों भरी।
क्या हैं? नाना मूर्तिधर 'प्रेम-धार' ही अवतरी॥

—हरिऔध



दीनोंपर प्रेम

हम नामके ही आस्तिक हैं। हर बातमें ईश्वरका तिरस्कार करके ही हमने 'आस्तिक' की ऊँची उपाधि पायी है। ईश्वरका एक नाम 'दीनबन्धु' है। यदि हम वास्तवमें आस्तिक हैं, ईश्वर-भक्त हैं तो हमारा यह पहला धर्म है कि दीनोंको प्रेमसे गले लगावें, उनकी सहायता करें, उनकी सेवा करें, उनकी शुश्रूषा करें। तभी न दीन-बन्धु ईश्वर हमपर प्रसन्न होगा! पर ऐसा हम कब करते हैं? हम तो दीन-दुर्बलोंको ठुकरा-ठुकराकर ही आस्तिक या दीनबन्धु भगवान्‌के भक्त आज बने बैठे हैं। दीनबन्धुकी ओटमें हम दीनोंका खासा शिकार खेल रहे हैं। कैसे अद्वितीय आस्तिक हैं हम! न जाने क्या समझकर हम अपने कल्पित ईश्वरका नाम दीनबन्धु रक्खे हुए हैं, क्यों इस रद्दी नामसे उस लक्ष्मी-कान्तका स्मरण करते हैं—

> दीननि देखि घिनात जे, नहिं दीननि सों काम।
> कहा जानि ते लेत हैं, दीनबन्धु कौ नाम॥

यह हमने सुना अवश्य है कि त्रिलोकेश्वर श्रीकृष्णकी मित्रता और प्रीति सुदामा नामके एक दीन-दुर्बल ब्राह्मणसे थी। यह भी सुना है कि भगवान् यदुराजने महाराज दुर्योधनका अतुल आतिथ्य अस्वीकार कर बड़े प्रेमसे गरीब विदुरके यहाँ साग-भाजीका भोग लगाया था। पर यह बातें चित्तपर कुछ बैठती नहीं। रहा हो कभी ईश्वरका दीनबन्धु नाम, पुरानी सनातनी बात है, कौन काटे। पर हमारा भगवान्, दीनोंका भगवान् नहीं है। हरे हरे! वह उन घिनौनी कुटियोंमें रहने जायगा? वह रत्न-जटित स्वर्ण-सिंहासनपर विराजने-वाला ईश्वर उन भुक्खड़ कँगलोंके फटे-कटे कम्बलोंपर बैठने जायगा?

वह मालपुआ और मोहनभोग आरोगनेवाला भगवान् उन भिखारियों-की रूखी-सूखी रोटी खाने जायगा ? कभी नहीं हो सकता। हम अपने बनवाये हुए विशाल राज-मन्दिरोंमें उन दीन-दुर्बलोंको आने भी न देंगे। उन पतितों और अछूतोंकी छायातक हम अपने ख़रीदे हुए ख़ास ईश्वरपर न पड़ने देंगे। दीन-दुर्बल भी कहीं ईश्वरभक्त होते सुने हैं ? ठहरो, ठहरो, यह कौन गा रहा है ? ठहरो, ज़रा सुनो। वाह! तब यह ख़ूब रहा!

मैं ढूँढ़ता तुझे था जब कुंज और वनमें,
तू खोजता मुझे था तब दीनके वतनमें।
तू आह बन किसीकी मुझको पुकारता था,
मैं था तुझे बुलाता संगीतमें, भजनमें॥

तो क्या हमारे श्रीलक्ष्मीनारायणजी 'दरिद्र-नारायण' हैं ? इस फ़क़ीरको सदासे तो यही मालूम हो रहा है। तो क्या हम भ्रममें थे ? अच्छा, अमीरोंके शाही महलोंमें वह पैर भी नहीं रखता!

मेरे लिए खड़ा था दुखियोंके द्वारपर तू,
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमनमें।

हज़रत खड़े भी कहाँ होने गये!

बेबस गिरे हुओंके तू बीचमें खड़ा था,
मैं स्वर्ग देखता था, झुकता कहाँ चरनमें!

—रामनरेश त्रिपाठी

तो क्या उस दीन-बन्धुको अब यही मंज़ूर है कि हम अमीर लोग, धन-दौलतको लात मारकर उसकी खोजमें दीनहीनोंकी झोपड़ियोंकी ख़ाक छानते फिरें ?

× × × ×

दीन-दुर्बलोंको अपने असह्य अत्याचारोंकी चक्कीमें पीसनेवाला धनी परमात्माके चरणोंतक कैसे पहुँच सकता है। धनान्धको स्वर्ग-

का द्वार दीखेगा ही नहीं। महात्मा ईसाका यह वचन क्या असत्य है—

If thou wilt be perfect, go and sell that thou hast and give to the poor, and thou shalt have treasure in heaven; and come and follow me. Verily I say unto you, that a rich man shall hardly enter into the kingdom of heaven. And again I say unto you, it is easier for a camel to go through the eye of a needle than for a rich man to enter into the kingdom of God.

अर्थात्, यदि तू सिद्ध पुरुष होना चाहता है, तो जा, जो कुछ धन-दौलत तेरे पास हो, वह सब बेचकर कंगालोंको दे दे। तुझे अपना खजाना स्वर्गमें सुरक्षित रक्खा मिलेगा। तब, आ और मेरा अनुयायी हो जा। मैं तुमसे सच कहता हूँ कि धनवान्‌के स्वर्गके राज्यमें प्रवेश करनेकी अपेक्षा ऊँटका सुईके छेदमेंसे निकल जाना कहीं आसान है। सहजोबाई भी यही बात कह रही हैं—

बड़ा न जानै पाइहै साहिबके दरबार।
द्वारे ही सों लागिहै 'सहजो' मोटी मार॥

वह गरीबोंकी गाँठका धन गान्धी भी तो इसी दीन-प्रेमपर पागल हो रहा है। खादी उसे क्यों इतनी प्यारी है? इसलिये कि उसे वह देशके गरीबोंका प्रत्यक्ष दर्शन कराती है और उन गरीबोंके द्वारा वह दीनबन्धु रामका दर्शन कर रहा है। उसके खादी-प्रेमका यही तो गूढ़ रहस्य है। नास्तिक पूँजी-पतिके प्रेमहीन हृदयमें गरीबपरवर गान्धीकी खादीको कैसे जगह मिल सकती है? किसानों और मजदूरोंकी टूटी-फूटी झोंपड़ियोंमें ही प्यारा गोपाल वंशी बजाता मिलेगा। वहाँ जाओ और उसकी मोहिनी छवि निरखो। जेठ-बैसाखकी कड़ी धूपमें मजदूरके पसीनेकी टपकती हुई बूँदोंमें उस प्यारे

रामको देखो। दीन-दुर्बलोंकी निराशा-भरी आँखोंमें उस प्यारे कृष्ण-को देखो। किसी धूल-भरे हीरेकी कनीमें उस सिरजनहारको देखो। जाओ, पतित पद-दलित अछूतकी छायामें उस लीला-विहारीको देखो। उस प्यारे श्यामकी छवि देखनी ही है, तो, आओ, यहाँ आओ, तुम्हें आज हम वह दिखावें—

श्रमी किन्तु निर्धन मजूरकी अति छोटी अभिलाषामें ;
पतिकी बाट जोहती बैठी गरीबनीकी आशामें।
भूख-प्याससे दलित दीनकी मर्म-भेदिनी आहोंमें ;
दुखियोंके निराश आँसूमें, प्रेमी जनकी राहोंमें॥

तुम न जाने उसे कहाँ खोज रहे हो! अरे भाई, यहाँ वह कहाँ मिलेगा? इन मन्दिरोंमें वह राम न मिलेगा। इन मसजिदोंमें अल्लाहका दीदार मुश्किल है। इन गिरजोंमें कहाँ परमात्माका वास है। इन तीर्थोंमें वह मालिक रमनेका नहीं। गाने-बजानेसे भी वह रीझनेका नहीं। अरे, इस सब चटक-मटकमें वह कहाँ? वह तो दुखियोंकी आहमें मिलेगा। गरीबोंकी भूखमें मिलेगा। दीनोंके दुःख-में मिलेगा। सो वहाँ तुम खोजने जाते नहीं। यहाँ व्यर्थ खोजते-फिरते हो!

दीनबन्धुका निवास-स्थान दीन-हृदय है। दीन-हृदय ही मन्दिर है, दीन-हृदय ही मसजिद है, दीन-हृदय ही गिरजा है। दीन-दुर्बल-का दिल दुखाना भगवान्‌का मन्दिर ढहाना है। दीनको सताना सबसे भारी धर्मविद्रोह है। दीनकी आह समस्त धर्मकर्मोंको भस्मसात् कर देनेवाली है। संतवर मलूकदासने कहा है—

दुखिया जनि कोइ दूखिये, दुखिये अति दुख होय।
दुखिया रोइ पुकारिहै, सब गुड़ माटी होय॥

दीनोंको सताकर उनकी आहसे कौन मूर्ख अपने स्वर्गीय जीवनको नारकीय बनाना चाहेगा, कौन ईश्वर-विद्रोह करनेका दुस्साहस करेगा ? गरीबकी आह भला कभी निष्फल जा सकती है—

'तुलसी' हाय गरीबकी, कबहुँ न निष्फल जाय ।
मरे बैलके चामसों, लोह भसम ह्वै जाय ॥

औरकी बात हम नहीं जानते, पर जिसके हृदयमें थोड़ा-सा भी प्रेम है, वह दीन-दुर्बलोंको कभी सता ही नहीं सकता । प्रेमी निर्दय कैसे हो सकता है ? उसका उदार हृदय तो दयाका आगार होता है । दीनको वह अपनी प्रेममयी दयाका सबसे बड़ा और पवित्र पात्र समझता है । दीनके सकरुण नेत्रोंमें उसे अपने प्रेमदेवकी मनोमोहिनी मूर्तिका दर्शन अनायास प्राप्त हो जाता है । दीनकी मर्मभेदिनी आहमें उस पागलको अपने प्रियतमका मधुर आह्वान सुनायी देता है । इधर वह अपने दिलका दरवाजा दीन-हीनोंके लिये दिन-रात खोले खड़ा रहता है, और उधर परमात्माका हृदयद्वार उस दीन प्रेमीका स्वागत करनेको उत्सुक रहा करता है । प्रेमीका हृदय दीनोंका भवन है, दीनोंका हृदय दीनबन्धु भगवान्‌का मन्दिर है और भगवान्‌का हृदय प्रेमीका वास-स्थान है । प्रेमीके हृद्देशमें दरिद्र-नारायण ही एकमात्र प्रेम-पात्र है । दरिद्र-सेवा ही सच्ची ईश्वर-सेवा है । दीनदयालु ही आस्तिक है, ज्ञानी है, भक्त है और प्रेमी है । दीन-दुखियोंके दर्दका मर्मी ही महात्मा है । गरीबोंकी पीर जाननेहारा ही सच्चा पीर है । कबीरने कहा है—

'कबिरा' सोई पीर है, जो जानै पर-पीर ।
जो पर-पीर न जानई, सो काफिर बेपीर ॥

स्वदेश-प्रेम

अपनी पूज्य जन्म-भूमिके आगे, अपने प्यारे देशके सामने उस रंक इन्द्रका स्वर्ग किस गणनामें है ? इसमें सन्देह ही क्या कि—

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।

स्वदेश स्वर्गसे ऊँचा न होता, तो भगवान् रामके मुखसे ये दिव्य उद्गार निकलने ही क्यों—

जद्यपि सब बैकुंठ बखाना । बेद-पुरान-बिदित जग जाना ॥
अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ । यह प्रसंग जानइ कोउ-कोऊ ॥
अति प्रिय मोहि इहाँके बासी । मम धामदा पुरी सुख रासी ॥

—तुलसी

और द्वारकाधीश श्रीकृष्ण अधीर हो-होकर बार-बार क्यों अवरुद्ध कण्ठसे यह कहते—

ऊधो, मोहि ब्रज बिसरत नाहीं ।
हंस-सुताकी सुन्दरि कगरी, अरु कुंजनकी छाहीं ॥
वे सुरभी, वे बच्छ, दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं ।
ग्वाल-बाल सब करत कोलाहल, नाचत गहि-गहि बाहीं ॥
अनगन भाँति करी बहु लीला जसुदा-नंद निबाहीं ।
'सूरदास' प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि-कहि पछिताहीं ॥

अपने प्यारे देशकी सुध करके कौन ऐसा पाषाणहृदय प्राणी होगा, जो प्रेमसे विह्वल न हो जायगा । जिसकी रजमें लोट-लोटकर हम खेले हैं, जहाँकी गायोंका हमने मीठा-मीठा दूध पिया है, जहाँके हरे-भरे खेतोंका हमने अन्न खाया है, जहाँकी चुलबुली नदियोंमें हमने कूद-कूदकर कलोल किया है, जहाँकी हवासे हमने अपने

मधुरतम जीवनकी साँसें भरी हैं, जहाँके आकाशमें हमने अपने स्वर्ण-स्वप्नोंको तैराया है, वहाँकी प्यारी-प्यारी यादपर क्या हम दो बूँद आँसू भी न चढ़ायँ ? अपने देशको देखकर हम आनन्दसागरमें क्यों न डूब जायँ ?

जिसकी रजमें लोट-लोटकर बड़े हुए हैं;
घुटनोंके बल सरक-सरककर खड़े हुए हैं।
परमहंस-सम बाल्य-कालमें सब सुख पाये;
जिसके कारण धूल-भरे हीरे कहलाये।
हम खेले-कूदे हर्षयुत जिसकी प्यारी गोदमें;
हे मातृभूमि, तुझको निरख मग्न क्यों न हों मोदमें ?

—मैथिलीशरण गुप्त

जिसके दिलमें देशके लिये दर्द नहीं, वह मुर्दा है। वह दिल ज़िन्दादिल कैसे कहा जा सकता है ?

जिसको न निज गौरव तथा निज देशका अभिमान है।
वह नर नहीं, नर-पशु निरा है, और मृतक-समान है॥

जिसने हुब्बे वतन (स्वदेश-प्रेम) की मस्तीमें झूम-झूमकर यह नहीं गा लिया कि—

गुंचे हमारे दिलके इस बाग़में खिलेंगे,
इस ख़ाकसे उठे हैं, इस ख़ाकमें मिलेंगे।

उस मुर्दा-दिलको प्रेम-रसकी मिठास कहाँ नसीब हो सकती है ? अपने देशकी पवित्र ख़ाकपर जिसने अपने जीवनकी प्यारी-प्यारी घड़ियाँ नहीं चढ़ा दीं, वह, समझ लो, मरतेदमतक प्रेम-रसका प्यासा ही रहा। न वह विश्व-प्रेम ही पा सकेगा और न ईश्वर-प्रेम ही साध सकेगा। वह मस्त स्वामी राम, जो अपना दिल विश्व-प्रेमके

गाढ़े रंगमें रँग चुका था, देखो, भारत-भक्तिकी गङ्गामें डुबकियाँ लगाता हुआ क्या कह रहा है—

'मैं सदेह भारत हूँ। सारा भारतवर्ष मेरा शरीर है। कन्या-कुमारी मेरा पैर और हिमालय मेरा सर है। मेरे बालोंकी जटाओंसे गङ्गा बह रही है। मेरे सरसे ब्रह्मपुत्र और अटक निकली हैं। विन्ध्याचल मेरा लंगोट है। कारामण्डल मेरा दायाँ और मलावार मेरा बायाँ पैर है। मैं सम्पूर्ण भारत हूँ। पूर्व और पश्चिम मेरी दोनों भुजाएँ हैं, जिनको फैलाकर मैं अपने प्यारे देश-प्रेमियोंको गले लगाता हूँ। हिन्दुस्तान मेरे शरीरका ढाँचा है, और मेरी आत्मा सारे भारत-की आत्मा है। चलता हूँ तो अनुभव करता हूँ कि तमाम हिन्दुस्तान चल रहा है, और जब मैं बोलता हूँ, तो तमाम हिन्दुस्तान बोलता है।'

वह आत्माराम रामतीर्थ स्वदेश-प्रेममें उन्मत्त होकर एक स्थल-पर लिखता है—

'ऐ ग़ुलामी! अरे दासपन! अरी कमज़ोरी! अब समय आ गया, बाँधो बिस्तर, उठाओ लत्ता-पत्ता, छोड़ो मुक्त पुरुषोंके देशको। सोनेवालो! बादल भी तुम्हारे शोकमें रो रहे हैं; बह जाओ गङ्गामें, डूब मरो समुद्रमें, गल जाओ हिमालयमें। रामका यह शरीर नहीं गिरेगा, जबतक भारत बहाल न हो लेगा। यह शरीर नाश भी हो जायगा, तो भी इसकी हड्डियाँ दधीचिकी हड्डियोंके समान इन्द्रका वज्र बनकर द्वैतके राक्षसको चकनाचूर कर ही देंगी। यह शरीर मर भी जायगा, तो भी इसका ब्रह्म-बाण नहीं चूक सकता।'

ज़रा आँख फाड़कर देख लें आगकी इन चिनगारियोंको, ज़रा कानका पर्दा हटाकर सुन लें वज्रकी इन कड़कोंको, विश्व-प्रेमका स्वाँग रचनेवाले वे विलासी निठल्ले और ज्ञानभक्तिकी ध्वजा उड़ानेवाले वे

काम-काञ्चनके दास। उस अवधूतका यह मस्ती-भरा गीत भी वे सुन लें—

देखा है, प्यारे, मैंने दुनियाका कारख़ाना;
सैरो-सफ़र किया है, छाना है सब ज़माना।
अपने वतनसे बेहतर कोई नहीं ठिकाना;
ख़ारे वतनको गुलसे ख़ुशतर है सबने माना।

देश-भक्तिकी क्या ही रँगीली गङ्गा बह रही है!

सारे जहाँसे अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा।
हम बुलबुलें हैं उसकी, वह बोस्ताँ हमारा॥

× × × ×

क्या सचमुच ही '*सारे जहाँसे अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा*' है? शक ही क्या। अच्छा, आप ही कहें—

कहाँ है कोई ऐसा स्थान, जगतमें जैसा हिन्दुस्तान?
हमारा प्यारा हिन्दुस्तान, जगतसे न्यारा हिन्दुस्तान।
कि जिसको प्रेमी श्रीभगवान, करे नित नूतन प्रेम-प्रदान।
अतः कर बड़ा प्रेम-अभिमान, प्रेमकी रखता हो जो शान।
पड़ी हो जिसे प्रेमकी बान।
कहाँ है कोई ऐसा स्थान, जगतमें जैसा हिन्दुस्तान?
हमारा प्यारा हिन्दुस्तान, जगतसे न्यारा हिन्दुस्तान।

भले ही समझदार लोग इसे हमारा भावावेश कहें—उनके कहनेकी हमें कोई पर्वा नहीं। प्रेममें भावुकता न हो, यह कैसे हो सकता है? भावुकता कर्म-साधनामें कैसे बाधा पहुँचायगी, यह हमारी समझमें नहीं आता। आज संसारका सर्वश्रेष्ठ पुरुष गान्धी क्या भावुक नहीं है? उसकी भावुकतामें ही तो उसका महात्मापन है। वह डेढ़ पसलीका गान्धी आज अपनी भावुकतासे ही तो हमारे

हृदयमें घोर प्रलय मचा रहा है। कुछ कहो, भाई, हम तो यही गायँगे और फिर गायँगे। ईश-प्रेम वा विश्व प्रेमका संगीत हमारा इसी भावनामें विद्यमान है—

सारे जहाँसे अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा।
हम बुलबुलें हैं उसकी, वह बोस्ताँ हमारा॥

पागल होकर ज़रा अलापो तो, भाई, इस दिव्य भारतगीतको। दिलमें कैसी एक लहर उठती है, हृदयसे कैसा कुछ रस छलकने लगता है। ज़रा अपने दीवाने दिलको नचाओ तो देश-प्रेमकी विलोल लहरोंपर। तनिक अपनी आँखोंको रुला तो देखो देशकी दीन-हीन आत्माके साथ। देश-प्रेममें मस्त होकर एक बार कह तो दो, मेरे प्यारे!

हुब्बे वतन समाये आँखोंमें नूर होकर,
सरमें ख़ुमार होकर, दिलमें सुरूर होकर।

उँजेला भर दे, ऐ प्यारे देश-प्रेम, इन अँधेरी आँखोंमें; उड़ेल दे वह मर-मिटनेकी मस्तीकी प्याली इन बातूनी दिमाग़ोंमें; डाल दे वह आनन्दकी जान इन मुरदार दिलोंमें। तू समा जा, हमारे दिलोंमें समा जा, हमारे दिमाग़ोंमें समा जा, हमारी नस-नसमें समा जा, रोम-रोममें समा जा। ऐ हमारे देश! ऐ हमारे देशके प्रेम! तुझे छोड़ और किसे प्यार करें? कोई किसीको प्यार करता है, कोई किसीको प्यार करता है। पर हम कुचले हुए ग़रीबोंका धन तो एक तू ही है, हमारी धुँधली आँखोंका तारा तो तू ही है, हमारे प्राणोंका प्यारा तो तू ही है। 'चकबस्त' साहबने सच कहा है—

बुलबुलको गुल मुबारक, गुलको चमन मुबारक;
हम बेकसोंको अपना प्यारा वतन मुबारक।

हमारा देश, हमारा प्राण-प्यारा देश ही हमारा जीवनसर्वस्व है, हमारा आराध्य विश्व है, हमारा उपास्य ईश है। हमारे यहाँकी ग़रीब मज़दूरिन भी प्यारे भारतपर बलि-बलि जाती है। पुतलीघरकी वह मतवाली मज़दूरिन कैसा मीठा मद-भरा गीत गा रही है!

मैं तो भारत पै बलि-बलि जाऊँ।
गुइयाँ, मैं तो भारत पै बलि-बलि जाऊँ।
भारत है मेरा प्राणोंका प्यारा,
दिलका दुलारा, जीवन-अधारा।
उसपै तनमनको वारूँ, उसपै त्रिभुवनको हारूँ;
उसको पलकों पै धारूँ, उसको दिलपै बैठारूँ;
मैं तो भारत पै बलि-बलि जाऊँ,
गुइयाँ, मैं तो भारत पै बलि-बलि जाऊँ।
भारत है मेरा प्यारा ललनवा,
करता कलोलें मेरे दिलके पलनवा;
उसको गोदिया उठाऊँ, उसके क़जरा लगाऊँ,
उसको मल-मल न्हिलाऊँ, उसको अँचरा पिलाऊँ,
मैं तो भारत पै बलि-बलि जाऊँ,
गुइयाँ, मैं तो भारत पै बलि-बलि जाऊँ।

—श्रीधर पाठक

तभी तो यह विवेकी और तेजस्वी भारत उस मतवाली मज़दूरिन-को एक दिन अपने साम्राज्यकी रानी बनाने जा रहा है। जो उसपर बलि-बलि जा रही है, वही रानी होगी—इसमें सन्देह ही क्या? जो सेवा करेगा, वही मेवा खायगा। मज़दूर अपने देशपर मरना जानता है। किसान अपने प्यारे खेतमें खादकी तरह खप जाना जानता है। इसी-लिये भारत आज उन्हें अपने अङ्कमें भर रहा है, उन्हें अपना रहा

है और खुद उनका बन रहा है। वह तो प्रेमका भूखा है। देश उसीका है, जो उसपर प्रेमपूर्वक बलि हो जाता है। पूँजी-पतियोंके प्रेम-हीन हृदयोंमें वह कैसे रह सकता है? मुक्त पुरुषोंके देशको ये क्षुद्र लक्ष्मीके दास कबतक क़ैद किये रहेंगे? निश्चय है कि वह इन मदान्ध सत्ताधारियोंके हाथसे मुक्त होगा और अवश्य होगा। पर उसे करेंगे स्वतन्त्र वे ही डरावने अस्थि-कंकाल, जिनकी नस-नसका खून बड़ी निर्दयतासे चूस लिया गया है, पर जिनके दिलोंमें देशप्रेमका तूफ़ानी समुद्र अब भी क्रान्ति-क्रीड़ा कर रहा है, जिनकी यही एक-मात्र अभिलाषा है, वे ही स्वतन्त्र भारतका मुख-चन्द्र देखेंगे——

ग़र्दो ग़ुबार याँका ख़िलअत है अपने तनको;
मरकर भी चाहते हैं ख़ाके वतन कफ़नको।

——चकबस्त

'यह प्रेम कौ पंथ करार महा तरवारकी धार पै धावनो है'—
इस भीषण सत्यका प्रत्यक्ष अनुभव एक देश-प्रेमीको ही होता है। खाँड़ेकी धारपर दौड़ना है देशसे प्रीति जोड़ना और अन्ततक उसे एकरस निभा ले जाना। एक पंजाबी गीतमें कोई पागल प्रेमी गा गया है—

सेवा देशदी जिंददिए बड़ी औखी,
गल्ला करनियाँ ढेर सुखल्लियाने।
जिन्हाँ इस सेवा बिच पैर पाया,
उन्हें लक्ख मुसीबताँ झल्लियाने।

अरे, बड़ी कठिन है देशकी सेवा। बातें बनाना तो बड़ा आसान है, पर मर्दानगीसे कुछ कर दिखाना ज़हरका घूँट पीना है। जिन अल्हड़ सुपूतोंने इस प्रेम-पथपर पैर रखा, उन्हें लाखों मुसीबतें

झेलनी पड़ीं। कथनी और करनीमें पृथ्वी और आकाशका अन्तर है। कबीर साहब कहते हैं—

कथनी मीठी खाँड़-सी, करनी बिषकी लोय।
कथनी तजि करनी करै, बिषसे अमृत होय॥

वही कुछ कर गुजरता है, जिसे बातें बनाना नहीं आता, सर देना आता है। जो अपनी खुदीको किसी लगनकी आगमें जला जानता है, वही यह देशकी होली खेल जानता है। मौतको छातीसे लगाना हममेंसे आज कितने जानते हैं? अपने पवित्र रक्तसे भक्ति-पूर्वक प्यारी माताके पाद-पद्म पखारना हमने अभी सीखा ही कहाँ है? रक्त-दान माताको अभी दिया ही कितनोंने है? माँके एक पगले लड़केने उसके पैरोंपर अपनी रक्ताञ्जलि चढ़ाते समय, उस दिन कहा था—

'मुझ-जैसे गरीब और मूर्ख पुत्रके पास तेरी भेंटके लिये माँ! अपने रक्तके अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? सो अब इसे ही तू स्वीकार कर।'

धन्य तुझे, कोई कुछ कहे, तू तो अमर हो गया—

फटे हुए माताके अंचलको बढ़कर सीनेवाले।
तुझे बधाई है, ओ पागल! मरकर भी जीनेवाले!

ऐसे उन सभी लालोंको बधाई है, जिन्होंने फाँसीकी रँगीली रस्सी चूमकर प्यारी मौतको छातीसे लगाया है। वे सारे कोहनूर अनन्त कालतक माताके ताजमें जड़े रहेंगे। वे मुक्ति न चाहेंगे। उनकी कामना तो यह है कि वे बार-बार भारत माताकी ही गोदमें जन्म लें और उसीकी सेवा करते हुए प्राण-पुष्पाञ्जलि चढ़ाया करें।

उनके मरघटोंसे प्रेमकी लपट सदा उठा करे, उनकी क़ब्रोंकी मिट्टीसे हुब्बे वतनकी ख़ुशबू आया करे—

दिलसे निकलेगी न मरकर भी वतनकी उल्फ़त;
मेरी मिट्टीसे भी ख़ुशबूए वफ़ा आयेगी।

जहाँकी भी मिट्टीसे यह देश-प्रेमकी ख़ुशबू आ रही हो, वह जगह किस काशी या क़ाबेसे कम है? सच्चा तीर्थ-स्थान वही है, जहाँ किसी देश-प्रेमीने अपनी मातृ-भूमिपर प्राणोंके पवित्र पुष्प चढ़ाये हों। अमर शहीदोंके इन तरण-तारण तीर्थोंकी महिमा कौन गा सकता है? धन्य है वह पथ, जिसपर हो वे देशके मतवाले लाल मातृ-भूमिपर शीश चढ़ाने जाते हैं। एक पुष्पकी अभिलाषा देखिये—

चाह नहीं, मैं सुर-बालाके गहनोंमें गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं, प्रेमी-मालामें बिध प्यारीको ललचाऊँ।
चाह नहीं, सम्राटोंके शवपर, हे हरि डाला जाऊँ,
चाह नहीं, देवोंके शिरपर चढ़ूँ भाग्यपर इठलाऊँ।
मुझे तोड़ लेना वनमाली! उस पथमें देना तुम फेंक,
मातृभूमिपर शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक॥

—भारतीय आत्मा

हमें चाहिये कि और नहीं तो कभी-कभी दो बूँद आँसू तो उन श्मशानोंपर, उन क़ब्रोंपर चढ़ा दिया करें। उन क़ब्रोंपर हमारा वह रोना ऐसा हो, जो औरोंको भी रुला दे। हम बेकस और कर ही क्या सकते हैं—

हर दर्दमंद दिलको रोना मेरा रुला दे,
बेहोश जो पड़े हैं, शायद उन्हें जगा दे।

—एक़बाल



प्रेम-महिमा

किसकी वाणीमें सामर्थ्य है, जो हे जगदाराध्य प्रेमदेव ! तेरी अवर्णनीया महिमाका यथार्थ गायन गा सके ? धन्य है तेरी अनिर्व्रचनीय गाथा ! धन्य हैं तेरे अतर्क्य और अचिन्त्य रहस्य ! धन्य है तेरी अतुलनीय शक्ति ! कौन कह सकता है तेरी अकथनीय कथाको ?

जो आवै तौ जाय नहिं, जाय तौ आवै नाहिं ।
अकथ कहानी प्रेमकी, समुझि लेहु मनमाहिं ॥

श्रीकृष्ण-सखा उद्धव सुरेन्द्र-गुरु बृहस्पतिके शिष्य थे। महान् तत्त्वज्ञानी थे । उन्हें अपने प्रकाण्ड दार्शनिक ज्ञानका अखण्ड अभिमान था । गर्व-गञ्जन गोपालकृष्णने अपने तत्त्ववेत्ता मित्रसे प्रसंगवश एक दिन कहा कि भाई ! मेरे वियोगमें अत्यन्त व्याकुल व्रज-वासियोंको ज्ञानोपदेश देकर क्या तुम उनकी विरहव्यथा दूर न कर सकोगे ? मेरा तो विश्वास है कि तुम अवश्य ही उन गँवार गोप-गोपियोंके डावाँडोल चित्तको मेरी ओरसे हटाकर परमार्थमें लगा दोगे । सो——

उद्धव ! यह मन निश्चय जानो ।
मन क्रम बचन मैं तुम्हैं पठावत, व्रजकों तुरत पलानो ॥
पूरनब्रह्म, सकल, अविनासी, ताके तुम हौ ज्ञाता ।
रेख न रूप, जाति कुल नाहीं, नहिं जाके पितु-माता ॥
यह मत दै गोपिनुकों आवहु, बिरह-नदीमें भासति ।
'सूर' तुरत यह जाय कहौ तुम, 'ब्रह्म बिना नहिं आसति ॥

अब, विलम्ब करनेका समय नहीं है । विरह-नदीमें मेरे प्यारे व्रज-वासी डूबते जा रहे होंगे । सो, भैया, दया करके उन सांसारिक

मूढ़जनोंको अपने ज्ञानोपदेशका अवलम्बन देकर शीघ्र ही बचा लो। जाकर उनसे कहो कि बिना ब्रह्मात्मैक्यके मुक्ति प्राप्त न हो सकेगी। द्वारकाधीशके द्वारा प्रोत्साहित होकर अपने अगाध तत्त्व-ज्ञानमें निमग्न महात्मा उद्धव व्रजवासियोंको पट्ट शिष्य बनाने चले। व्रज-देशमें आपका स्वागत तो अच्छा हुआ, पर आपके महँगे तत्त्व-ज्ञानको किसीने साग-पातके भी मोल न खरीदा! बड़ी फजीहत हुई। आये थे औरोंको मूँड़ने, पर खुद ही मुड़ चले! अबलाओं-के निर्बल प्रेमने आपके प्रबल प्रचण्ड ज्ञानको पछाड़ दिया। गोपियाँ ज्ञानिराज उद्धवसे कहती हैं—

जो कोउ पावै सीस दै, ताकौ कीजै नेम।
मधुप, हमारी सौं, कहौ, जोग भलौ किधौं प्रेम?
प्रेम प्रेम सों होय, प्रेम सों पारहिं जैये।
प्रेम बँध्यो संसार, प्रेम परमारथ पैये॥
एकै निहचै नेम कौ, जीवन मुक्ति रसाल।
साँचो निहचै प्रेम कौ, जो मिलिहैं नँदलाल॥

यह सिद्धान्त सुनकर दर्शन-केसरी उद्धवका जो हाल हुआ, उसे आँधरे सूरके ही मार्मिक शब्दोंमें सुनिये—

सुनि गोपिनु कौ प्रेम, नेम ऊधो कौ भूल्यौ।
गावत गुन गोपाल फिरत कुंजनमें फूल्यौ॥
छन गोपिनुके पग धरै, धन्य तिहारो नेम।
धाय-धाय द्रुम भेंटहीं, ऊधो छाके प्रेम॥
उपदेसन आयौं हुतो, मोहिं भयौ उपदेस।
ऊधो जदुपति पै गये, किये गोपकौ भेस॥

ज्ञानि-श्रेष्ठ उद्धव प्रेम-विश्व-विद्यालयसे प्रेमीकी डिगरी हासिल करके श्रीकृष्णके सम्मुख, देखिये, अब किस रूपमें उपस्थित हो रहे हैं—

गोकुल कौ सुख छाँड़िकैं, कहाँ बसे हौ आय ?
कृपावन्त हरि जानिकैं, ऊधो पकरे पाय ॥
देखत ब्रज कौ प्रेम, नेम कछु नाहिंन आवै ।
उमड़्यौ नैननि नीर, बात कछु कहत न आवै ॥

धन्य, उद्धव, धन्य !

'सूरस्याम' भूतल गिरे, रहे नयन-जल छाय ।

अब, तनिक, नन्दनन्दनका ताना, सुनिये, कैसा दे रहे हैं—

पोंछि पीतपट सों कह्यौ, आये जोग सिखाय ?

कहो, भैया, उन गँवार व्रज-वासियोंको योग-विद्यामें पारंगत करके आये हो न ? देवगुरु ! चेले-चेलियोंने दक्षिणा क्या दी है ? कितनी ऊँची और गहरी है प्रेम-तत्त्वकी महिमा !

× × × ×

यह रस-विहीना रसना प्रेम-रसकी महिमा गाकर ही सरसा हो सकेगी । प्रेम-रसका एक विन्दु धारण करके ही रत्न-गर्भा वसुमती 'रसा' नामसे अलङ्कृता हो सकी है । फिर क्यों न प्रेम-महिमाको हम अनिर्वचनीय कहें ? हमारे सहृदयवर सत्यनारायणकी यह सूक्ति कितनी सच्ची और सरस है—

अगम अनिर्वचनीय, परे जासों कछु बस ना;
बरनत रस रमनीय रहत रसनामें रस ना ।
अचला अबसि रतन-गर्भा बसुमती सुहावति;
किन्तु प्रेम-रस-रती धारि यह रसा कहावति ॥

यदि यह अचला पृथ्वी प्रेम-रससे यदा-कदा सिंचती न रहती, तो अबतक इसमें सरसताका कहीं पता भी न चलता । कभीकी जल-बलकर राख हो गयी होती । किन्तु कुछ लोगोंकी धारणा इसके बिल्कुल विपरीत है । वे प्रेमको सरस शीतल न कहकर अग्निकी भाँति दाहक बता रहे हैं । क्या उनका कथन असत्य है ? नहीं,

सच है। प्रेम-ज्वालामें जो जल चुका है, उसे ज्वालामुखीकी भी अग्नि चन्दनके समान ठण्डी जान पड़ती है। धन्य है प्रेमाग्निमें जला हुआ प्यारा प्राणी !

जेहि जिउ प्रेम, चँदन तेहि आगी। प्रेम-बिहून फिरै डर भागी ॥
प्रेम कै आगि जरै जो कोई। दुख तेहि कर न अबिरथा होई ॥

—जायसी

श्रीरामके प्रेममें दग्धा जनक-तनया सीताको जला देनेकी किस अग्निमें शक्ति थी ? लक्ष्मणकी रची हुई वह चिता माता मैथिलीके प्रेम-स्पर्शसे क्या चन्दनके समान शीतल न हो गयी थी ? सच है, जो प्रेमकी परीक्षामें उत्तीर्ण हो चुका, उसकी दृष्टिमें अग्नि-परीक्षाका कुछ भी महत्त्व नहीं रह जाता। भाई, प्रेमाग्निका दाह दुःखदायी नहीं, किन्तु सुखदायी होता है, अहा ! उस आगकी जलन भी कितनी ठण्डी होती है !

× × × ×

उसे पानेके और भी तो अनेक उपाय हैं, पर सबसे सच्चा, सबसे ऊँचा और सबसे सरल साधन तो एक प्रेम ही इस जगत्में है। प्रेम साधन भी है और साध्य भी है, क्योंकि ईश्वर भी तो प्रेमरूप ही है। इसीसे तो उसकी महिमा असीम और अनन्त है। कैसे कहूँ, उसे ! यद्यपि वह अनिर्वचनीय है, तथापि कुछ-न-कुछ तो उसपर कहा ही है—

तदपि कहे बिनु रहा न कोई।

इस न्यायसे इस अधम अनधिकारी लेखकने भी, अपनी उस 'अनुराग-वाटिका' में, प्रेम-साधनके महत्त्वपर कुछ यों ही लिख डाला है, आपका बहुमूल्य समय नष्ट तो अवश्य होगा, पर आपके अभिमुख उस पदको उपस्थित करनेके अर्थ मन अधीर-सा हो रहा

है। विश्वास है, आप मेरे इस दुस्साहसपर मुझे अवश्य क्षमा प्रदान कर देंगे——

साधन आन प्रेम-सम नाहीं।
साँचेहुँ याकी सरि न मिली कहुँ भुवन चतुर्दस माहीं॥
याकों परसि द्रवत उर अन्तर, बहति ब्रह्म-रस-धारा।
होत पुनीत पुन्य जीवन यह, मिलत अनन्द अपारा॥
ज्ञान, जोग, तप, कर्म, उपासन, साधन सुकृत घनेरे।
भये जाय सब नेह-नगरमें बिन दामनके चेरे॥
अन्य सबै साधन, मेरे मत, मारग कुटिल कँटीले।
राज-डगर 'हरि' प्रेम, चलत जहँ स्याम-सुरूप-रँगीले॥

प्यारेकी उस नगरीतक पहुँचा देनेवाला प्रेम ही एक राज-मार्ग है। इस संसार-सागरसे तार देनेवाला प्रेम ही एक कुशल कर्णधार है। भैया, प्रेम ही यहाँ नैया है और प्रेम ही उसका खेवैया है। मित्रवर 'रज' ने अपनी 'प्रेम-सतसई' में लिखा है——

बिना प्रेम भव-सिन्धु 'रज' को करिहै निरवार।
प्रेम-नाव पर जो चढ़ै, प्रेम लगावै पार॥
प्रेम प्रेमकी नाव 'रज' प्रेमहि खेवनहार।
प्रेम-चढ़े भव-सिंधु तें, प्रेम लगावै पार॥

अतएव प्रेम ही समस्त साधनोंका शिरोमणि है। बिना इस साधनके अन्य सर्व साधन निष्फल हैं। कोई कैसा ही चतुर हो, कैसा ही ज्ञानी हो, कैसा ही रसिक हो, किन्तु यदि वह प्रेमी नहीं है, तो उसका चातुर्य्य, उसका ज्ञान और उसकी रसिकता व्यर्थ है। कहा है——

परम चतुर पुनि रसिकवर, कैसोहू नर होय।
बिना प्रेम रूखी लगै, बादि चतुरई सोय॥

—रसखानि